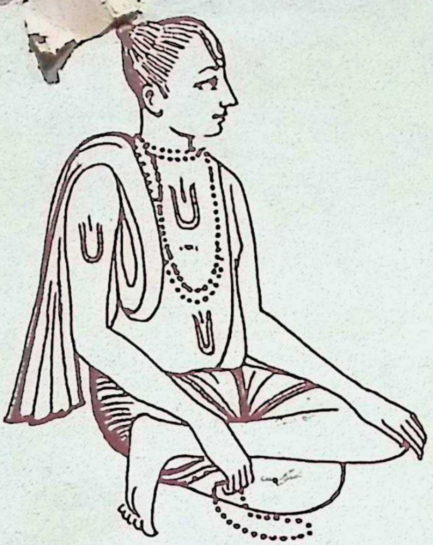


डॉ. रामचन्द्र मिश्र

हिन्दी पद-परम्परा और तुलसीदास

हिन्दी पद-परम्परा और तुलसीदास

हिन्दी पद-परम्परा और तुलसीदास

[शोधपूर्ण प्रबन्ध]

लेखक
डॉ० रामचन्द्र मिश्र एम. ए., पी-एच. डी.
प्राध्यापक हिन्दी-विभाग,
धर्मसमाज कॉलेज, अलीगढ़

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली-६ :: पटना-४

प्रथम संस्करण
जुलाई, १९६२

प्रकाशक :
हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली—६

मूल्य
साढ़े बारह रुपये
(१२.५०)

ब्रांच—
खजांची रोड,
पटना—४

शुक्ला प्रिंटिंग एजेन्सी द्वारा सचदेवा प्रेस, दिल्ली से मुद्रित ।

समर्पण

पूजनीया
स्वर्गीया जननी और पितामही
की
पुण्य स्मृति
में

पूर्व-पीठिका

गोस्वामी तुलसीदास पर अब तक पर्याप्त कार्य हुआ है, फिर भी यह सच है कि समीक्षकों की दृष्टि प्रायः उनके 'मानस' पर ही केन्द्रित रही है, जिससे उनकी अवशिष्ट कृतियाँ किसी प्रसङ्ग में ही विचार और विवेचन का विषय बन सकी हैं और व्यापक अध्ययन से वंचित रह गई हैं। इस विचारधारा को जब मैंने गुरुवर आचार्य पं० नन्ददुलारे जी वाजपेयी के समक्ष व्यक्त किया और 'विनयपत्रिका' पर कार्य करने की इच्छा प्रकट की तब उन्होंने समग्रता की दृष्टि से 'हिन्दी पद-परम्परा' के सन्दर्भ में 'विनयपत्रिका' के साथ 'गीतावली' और 'श्री कृष्णगीतावली' का अध्ययन प्रस्तुत करने का संकेत किया, साथ ही मेरी प्रार्थना पर तद्विषयक एक रूपरेखा देकर मेरे कार्य की दिशाएँ और सीमाएँ निर्धारित कर दीं। प्रस्तुत रचना उसी रूपरेखा पर मेरे किए अध्ययन का परिणाम है।

काव्य की विविध शैलियों के अन्तर्गत पद-शैली विशेष प्रतिष्ठित है। अन्य शैलियों के समान इसमें भी काव्य के भाव और शिल्प-तत्त्व रहते हैं; किन्तु संगीतात्मकता, आत्माभिव्यंजन आदि के कारण यह अन्यों से तुलना में अधिक कोमल, मधुर और ग्राह्य सिद्ध हुई है, जिसके फलस्वरूप हिन्दी काव्यान्तर्गत इसका अबाध स्रोत प्रवहमान है।

पद में काव्य और संगीत दोनों के तत्त्व समाहित हैं। इसमें संगीत ने काव्य को और काव्य ने संगीत को आभारी किया है, जिससे वह दोनों क्षेत्रों में प्रिय हो उठा है। इसको स्पष्ट करने से यह कहा जा सकता है कि भाव, छन्द आदि से युक्त पद को संगीत की राग-रागिनी ने विशेष मधुरता और गीति का सस्वरता प्रदान की है और संगीत की गृहीत राग-रागिनी जो केवल-मात्र स्वरों के आरोहावरोह में ही अपने अस्तित्व को सन्निहित किए है काव्य के भाव-तत्त्व से पुष्ट होकर लोकप्रिय और धन्य हो उठी है। उदाहरण के लिए पक्के (शास्त्रीय) गाने का 'आलाप गायन' कितने समझ पाते हैं? संगीत कला से अनभिज्ञों के पल्ले तो तभी कुछ पड़ता है जब गायक शून्य स्वरों की भूमि छोड़कर गेय पंक्तियों को ध्वनित करता है, अन्यथा वे निराश ही रहते हैं। इसी से संगीत को सत्काव्य की आवश्यकता है और वहीं उसकी लोकप्रियता का एक विशेष साधन है।

उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त पद के गेय तत्त्व वेद और संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि के साहित्य में उपलब्ध हैं। उसका स्पष्ट स्वरूप संस्कृत में जयदेव के

'गीतगोविन्द' और सिद्ध-साहित्य के 'चर्यापदों' में है। चर्यापदों की परम्परा ही नाथ सम्प्रदाय के योगियों के काव्य में, अनन्तर वही हिन्दी के मध्यकाल के निर्गुण (सन्त) काव्य में गृहीत हुई है। उसके समान ही सगुण भक्ति-धारा में राम और कृष्ण-भक्ति का पद-साहित्य भी प्रस्फुटित हुआ है। जिसकी अविच्छिन्न परम्परा तमिल के आलवार भक्तों के प्रबन्धम्, बंगाल के बाउल सन्तों के पद, जयदेव के गीतगोविन्द, मैथिल कोकिल विद्यापति की पदावली आदि में उपलब्ध हैं। इस स्थल पर ये प्रश्न उठते हैं कि निर्गुण और सगुण गेय काव्य में कौन अधिक प्राचीन है और कौन किसका अभिप्रेरक है? इस सम्बन्ध में मेरा इतना ही निवेदन है कि दोनों के मूल स्रोत वेद-साहित्य में हैं। उनकी अजस्र धाराएँ वहीं से प्रवाहित हुईं, भारतीय विचारकों ने उन्हें पुष्ट किया, मुसलमान शासन में देश की विशिष्ट परिस्थितियों ने उनको पुष्ट और वेगवती बनाया, वही अपने अविच्छिन्न रूप में भारतेन्दु-युग तक उपलब्ध है, अनन्तर 'द्विवेदी युग' में पद-साहित्य का स्थान आधुनिक गीतों ने ले लिया, जिससे पद की परम्परा अवरुद्ध हो उठी।

हिन्दी पद-परम्परा के पोषक त्यागी और विरागी रहे हैं, जिन्होंने पद के माध्यम से संसार को ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग, सदाचार आदि के सन्देश देकर भारतीय (अक्षुण्ण) अध्यात्म, संस्कृति, सद्भावना आदि को अक्षुण्ण रखा है। यों अन्य शैलियों के काव्य भी उनसे शून्य नहीं हैं; किन्तु पद-साहित्य से तत्सम्बन्धी जो कर्त्तव्य सम्पादित हो सके हैं वे अन्यों से नहीं, यह ध्रुव सत्य है।

उपर्युक्त तथ्यों से पद, हिन्दी में उसकी परम्परा, उपयोगिता आदि स्वतः स्पष्ट हैं। जिससे विवेच्य विषय के पूर्वार्द्ध की महत्ता सरलता से समझी जा सकती है, गोस्वामी तुलसीदास के पद-साहित्य का विवेचन मेरा उद्देश्य था, इससे उसके सन्दर्भ में 'हिन्दी पद-परम्परा' का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो गया। मैंने इस सम्बन्ध में तुलसीदास के पद-साहित्य के रचनाकाल तक के प्रायः समग्र हिन्दी पद-साहित्य को विवेच्य बना लिया है।

लोक-गीत और लोक-नाट्य से संगीत ही नहीं साहित्य भी अभिप्रेरित है। इससे मैंने इसको अपने अध्ययन का विषय बनाकर सामान्य लोक-जीवन में प्रचलित राम तथा विविध समारोह विषयक लोक-गीतों के सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष दिए हैं।

हिन्दी का समग्र पद-साहित्य भारतीय संगीत-शास्त्र की 'ध्रुपद' शैली में विरचित है, उस शैली के उन्नायक बैजूबावरा और मियाँ तानसेन के गुरु स्वामी हरिदास रहे हैं। इससे संगीत-शास्त्र और उसकी ऐतिहासिक परिणति पर भी मैंने अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है।

'हिन्दी पद-परम्परा' के चार अध्यायों में प्रथम में उसके स्रोतों का उल्लेख है, रहे तीन अध्याय उनकी वस्तु का संकेत ऊपर किया जा चुका है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से यों प्रथम और चतुर्थ अध्याय ही 'हिन्दी पद-परम्परा' से सम्बद्ध

हैं; किन्तु 'लोक-गीत' श्रौर 'संगीत' पद से सम्बन्धित हैं, इससे उनका श्रध्ययन भी श्रानुषङ्गिक रूप से किया गया है।

श्राचार्य रामानुज के विशिष्टाद्वत के मूलगत सिद्धान्त श्रौर रामानन्द के द्वारा सम्प्रदाय में प्रवर्तित श्रौर समाविष्ट नवीन श्राचार-विचार, उपासना श्रादि तुलसीदास के काव्यों में जीवन्त हो उठे हैं, जिससे धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक श्रादि सभी क्षेत्रों में उनकी समान प्रतिष्ठा श्रौर मान्यता है। सम्प्रदायगत सिद्धान्तों को मर्यादा पुरुषोत्तम राम के इतिवृत्त में भरने के कारण उनकी काव्य-भूमि व्यापक हो गई है, जिससे उसमें जीवन की सभी स्थितियाँ, विविध स्तर के पात्र, श्राचार-विचार-व्यवहार श्रादि समाविष्ट हो उठे हैं। इससे उनकी कृतियों में जीवन-सम्बन्धी किसी समस्या का समाधान सरलता से मिल जाता है। राम का चरित्र श्रौर साम्प्रदायिक सिद्धान्त यों तुलसीदास के उत्तरकालीन कवियों श्रौर भक्तों के समक्ष प्रस्तुत रहे हैं; किन्तु साहित्यिक श्रौर धार्मिक काव्य-धारा में कोई कवि उनकी कोटि में नहीं श्रा सका, यह तुलसीदास की महान् प्रतिभा, विचारधारा श्रौर समन्वय की बात थी— मानना पड़ेगा।

तुलसीदास के काव्य की सामान्य विशेषताएँ उनके पद-साहित्य में भी समाहित हैं। यह सत्य है कि 'गीतावली' में राम के जीवन की सभी घटनाएँ, जैसी 'रामचरितमानस' में हैं, नहीं श्रा सकीं हैं, उसमें केवल मधुर श्रौर करुण घटनाश्रों का समावेश है, जो उनके पद-लालित्य श्रौर कोमल वृत्ति के कारण विशेष मर्मस्पर्शी हो गई हैं। फिर भी उनके श्रवशिष्ट राम-काव्यों की श्रपेक्षा इसके 'बालकांड' में राम का बाल-चित्रण श्रौर 'उत्तरकांड' में हिंडोला, बसन्त श्रादि के वर्णनों से इसमें तुलसीदास की नवीन उद्भावनाएँ हुईं हैं। 'श्री कृष्णगीतावली' में कृष्ण की मुख्य लीलाएँ चित्रित हैं। काव्य छोटा है फिर भी कवि की निष्ठा श्रौर भक्ति से श्राप्लावित है, यह उनके उदार श्रौर व्यापक हृदय का सजीव प्रमाण है। 'विनयपत्रिका' कवि के भक्त-हृदय की श्रर्जी है जिसका स्वीकारना उसने राम की मर्जी पर छोड़ रखा है। यों भक्ति का प्रस्फुटन 'मानस' श्रौर श्रन्य काव्यों में भी है; किन्तु इतिवृत्तात्मकता के कारण उसकी परिणति पात्रों में यत्र-तत्र होती है जबकि इसमें भक्ति श्रौर तद्विषयक भूमियों की संयुक्त भावनाएँ श्रविच्छिन्न रूप से प्रवहमान हैं, जिससे यह श्रन्य काव्यों से तुलना में श्रधिक श्रेष्ठ श्रौर दास्यासक्ति के उपासक भक्तों के लिए एक मार्मिक सजीव श्रादर्श है। विनय का ऐसा सम्बद्ध काव्य हिन्दी में ही नहीं भारतीय साहित्य में भी श्रद्वितीय है।

उपर्युक्त विशेषताश्रों से युक्त गोस्वामी तुलसीदास का पद-साहित्य प्रस्तुत प्रबन्ध के उत्तरार्द्ध के श्रध्ययन का श्राधार है, जिसमें उसका परिचय, भाव श्रौर रस, गीत-शैलियाँ श्रौर भाषा, छन्द, शास्त्रीय संगीत, मध्ययुगीन साहित्य परम्परा श्रौर परवर्ती राम-पद-साहित्य में विवेच्य पद-साहित्य श्रौर उसका वैशिष्ट्य श्रादि-श्रादि

विषयों का मैंने काव्य और संगीत के परिवेश में विवेचन करने का प्रयत्न किया है।

इस स्थल पर मैंने अपने विवेच्य 'हिन्दी पद-परम्परा और तुलसीदास' की स्थूल रूप रेखाएँ इङ्गित कर अपने कार्य की दिशाओं का औचित्य स्पष्ट किया है। यों सूरदास, हित हरिवंश, हरिदास तथा अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने पद-शैली में कृष्ण के बाल-वर्णन, राधा-कृष्ण के संयोग-वियोग आदि के भावमय अद्वितीय मधुर चित्रण प्रस्तुत किए हैं। उन्हें केवल पद-शैली में रचना करनी थी और वह भी केवल मधुर भाव में। इससे सूर जैसे महाकवि अपने क्षेत्र में यदि क्षितिज भी छू आए हों तो आश्चर्य क्या ? वह कतिपय क्षेत्रों में तुलसी से भले ही आगे हों ; किन्तु तुलसी ने परम्परागत समग्र शैलियों को अपनाकर काव्य-सर्जना की और राम के समग्र जीवन की विविध भावनाओं को चित्रित किया। वस्तुतः उनका काव्य-लोक सूर से कहीं अधिक व्यापक है। फिर भी वह अपने पद-शैली के काव्य के साथ न्याय न कर सके हों, यह बात नहीं। इस सम्बन्ध में गीतावली और श्री कृष्णगीतावली का परीक्षण किया जा सकता है, जिनके मधुर और कोमल पद कृष्ण-काव्य के श्रेष्ठ पदों के साथ तुलना के लिए प्रस्तुत किए जा सकते हैं। रही विनयपत्रिका उसके पदों की तुलना में न सूर के पद हैं और न अन्य किसी भक्त कवि के। अन्ततः मेरा यह निवेदन है कि तुलसी का क्षेत्र व्यापक था, विविध काव्य-शैलियों में उन्हें रचना करनी थी, मर्यादा और दास्य भाव विषयक उनकी साम्प्रदायिक सीमाएँ थीं—इन सब स्थितियों में भी जो गीतावली, विनयपत्रिका आदि जैसी अमूल्य निधि दे सका हो—यह उनकी प्रतिभा और व्यक्तित्व के लिए कम गौरव की बात नहीं। इसी से तुलसी सबसे ऊँचे हैं, सूर भी वहाँ तक नहीं पहुँच पाते हैं।

अपनी दुर्बलताओं से अवगत होता हुआ भी प्रस्तुत गम्भीर विषय के विवेचन में प्रविष्ट हुआ हूँ। इसमें विषय की व्याख्या में मैं किस स्तर तक पहुँच सका हूँ, यह विद्वान पाठक ही अनुभव करेंगे। साथ ही निरूपित निष्कर्षों के सम्बन्ध में मेरा यह निवेदन है कि अपने अध्ययन में मैं जिन परिणामों पर पहुँचा हूँ, मैंने उन्हें स्वभावतः इङ्गित कर दिया है। सम्भवतः मेरी पंक्तियों से तुलसी-काव्य के अछूते इस विशिष्ट अंग पर कुछ प्रकाश पड़ ही जाए, मेरी कामना रही है। इस दुस्साहस के लिए सहृदय विद्वज्जन मुझे क्षमा करने की कृपा करें, यह मेरी प्रार्थना है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लिखने में निर्देशन और मेरी कठिनाइयों का समाधान गुरुवर श्री वाजपेयी जी ने किया है। उनके आभार स्वरूप कहने के लिए न मेरी मर्यादा है और न मनः शक्ति ही। इससे अपने श्रद्धेय के चरणों में मैं सभक्ति विनत हूँ।

पारिवारिक समारोहों के गेय लोक-गीतों को जुटाने में सुश्री आशा श्रीवास्तव और मंजु श्रीवास्तव एम० ए० कक्षा की सहोदरा मेरी छात्राओं ने पूरा सहयाग दिया है। उनकी साहित्यिक अभिरुचि दिनानुदिन बढ़े उनके प्रति यही मेरी शुभाशाषें और मंगल कामनाएँ हैं।

साथ ही मैं अपना चिर-आभार और कृतज्ञता प्रकट करता हूँ—धर्मसमाज इण्टर कॉलेज, अलीगढ़ के संगीताचार्य श्री भारतेन्दु जी और टीकाराम बालिका महाविद्यालय, अलीगढ़ के संगीत-विभाग के अध्यक्ष श्री नाथूराम जी शर्मा को जिन्होंने भारतीय संगीत की पद्धतियों और सिद्धान्तों को मुझे अवगत कराया और तद्विषयक अमूल्य साहित्य देकर सम्यक् सहयोग दिया। गुरुकुल कांगड़ी के संस्कृताध्यापक अनन्तर ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम संस्कृत महाविद्यालय, हरिद्वार के प्रधानाचार्य, अग्रज-तुल्य साहित्याचार्य श्री आद्याचरण जी पांडेय और भारतीय पाठशाला इण्टर कालेज, फर्रुखाबाद के मेरे सहकारी अध्यापक साहित्यरत्न श्री जगदीशप्रसाद जी शुक्ल को जिन्होंने मेरी प्रार्थना पर राम-सम्बन्धी लोकगीत मुझे प्रेषित किए तथा धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़ के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष प्रो० श्रीनिवास मिश्र जिनके अध्ययन और विभागीय पुस्तकालय का मैंने आवश्यकतानुसार लाभ उठाया—का भी अत्यन्त आभारी हूँ।

—रामचन्द्र मिश्र

गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार
१—७—६२

विषयानुक्रमणिका

: १ :

हिन्दी पद-साहित्य के स्रोत

विषय-विचार—पद काव्य की गेय शैली है, जिसमें गीत-तत्त्वों के कारण अन्य शैलियों के काव्य की अपेक्षा नाद-ध्वनि का प्राधान्य है। फलतः अपनी सहज मर्म-स्पर्शिता और चिरन्तन प्रभाव से यह उनसे अधिक मधुर, सुखद और सुग्राह्य है।

गीत की सर्वप्रियता को ही यह श्रेय है कि वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के आज तक के साहित्य में उसका अविच्छिन्न स्रोत प्रवहमान है। वेद काल के अनन्तर संस्कृत और पालि तथा प्राकृत लोक-भाषाओं के काव्यों में उसके तत्त्व अंकुरित हो उठे हैं, अपभ्रंश काव्य में सहजयानी सिद्ध संतों के चर्यापदों में उसका एक सुस्पष्ट स्वरूप मिल उठा है और अनन्तर हिन्दी के विविध युगों में जीवन्त बना हुआ वह अपने को गतिशील रखे है। उपर्युक्त इङ्गित गीत-काव्यों की वस्तु और रूप में अन्तर अवश्य है, किन्तु गेयता का मूल आधार सभी में एक है। जिससे सम्पूर्ण प्रगीत काव्य एक सूत्र में बाँधने का साहस किया जा सकता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में पद्यात्मक श्रव्य काव्य के प्रबन्ध और मुक्तक दो भेद हैं। प्रबन्ध काव्य (महाकाव्य और खण्ड काव्य) की कथावस्तु उसके पद्यों में अविच्छेद्य रूप से समाहित रहती है जबकि मुक्तक काव्य अपने एक पद्य में प्रायः पूर्ण होता है। एक की अपेक्षा दो में पूर्ण होने पर 'युग्मक', तीन में पूर्ण होने पर उसे 'संदानितक', चार में पूर्ण होने पर 'कलापक' और पाँच में पूर्ण होने पर उसे 'कुलक' कहने का विधान संस्कृत काव्यशास्त्र में है।[1] पद भी प्रायः एक पद्य में पूर्ण होता है और उसकी भावनाएँ मुक्त होती हैं। इससे उसे मुक्तक के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।

मुक्तक के सम्बन्ध में यदि व्यापक रूप से विचार किया जाता तो सम्भव है कि गीत पर भी कुछ प्रकाश पड़ जाता; किन्तु हमारा सम्पूर्ण पद्यात्मक काव्य सदैव गेय रहा है और उसकी विविध विधाओं की विशेषताएँ भी सामान्यतः एक ही रही हैं। इससे गीत काव्य के स्वरूप, प्रवृत्तियों और विशेषताओं आदि तत्त्वों पर संस्कृत और

---

१. छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं त्रिभिरिष्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च पंचभि कुलकं मतम्॥

विश्वनाथ-साहित्य दर्पण ६—३१४-३१।

हिन्दी के काव्य-शास्त्रियों ने स्वतन्त्र रूप से विचार करने की कहीं आवश्यकता नहीं समझी। फलतः हमारे काव्य-शास्त्रों में यदि गीत विषयक विवेचन का अभाव हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? इसके विपरीत ग्रीक और अँग्रेजी साहित्य में गीत-काव्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता रही है, जिससे उनके काव्य शास्त्रों में तत्सम्बन्धी सम्यक् विवेचन सन्निविष्ट है। "द्विवेदी-युग' में जब हिन्दी पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित हुई तब हम उसके गीत-काव्य के सिद्धांतों से भी परिचित हुए और हमारे कवियों ने उनसे अभिप्रेरणा लेकर छायावादी कहे जाने वाले गीत रच डाले। वस्तुतः यहीं से हमारा गेय काव्य एक नवीन दिशा की ओर उन्मुख हुआ; किन्तु फिर भी पद की अपनी परम्परागत स्थिति अक्षुण्ण रही।

पाश्चात्य साहित्य में गीत (Lyric) उस विशिष्ट काव्य की संज्ञा है जो किसी समय Lyre नामक वाद्ययंत्र पर गाया जाता था।[1] आगे चलकर लिरिक शब्द पाश्चात्य गेय काव्य के लिये रूढ़ हो गया, इसमें कवि की वैयक्तिक अन्तर्भावना आवश्यक समझी गई।[2]

इससे यह स्पष्ट है कि गीत में संगीतात्मकता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। किसी समय गीत (Lyric) के लिए लायर आवश्यक रहा हो; किन्तु आगे चलकर उसके लिए संगीत की सस्वरता ही आवश्यक रह गई। जो वस्तुतः उसका आवश्यक सिद्धान्त बना ली गई है, संगीतात्मकता के समान गीत के लिए कवि की अन्तर्भावना भी आवश्यक तत्त्व है। अन्यथा काव्य की अन्य विधाओं में उसकी

---

1. Lyrical poetry—A general term for all poetry which is, or can be supposed to be, susceptical of being sung to the accompaniment of a musical instrument.

Encyclopaedia Britannica Eleventh Edition, Vol.VII, Page 180

Lyrical poetry is that species of poetry by which the poet directly expresses his emotions.

The New Popular Encyelopedia Vol. VIII, Page 437

सुख-दुख के भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।

महादेवी वर्मा—सान्ध्यगीत—अपनी बात

2. To return again to Greece, there was an early distinction, soon accentuated, between the poetry chantad by a choir of singers and the song which expressed the sentiments of a single poet. The latter or song proper had reached a height of technical perfection in "The Isle of Greece." where burning Sapho loved and sang.

Enc. Brit. Vol, VII, Page 180

गणना भले ही हो जावे; किन्तु वह गीत की सीमा में न बँध सकेगा। कवि की अन्तर्भावना के अभाव में स्थूल भाव ही प्रस्फुटित हो सकेंगे जो महाकाव्य, खण्डकाव्य और नाटक आदि के लिए ही उपयुक्त हैं, गीत के लिए नहीं।[1] गीत की संक्षिप्तता भावना की एकसूत्रता, भाषा-शैली का माधुर्य आदि तत्त्व वस्तुतः कवि की अन्तर्भावना के ही आश्रित हैं।

गीत के स्वरूप और प्रकार पर भी पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने विचार किया है और वे निम्न निर्णय पर पहुँचे हैं।

१. **गीत काव्य के भाव या वस्तु सम्बन्धी भेद**—प्रेम प्रधान, भक्ति प्रधान, प्रकृति प्रधान, बुद्धि प्रधान, विचार प्रधान, सामाजिक अथवा मधुगीत आदि।

२. **गीत काव्य के रूप सम्बन्धी भेद**—चतुर्दशपदी (Sonnet), संबोध गीत (Odes), शोक गीत (Elegy), गीत (Song), ईडिल (Idyle) एवं पत्र गीत (Epistle) आदि।

यों पाश्चात्य गीत काव्य के सम्बन्ध में कुछ बातों को लेकर विचार कर लिया गया है; किन्तु इससे यह न समझा जाय कि हमारा पद-साहित्य इनसे प्रभावित है। 'भारतेन्दु युग' तक पद-साहित्य का अजस्त्र स्रोत प्रवाहित रहा है और अनन्तर 'द्विवेदी युग', 'छायावादी युग' और 'प्रगतिवादी युग' में गेय काव्य के रूप में भले ही परिवर्तन होते रहे हों; किन्तु पद के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पद में प्रथम 'पंक्ति' 'टेक' और शेष पंक्तियाँ 'अन्तरा' कहलाती हैं, जिसमें काव्य का मात्रिक या वर्णिक छन्द और अनुकूल बैठने वाली राग-रागिनी की व्यवस्था रहती है। जिससे वह पद संगीत की गेयता में खरा उतर जाता है। कवि और

---

१. गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं।

—महादेवी-सान्ध्यगीत—अपनी बात

Hegel who has gone minutely into this question in his Esthetik, contends that when poetry is objective it is epical, and when it is subjective it is lyrical. This is to ignore the metrical form of the poem and to deal with its character only. It is, as he insists, the personal thought, or passion or inspiration which gives its character to lyrical poetry. The lyric has the function of revealing in terms of pure art, the secrets of the inner life, its hopes, its fantastic joys, its sorrows, its delirium.

Enc. Brit. Vol. VII, Page 180-181

Lyric has been here held essentially to imply that each poem shall turn on some single thought, feeling and situation.

F.T. Palgrave-Golden Treasury, Page 9

भक्त इसी सरल शैली में पद का निर्माण और मस्ती से गान करते रहे। तुलसीदास ने भी इसी पद-शैली में 'श्रीकृष्ण गीतावली', 'गीतावली' और 'विनय-पत्रिका' का निर्माण किया था जो हमारे प्रस्तुत प्रबन्ध के आलोच्य विषय हैं।

हिन्दी भाषा-साहित्य की पृष्ठभूमि

वैदिक युग में प्रचलित भाषा में आर्यों ने अपने वेदों की रचना की थी। उस समय बोलचाल और वेदों की भाषा में किसी प्रकार का अन्तर न था; किन्तु विकास की प्रगति में इनमें परिवर्तन सन्निविष्ट हुए। जिससे दो विलोम दिशाओं की ओर उनका मुड़ जाना स्वाभाविक हो गया।

पंचनद प्रदेश से आर्यों के आगे बढ़ने पर उनका आर्येतर जातियों से संसर्ग हुआ, फलस्वरूप वैदिक भाषा में उनके भाषा-तत्त्व मिश्रित हो गए। इन नवीन समावेशों के कारण ही यास्क को वैदिक मंत्रों की व्याख्या करने में कठिनाई का अनुभव हुआ था। इस प्रकार विविध मिश्रणों की स्थिति में भी आर्यों की यह भाषा विद्वानों की परितिष्ठित भाषा समझी जाती थी और इसी में उनके द्वारा आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद आदि लिखे गए थे। आगे चलकर भाषा को वर्णसङ्करता से बचाने और उसके विशिष्ट उच्चारणों को सुरक्षित रखने के लिए पाणिनि ने उसे 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों में आबद्ध कर दिया, फलस्वरूप उक्त परम्परागत वैदिक भाषा संस्कृत हो गई। इस प्रकार वैदिक भाषा ऋग्वेद कालीन प्राकृत, आरण्यक, उपनिषद आदि की साहित्यिक तथा पाणिनि द्वारा प्रतिपादित संस्कृत भाषा इन तीन कक्षाओं को पार करती हुई रूढ़िबद्ध हो गई।[१] देशी भाषाओं के मध्य में आज भी यह प्रतिष्ठित भाषा अपने वाङ्मय के द्वारा उनको अभिप्रेरित करती चली आ रही है।

बोलचाल की भाषा का स्वरूप भी निरन्तर प्रगतिशील रहा। जन-समाज की भाषा होने के कारण इसमें आर्येतर भाषाओं के शब्दों का अधिक समावेश हुआ, जिसमें संस्कृत भाषा की अपेक्षा ऐसे शब्दों को पचाने की शक्ति भी अधिक थी। इससे इसका संस्कृत भाषा से दूर पड़ जाना स्वाभाविक था। सच तो यह है कि यह सब आर्यों के अनार्यों से मिश्रण के कारण हुआ। धीरे-धीरे यह वर्ग ही अलग हो गया, जिसमें भाषा-परिवर्तन के साथ-साथ सांस्कृतिक परिवर्तन समाविष्ट हुए और आर्यों के विरुद्ध अनीश्वरवादी जैन और बौद्ध धर्मों का विकास हुआ, जो सिद्धान्ततः वैदिक धर्म के प्रतिक्रियावादी धर्म थे। इन्हीं सम्प्रदायों में उनके प्रवर्त्तकों ने लोक-भाषा को अपनी धर्म-भाषा मानकर अपने धर्मों का यथासम्भव प्रसार किया और जन-जीवन ने भी संस्कृत की अपेक्षा सरलता से हृदयंगम हो जाने के कारण लोक-

---

१. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ६६ (हिन्दी संस्करण)

भाषा का स्वागत किया ।[1]

वेद काल की प्रचलित लोक-भाषा प्राकृत कहलाती है । प्रारम्भ में वैदिक भाषा और इस प्राकृत में किसी प्रकार का अन्तर न था; किन्तु कालान्तर में दोनों में पर्याप्त अन्तर घटित हुए और दोनों भाषाएँ एक दूसरे से दूर जा पड़ीं[2] इन दोनों के अध्ययन और विवेचन की सुविधा के कारण विद्वानों ने 'वैदिक आर्य भाषा' को 'प्राचीन भारतीय आर्य भाषा' और 'प्राकृत भाषा' को 'मध्य भारतीय आर्य भाषा' की सञ्ज्ञाएँ प्रदान की हैं ।

प्रस्तुत आलोच्य विषय के स्रोत वेद-साहित्य में उपलब्ध हो उठे हैं । अनन्तर उन्हीं का पोषण 'प्राचीन भारतीय आर्य भाषा और 'मध्य भारतीय आर्य भाषा' के साहित्यों में हुआ है । प्रथम की भाषा जैसा निवेदन किया जा चुका है कि पाणिन के अनन्तर एक सुस्थिर रूप ग्रहण कर चुकी थी । इससे उसकी प्रगति की सम्भावना ही नहीं थी । फलस्वरूप उसके सम्पूर्ण साहित्य में वस्तुगत और शैलीगत एक सूत्रता मिल जाती है । इसके विपरीत द्वितीय की भाषा लोक-जीवन से संयुक्त रहने के कारण प्रायः अपने स्वरूप और साहित्य में परिवर्तन सहेजती रही है । इससे उसके विविध रूपों में वैविध्य और पर्याप्त अन्तर मिलते हैं । वह पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई देश की आधुनिक भाषाओं में प्रस्फुटित हो उठी है । इससे 'हिन्दी पद-परम्परा' से अवगत होने के लिए इनमें अलग-अलग उस परम्परा का शोध करना अधिक समीचीन है । हम अपने उद्देश्य में प्रविष्ट हों उससे पहले उपर्युक्त दोनों प्रकार के साहित्य से परिचित हो लेना उचित है इससे गीतकाव्य की विविध परिस्थितियों और स्रोतों को हम भली प्रकार समझ सकेंगे ।

वैदिक साहित्य—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और आथर्ववेद चार वेद हैं । वैदिक साहित्य के १. 'संहिता' २. 'ब्राह्मण' ३. 'आरण्यक और उपनिषद् तीन विभाग हैं । प्रत्येक वेद की अलग-अलग संहिताएँ, ब्राह्मण तथा आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थ हैं । इनमें ऋग्वेद सबसे अधिक प्राचीन है ।

अ. प्राचीन भारतीय भाषा का साहित्य—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का साहित्य बड़ा सम्पन्न है । महा कवियों, नाटककारों, आलंकारिकों, और दार्शनिकों ने अपनी प्रतिभा के बल से अपनी रचनाओं द्वारा इसे गौरवान्वित किया है । वस्तुतः यह सभी प्रकार विशिष्ट है । इसी कारण इसमें भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व और लोक-भाषाओं के लिए अभिप्रेरणा के तत्त्व विद्यमान हैं ।

वेद, दर्शन, पुराण, ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त रामायण और महाभारत आदि भारतीय आर्य भाषा के ही उपजीव्य न रहकर सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के

---

१. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ६५

२. डॉ० श्यामसुन्दरदास—हिन्दी भाषा—भारतवर्ष की प्राचीन भाषाएँ, पृष्ठ ७

अभिप्रेरक और उपजीव्य रहे हैं। इन्होंने हमें विदेशी साहित्य के समक्ष गौरवान्वित और महान् सिद्ध किया है। इन्हीं के कारण विदेशी जिज्ञासुओं ने हमारे साहित्य का अध्ययन कर हमारी महिमा और प्रतिभा का मूल्यांकन किया है, जिससे हमारी संस्कृति की महत्ता सिद्ध हुई है।

महाकवियों के मध्य में कालिदास का प्रमुख स्थान है, उन्होंने कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश काव्यग्रन्थों के अतिरिक्त मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी और शाकुन्तल नाटक भी लिखे हैं। कालिदास अपनी मनोरम उपमाएँ, संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण, स्वाभाविक मानवीय चित्रणों के लिए अद्वितीय हैं। उनके अनन्तर भी महाकाव्य की परम्परा अक्षुण्ण रही है। अश्वघोष का बुद्धचरित, भारवि का किरातार्जुनीय भट्टि का भट्टिकाव्य, माघ का शिशुपालवध, क्षेमेद्र के 'रामायण मंजरी' और 'भारतमंजरी', श्री हर्ष का 'नैषध', विल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित', कल्हण का 'राज-तरंगिणी' आदि प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। गद्य साहित्य में वाणभट्ट के 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' दण्डी का 'दशकुमार चरित', नाट्य साहित्य में कालिदास के नाटकों के अतिरिक्त विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, शूद्रक का 'मृच्छकटिक', भवभूति के 'मालती-माधव', 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित्', राजशेखर का 'बाल रामायण' जयदेव का 'प्रसन्नराघव' तथा भाण साहित्य में 'चतुर्भाणी', युवराजकृत 'रससदन भाण' काशीपति कृत 'मुकुन्दानन्द भाण',रामभद्र दीक्षित कृत'श्रृंगारतिलक भाण', लल्ला दीक्षित कृत 'श्रृंगार सर्वस्व' आदि संस्कृत-साहित्य को गौरवान्वित किये हुए हैं। साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत भरत का 'नाट्यशास्त्र', भामह का 'काव्यालंकार', वामन का 'काव्यालंकार-सूत्र', रुद्रट का 'काव्यलंकार', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक', रूय्यक का 'अलंकार-सर्वस्व', पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' आदि प्रसिद्ध हैं। भारतीय साहित्य में दो प्रकार के दर्शनों का विकास हुआ है—(१) नास्तिक दर्शन और (२) आस्तिक दर्शन। प्रथम के अन्तर्गत चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन आते हैं तथा द्वितीय में न्याय, वैशे-षिक सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, आदि दर्शनों का विकास हुआ है। उन सभी दर्शनों में पर्याप्त साहित्य का निर्माण हुआ है।

आ. मध्य भारतीय आर्य भाषाएँ—इन भाषाओं का समय ५०० ई० पू० से १००० ई० तक सीमित है। १००० ई० के आस-पास मुसलमानों के आक्रमणों, विजयों तथा देश में उनके वस जाने से यहाँ की राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं साहि-त्यिक परम्पराओं में उद्वेलन हो उठा था। इसी समय देशी भाषाएँ अपभ्रंश से अलग अपनी प्राण-प्रतिष्ठा में प्रवृत्त हो उठीं। इस तथ्य के कारण ही डा० चटर्जी १००० ई० को भारत की आधुनिक भाषाओं के विकसित होने की आदि सीमा मानते हैं।[1]

---

१. डा० चटर्जी—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०५

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने उपर्युक्त १५०० वर्ष के समय के निम्न तीन विभाजन किये हैं।[1]

१. पालि तथा अशोक की धर्म-लिपियाँ (५०० ई० पू० से १ ई० पू० तक)

२. साहित्यिक प्राकृति भाषाएँ (१ ई० से ५०० ई० तक)

३. अपभ्रंश भाषाएँ (५०० ई० से १००० ई० तक)

१. **पालि साहित्य**—भाषा के लिए इस शब्द का प्रयोग १३वीं-१४वीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता। फलतः समय की अपेक्षा यह प्रयोग अधिक नवीन है। आचार्य बुद्धघोष ने चौथी अथवा पाँचवी शताब्दी में इस शब्द का प्रयोग अपनी 'अट्ठकथाओं' और 'विशुद्धिमग्ग' में किया है। यह शब्द निस्सन्देह बड़ा विवादास्पद है; किन्तु आज यह शब्द बौद्ध साहित्य के लिए रूढ़ हो गया है।

उपर्युक्त के समान यह किस प्रदेश की भाषा है यह प्रश्न भी विवादास्पद है। सच तो यह है कि गौतम बुद्ध ने अपने विचार मागधी में ही प्रकट किए थे; किन्तु भिक्षु-भिक्षुणियों द्वारा जब वे दूरस्थ प्रदेशों तक ले जाए गए तब विविध प्रादेशिक भाषा-तत्त्वों का उनमें सन्निवेश हो गया जिससे से विद्वानों के मध्य में पालि-विषयक विचार-वैषम्य प्रस्तुत होता रहा है। वस्तुतः मूल पालि मगधी ही रही है।[2]

पालि साहित्य में निम्नलिखित वर्णनात्मक काव्य उपलब्ध हैं—अनागतवंस, तेलकटाहगाथा, जिनालङ्कार, जिनचरित, पज्जभधु, सधम्मोपायन, पंचगतिदीपन, लोकप्यदीपसार आदि। उपर्युक्त के अतिरिक्त गद्य और पद्य मिश्रित ये आख्यान भी हैं—रसावाहिनी, बुद्धालङ्कार, सहस्सवत्थुपकरण, राजाधिराजविलासिनी आदि।[3]

इन काव्यों के लिखने का उद्देश्य केवल जैन और बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार ही रहा है, फलतः काव्य के अपेक्षित तत्त्व उनमें उपलब्ध नहीं होते। उनमें कल्पना और सौंदर्य की अनुभूति तो दूर रही जीवन का वैविध्य कहीं सन्नहित नहीं है।

२. **प्राकृत साहित्य**—मध्य भारतीय भाषाओं में पालि के अनन्तर प्राकृत की प्रतिष्ठा हो उठी है। सच तो यह है कि वेदकालीन लोक-भाषा ही क्रमिक विकास ग्रहण करती गई और पालि के अनन्तर प्राकृत में उसका सुस्पष्ट स्वरूप दृष्टिगोचर हुआ, बाद में अपभ्रंश भाषाओं में उसने व्यापक रूप ग्रहण कर लिया। इस प्रकार लोक-भाषा के विकास के विविध स्वरूपों में, यह मध्य का स्वरूप है जो पालि की अपेक्षा साहित्य क्षेत्र में व्यापक रूप से प्रतिष्ठित है।

जन-जीवन में प्राकृत भाषा के माधुर्य की अनुभूति हो उठी थी, जिससे विविध विद्वानों ने उसकी सराहना की है। नायक-नायिका विषयक श्रृंगार का प्राकृत

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ ४६-४८

२. श्री भरतसिंह उपाध्याय—पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २८

३. श्री भरतसिंह उपाध्याय—पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५८४

के ललित और मधुर अक्षरों में जो स्वरूप है वह भला संस्कृत में कब पढ़ा जाना सम्भव है—जयबल्लभ ने 'वज्जालग्ग' में यह विचार प्रकट किया है।[१] 'गाथा सप्तशती' के संग्रहकार हाल प्राकृत के माधुर्य को काम-क्रीड़ा से भी मधुरतर कहते हैं।[२] राजशेखर ने कर्पूरमंजरी में संस्कृत और प्राकृत का वही अन्तर माना है जो पुरुष और स्त्री में होता है।[३]

प्राकृत के उपलब्ध साहित्य के आधार पर प्राकृत वैय्याकरणों ने उसके निम्न पाँच विभाजन किए हैं :—

१. **शौरसेनी प्राकृत**—मथुरा तथा उसके आसपास की लोट-भाषा रही है। मध्य देश की भाषा होने के कारण अवशिष्ट प्राकृतों की अपेक्षा इस पर संस्कृत का अधिक प्रभाव पड़ा है। संस्कृत नाटकों और जैन धर्म के ग्रन्थों में यह उपलब्ध है।

२. **मागधी प्राकृत**—बिहार प्रान्त के अन्तर्गत मगध की भाषा रही है। गौतम बुद्ध के उपदेश और पालि का मूल स्रोत इसी भाषा का पूर्व रूप रहा है।

३. **अर्धमागधी प्राकृत**—यह काशी और कौशल प्रदेशों की भाषा थी। इसमें मागधी प्राकृत के रूप भी मिलते हैं। इसका रूप जैन शास्त्रों में सुरक्षित है।

४. **महाराष्ट्री प्राकृत**—व्याकरण के पण्डितों ने इस प्राकृत को ही आदर्श माना है। संस्कृत नाटकों में जहाँ भी प्राकृत छन्दों में रचना प्रस्तुत की गई है वह इसी प्राकृत में लिखी गई है।

५. **पैशाची प्राकृत**—देश की पश्चिमोत्तर बोली का रूप ही पैशाची के नाम से प्रख्यात है। गुणाढ्य ने 'वृहत्कथा' इसी प्राकृत में लिखी थी; किन्तु आज वह अप्राप्य है। इसमें किसी भी प्रकार का साहित्य उपलब्ध नहीं है।

इन सभी में महाराष्ट्री प्राकृत ही व्यापक और अधिकाधिक प्रयोग में रही है। नाटकों और काव्यों में यही व्यवहृत होती रही है।

प्राकृत में दो प्रकार का साहित्य उपलब्ध है :—१. साम्प्रदायिक—जैन धर्म सम्बन्धी और २. साहित्यिक—काव्य और नाटक आदि।

१. जैन धर्म की सम्पूर्ण रचनाएँ अर्धमागधी प्राकृत में लिखी गई थीं। इन रचनाओं में उनके सिद्धान्त और टीका ग्रन्थ आते हैं। सिद्धान्त ग्रन्थों में छेवसूत्त और मूल सूत्र प्रमुख हैं। इनमें जैन-धर्म के सम्पूर्ण आचार-विचार, व्रत, अनुशासन आदि

---

१. ललिए महुरवक्खरए जुवईजणवल्लहे ससिंगारे।
सन्ते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कअं पढिउम् ॥
२. अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति।
कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति ॥
३. परुसा सक्क अबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो।
पुरुस माहलाणं जेत्तियमिहन्तरं तेत्तियमिमाणम् ॥

के सभी सिद्धान्त समाहित हैं। अनन्तर जैन-धर्म श्वेताम्वर और दिगम्वर दो विभागो में बँट गया है। प्रथम ने महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग किया है। इसमें 'समराइच्च कहा', 'कथकोश प्रकरण', 'धूर्ताख्यान' आदि कथा-साहित्य है—तरंगवती, सुरसुन्दरी चरित्र, कालकाचार्य कथानक सिरिसरिबालकथा, 'रयनसेहरकथा' भी कथा-साहित्य के अन्तर्गत परिगणित है—किन्तु इनमें गद्य के साथ पद्य का प्रयोग भी उपलब्ध है। दिगम्बर शास्त्र ने शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया है। इसमें पवयणसार, समयसार, नियमसार, छप्पाहुउ, दर्शनसार, जीवविचार, मूलाराधना, श्रावकाचार आदि पर्याप्त पद्य साहित्य है। ऋषभ पंचासिका, महावीर, शान्तिकथास्रवन, आदि जैन सम्प्रदाय के स्तवन ग्रन्थ हैं।[1]

२. साहित्यिक क्षेत्र में भी प्राकृत का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। इसको नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्रों का वार्तालाप का साधन बनाया गया है। इसी से संस्कृत नाटकों में प्रायः इसका प्रयोग किया गया है। अश्वघोष का 'सारिपुत्र प्रकरण' एवं राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' रचनाएँ प्राकृत में ही रही हैं। कर्पूरमंजरी, रम्भामंजरी चन्दलेहा, शृंगारमंजरी, आनन्द सुन्दरी आदि स्त्री-प्रधान रचनाएँ रहने के कारण प्राकृत में ही लिखी गई है।[2]

प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों की रचनाएँ भी प्राकृत में लिखी गई हैं। रावण वहो, गड्ड वहो, लीलावई, सिरचिंधकव्वं, उसाणिरुद्ध, कंसवहो आदि प्रबन्ध काव्य तथा 'गाहा सतसई' और 'वज्जालग्ग' मुक्तक काव्य हैं।

उपर्युक्त में 'लीलावई' कूतूहल कवि के द्वारा १००० ई० में रचित है। इसमें प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन तथा सिंहल की राजकुमारी की प्रेम कथा है। सिरि-चिन्ध के कवि शुक और दुर्गाप्रसाद हैं। दूसरी रचना १६वीं शताब्दी में हुई है, इसमें कृष्णलीला का वर्णन है। 'उषाणिरुद्ध' तथा 'कंसवहो' के कवि रामपाणिवाद हैं। इनमें प्रथम में उषा और अनिरुद्ध की प्रेमकथा तथा द्वितीय में कृष्ण की बालक्रीड़ा के माध्यम से कंसवध का विवरण प्रस्तुत किया गया है।[3]

उपर्युक्त में रावणवहो या सेतुबन्ध, गड्डवहो, और गाहासतसई प्रमुख काव्य ग्रन्थ है। 'वज्जालग्ग' एक संग्रहग्रन्थ है इसका संग्रह जयवल्लभ ने किया है। इसमें शृंगार और नीति की ७९५ गाथाएँ उपलब्ध हैं। ये सभी रचनाएँ महाराष्ट्र प्राकृत में रचित हैं और इनमें मात्रा छन्द का प्रयोग किया गया है।

अपभ्रंश साहित्य—जन-वाणी के सम्मान से प्राकृत के च्युत हो जाने पर अपभ्रंश व्यावहारिक उपयोग की अधिकारिणी हुई, जिसमें नवीन प्रयोग हुए और

---

१. सं० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी साहित्य कोष, पृष्ठ ४६४-४६५
२. सं० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी साहित्य कोष, पृष्ठ ४६४-४६५
३. सं० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी साहित्य कोष, पृष्ठ ४६४-४६५

नवीन प्रकार के साहित्य का सृजन हुआ। अनन्तर इसी के सम्पन्न रूप से देश की अर्वाचीन भाषाएँ अपना जन्म प्राप्त कर अपने अस्तित्व को प्रगति दे सकीं। विविध प्राकृतों के अनुसार विविध अपभ्रंश भाषाएँ जन्मीं और उनसे हमारी देशी भाषाएँ उत्पन्न हुईं। शौरसेनी अपभ्रंश से ब्रजभाषा, खड़ीबोली, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती और पहाड़ी भाषाओं का; मागधी अपभ्रंश से भोजपुरी, उड़िया, बंगाली, आसामी, मैथिली और मगही का; अर्धमागधी से पूर्वी हिन्दी और अवधी का; महाराष्ट्री से मराठी का; व्राचड से सिन्धी का जन्म हुआ है। इनमें गुजराती और राजस्थानी का सम्बन्ध शौरसेनी के नागर अपभ्रंश से भी मानते हैं। इन प्रान्तीय और क्षेत्रीय भाषओं का रूप उस समय विकसित हुआ जब अपभ्रंशों ने शिष्ट साहित्य के लिए साहित्यिक रचनाएँ प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप अपभ्रंशों के साहित्यिक रूढ़ि में आबद्ध हो जाने पर उन्हीं क्षेत्रों की जनपदीय बोलियाँ वहाँ के सर्वसाधारण की भावनाओं की अभिव्यवित का साधन बनीं और विविध बोलियाँ प्रयोग में आ उठीं।

अपभ्रंश-साहित्य का सृजन सिद्ध और जैन-सन्तों द्वारा किया गया था, फलतः वह सभी धर्म-मूलक है। उसमें विशुद्ध काव्य के दर्शन नहीं होते हैं।

(क) **सिद्ध-साहित्य**—बौद्ध धर्म की परम्परा में कितने ही सहजयानी सिद्ध सन्तों ने विविध प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत की हैं जिनमें सरहपा के दोहाकोष, चर्यागीति-दोहाकोष, सरहपाद-गीतिका, कायकोष-अमृत-वजगीति आदि; शबरपा के चित्तगुह्यगम्भीरार्थगीति, महामुद्रा-ब्रजगीति, षडंगयोग आदि; भूसुकुपा का सहजगीति; लुईया के अभिसमय-विभंग, गीतिका आदि; विरूपा के दोहाकोष, विरूपागीतिका, विरूप-वज्र-गीतिका आदि; डोम्बिया के अक्षराद्विकोपदेश, गीतिका आदि; कण्हपा के गीतिका, वसन्ततिलक, वज्रगीति, दोहाकोष आदि; गोरक्षपा के गोरखवानी, वायुतत्त्वोपदेश आदि प्रसिद्ध हैं।

जैन-साहित्य—अपभ्रंश-काल में सिद्ध-साहित्य के अतिरिक्त यदि कोई साहित्य उल्लेखनीय है तो वह जैनियों का है, जिसमें उनका समग्र पुराण और चरित-काव्य परिगणित है। साम्प्रदायिक भावनाओं के कारण उनमें केवल धार्मिक सिद्धान्तों का ही सन्निवेश है, मानव-जनीन भावनाओं का नहीं। इस साहित्य में स्वयम्भू के हरिवंश पुराण और पउमचरउ; पुष्पदन्त के महापुराण, जसहरचरिउ और नायकुमार चरिउ; योगीन्द्र के परमात्मप्रकाश दोहा और योगसार दोहा; रामसिंह का पाहुड़ दोहा और धनपाल का भविसयत्त कहा आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं। १००० ई० के अनन्तर भी जैन-साहित्य का निर्माण होता रहा है जिनमें चरित्र-काव्य, व्याकरण ग्रन्थ और फाग, रास आदि लोक-साहित्य प्रमुख हैं।

हिन्दी पद-साहित्य के विविध स्रोत—वेद, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा और मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य से हमने देखा है कि उनका सबल रूप देशी

भाषाओं की पृष्ठभूमि में विद्यमान है। इन्होंने जिन परम्पराओं और प्रवृत्तियों को जन्म दिया वे ही आगे की भाषाओं में प्रस्फुटित हुईं और उनका अभिन्न अंग बन गईं। इसी से आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य की भाषा, छन्द, वस्तु, प्रवृत्तियों आदि की परम्पराएँ पूर्व की साहित्यिक गतिविधियों में विद्यमान हैं। यहाँ उनमें समाहित सब परम्पराओं का विवेचन न उपयुक्त है और न समीचीनही, प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल पद-परम्परा पर विचार प्रस्तुत किया जायेगा। फलतः उससे पूर्व उसके स्रोतों पर दृष्टिपात कर लेना उचित है।

१. वेदों में गीति-तत्त्व

आर्यों के द्वारा वेदों का निर्माण प्रकृति की रम्य गोद में किया गया था, जब आर्यों की सभ्यता और संस्कृति की अविकसित आदि अवस्था थी। उस जीवन में उन्हें जो भी भय, विषाद और हर्ष की अनुभूतियाँ हुईं उनको स्तुतियों के माध्यम से उन्होंने अभिव्यक्त किया। ये स्तुतियाँ अग्नि, सविता, वरुण, मरुत, विष्णु, इन्द्र, रुद्र आदि देवताओं के सम्बन्ध में प्रस्तुत की गई थीं, जिनका संग्रह ऋग्वेद में उपलब्ध है।

देवताओं को समर्पित इन स्तुतियों में यदि कहीं भय और विषाद की भावनाएँ पिरोई हुई हैं तो कहीं हर्ष और समारोह की और कहीं संघर्ष और युद्ध की। इस तथ्य से उनमें आर्यों का आत्माभिव्यंजन तो हुआ ही है; किन्तु एक भाव-धारा रहने के कारण विचारों की एकरूपता भी प्रतिष्ठित है। वे अधिक लम्बी नहीं है जो स्तुतियाँ लम्बी हैं उनमें भी मुक्त भाव है और अधिकांश प्रायः चार चरण के दस पद्यों में पूर्ण हुई हैं, इस प्रकार उनमें संक्षिप्तता समादृत है। ऋग्वेद की ऋचाओं के संहिता पाठ और पद पाठ दो रूप उपलब्ध हैं। प्रथम के द्वारा शब्दों की योजना और द्वितीय के द्वारा शब्दों के उच्चारण की व्यवस्था इङ्गित है। चिह्नित शब्द उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की ध्वनि का लक्ष्य करते हैं। इस प्रकार वेद की ऋचाओं का पाठ ध्वनि और लय के साथ करने की परम्परा कालान्तर में ही नहीं आज तक विद्यमान है। इस लक्ष्य से ऋग्वेद में संगीतात्मक तत्त्व पूर्ण रूप से विद्यमान हैं।

ऋग्वेद के अतिरिक्त अवशिष्ट सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी गीति तत्त्व हैं; किन्तु ऋग्वेद के समान नहीं। इनमें सामवेद का अपना विशेष स्थान है यह संगीत का ही वेद समझा जाता है। इन तथ्यों से वेदों में गीतात्मकता विद्यमान है।

२. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (संस्कृत) का गीति-काव्य

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा अपने साहित्य में जिस प्रकार सम्पन्न है वह हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं। उसमें गीति-काव्य भी प्रभूत मात्रा में लिखा गया है,

जो हिन्दी गीति-काव्य को प्रभावित और आभारी करता रहा है।

कालिदास का 'मेघदूत' गेय है। इसी की परम्परा में वेदान्त देशिक, वामन भट्ट, रूप गोस्वामी आदि ने—'हंसदूत' लिखे, जिनके संदेशों में आत्माभिव्यंजन के अतिरिक्त अन्य गीति तत्त्व भी समादृत हैं। आर्या अथवा गाहा छन्द गेय रहा है। प्राकृत में हाल द्वारा रचित और संग्रहित 'गाथा सप्तशति' के अनुकरण पर गोवर्धनाचार्य ने 'आर्या सप्तशती' लिखी, जिसका प्रत्येक आर्या मुक्तक और गेय है।

संस्कृत में स्तोत्र साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में लिखा गया है, जिसमें उनके रचयिताओं ने अपनी दीनता और विनम्रता व्यक्त करते हुए अपने आराध्य की कृपा प्राप्त करने के लिए आत्माभिव्यंजन किया है। इनमें विचारों की एकरूपता, संगीतात्मकता आदि तत्त्व भी समाहित हैं। इस शैली में रचित आचार्य पुष्पदन्त का 'शिव महिम्नस्तोत्र', मयूर भट्ट का 'सूर्यशतक', वाणभट्ट का 'चण्डीशतक', शंकराचार्य की 'सौन्दर्यलहरी', पण्डितराज जगन्नाथ की 'करुणालहरी, गङ्गालहरी', 'अमृत-लहरी', 'लक्ष्मीलहरी' 'सुधालहरी' आदि प्रमुख हैं।

संस्कृत की गेय काव्य की सम्पूर्ण रचनाओं में अभिनव जयदेव का 'गीत-गोविन्द' सबसे अधिक लोकप्रिय और मधुर सिद्ध हुआ है। इसमें राग-रागनियों के माध्यम से राधा-कृष्ण के प्रेम-विलास का स्वच्छन्द उल्लेख किया गया है जो अपूर्व और अनुकरणीय रहा है। इस काव्य की भावधारा ने हिन्दी, बंगला और मैथिली कृष्ण काव्य को समान रूप से प्रभावित किया है।

कर्णाट राग—यतिताल में रचित गीत गोविन्द का निम्न गीत देखिए—

निन्दति चन्दनमिन्दुकिरण मनुविन्दति खेदम धीरं।
व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरं॥
सा विरहे तव दीना।
माधव मनसिजविशिखपयादिव भावनया त्वयिलीना॥
अविरलनिपतितमदनशरादिव भवदवनाय विशालं।
स्वहृदयमर्मणि वम करोति सजलनलिनीदलजालं॥
कुसुमविशिखशरतल्पमनल्पविलासकलाकमनीयं।
व्रतमिव तव परिरम्भसुखाव करोति कुसुमशयनीयं।

× × ×

आवासो विपिनायते प्रियसखी मालाऽपि जालायते।
तापोऽपि श्वसितेन दावदहनज्वालाकलापायते॥
साऽपि त्वद्विरहेण हन्त हरिणीरूपायते हा कथं।
कन्दर्पोऽपि यमायते विरचयन् शार्दूलविक्रीड़ितं॥

राधा की सहेली ने कृष्ण से कहा—मेरी सखी तुम्हारे वियोग में आकुल-व्याकुल है। चन्दन का लेप उसे पसन्द नहीं, चन्द्रमा की किरणें उसे जलाती हैं

श्रौर मलय पवन तो उसे विष के समान ही लगता है। तुम उसके हृदय में सदा समाए रहते हो, कामदेव के वाण तुम्हें चोट न पहुँचाएँ इससे अपने हृदय के मर्म की रक्षा के लिए कमलदल को उसने ढाल बना लिया है। उसे सुन्दर पुष्पशय्या शरशय्या प्रतीत होता है। तुम्हारे श्रालिङ्गन द्वारा सुख मिले, इससे मानो वह व्रत कर रही है। मेरी सखी का घर वन है, पुष्पहार फन्दा है, साँस दावानल की ज्वाला है, उस हरिणी के लिए कामदेव कालन्त है। मृत्यु उसके साथ बाघ का खेल खेल रहा है।

इस गीत में गीत के सभी तत्त्व समाहित हैं इसी के समान सरस श्रौर मधुर श्रन्य गीत भी गीतगोविन्द में मिलते हैं। वस्तुतः गीत शैली के काव्य का श्रभिवृद्धि में इस काव्य ने बड़ी ही श्रभिप्रेरणा प्रदान की है।

३. मध्य भारतीय श्रार्य भाषा का गीत काव्य

(श्र) पालि-साहित्य में गीतात्मकता—गम्भीर श्रौर सिद्धान्तों से बोझिल पालि साहित्य में यदि काव्य के तत्त्व कहीं हैं तो 'थेर' श्रौर 'थेरी' गाथाश्रों में हैं। ये 'सुत्तपिटक' के श्रन्तर्गत 'खुद्दकनिकाय' की पन्द्रह पुस्तकों में प्रमुख हैं। 'थेर गाथा' में २६४ बौद्ध भिक्षुश्रों की १२७९ श्रौर 'थेरी गाथा' में ७३ बौद्ध भिक्षुणियों की ५२२ गाथाएँ उपलब्ध हैं।

इन गाथाश्रों में उस सुख, हर्ष श्रौर उल्लास का भाव है जो भिक्षु-भिक्षुणियों ने श्रर्हत पद की प्राप्ति से किया है। श्रन्तस्तल के चित्रण के कारण श्रात्माभिव्यंजन का सबल स्वरूप इनमें उपलब्ध है श्रौर इस तत्त्व के माध्यम से जब इन दोनों काव्यों पर विचार किया जाता है तब 'थेर गाथा' की श्रपेक्षा 'थेरी गाथा' श्रधिक भावापन्न श्रौर मधुर सिद्ध होती है। थेरों (भिक्षुश्रों) की भावधारा प्रकृति श्रौर बाह्य वातावरण से प्रभावित है जबकि थेरियों (भिक्षुणियों) की भावनाएँ श्रन्तस्तल से निसृत हैं। नारी होने के नाते पुरुषों की श्रपेक्षा उनकी भावनाश्रों का श्रधिक मार्मिक श्रौर कोमल हो जाना भी स्वाभाविक है। इस स्थल पर उनकी भाव-सामग्री से परिचित होने के लिए उनकी गाथाश्रों पर दृष्टिपात कर लेना उचित है।

१. थेरी गाथा—इस काव्य में भिक्षुणियों की भावनाएँ गाथाश्रों में पिरोई हुई हैं। कुछेक देखिए—

कौशल जनपद में मुक्ता नाम की एक ब्राह्मण कन्या थी। जिसका कुबड़े पति से विवाह हुश्रा था। श्रपने पति की श्राज्ञा से उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर श्रर्हत्व प्राप्त किया। तद्विषयक उल्लास में उसने श्रपनी निम्न भावनाएँ व्यक्त कीं—

'सुमुत्ता साधु मुत्त'म्हि तीहि खुज्जेहि मुत्तिया।
उदुक्खलेन मुसलेन पतिना खुज्जकेन च।
मुत्त'म्हि जातिमरणा भवनेत्ति समूहता॥
—(थेरी गाथा, मुत्ता ११)

(मैं सुमुक्त हो गई। मैं अच्छी मुक्त हो गई। तीन टेढ़ी चीजों से मेरी मुक्ति हुई—उखली से, मूसल से, अपने कुबड़े पति से। मैं जन्म-मरण से मुक्त हो गई हूँ। मेरी भव-वेड़ी ही विनष्ट हो गई है।)

सुमंगल-माता का श्रावस्ती के निर्धन परिवार में जन्म हुआ था। एक छाता बनाने वाला उसका पति था। प्रव्रज्या ग्रहण करने के उपरान्त उसने कठोर साधना द्वारा ज्ञान प्राप्त किया। अनन्तर अपने सुख को उसने इस प्रकार व्यक्त किया—

'सुमुत्तिके सुमुत्तिका साधु मुत्तिक'म्हि मुसलस्स।
अहिरिको मे छत्तकं वा पि उक्खलिका मे दलिद्दभावा'ति ॥
रागञ्च अहं दोसञ्च विच्छिन्दन्ती विहरामि।
सा रुक्खमूलमु 'पगम्म' अहो सुखंति सुखतो झायामि।।'

—(थेरी गाथा २३-२४)

(मुझ मुक्त की मुक्ति साधु है। मैं मूसल से मुक्त हो गई हूँ। अपने स्वामी के बनाए हुए छातों की डण्डियों से भी मेरी देह दुर्बल थी। मैंने जीवन के राग और दोषों का परित्याग कर दिया है। मैं वृक्ष-मूलों का ध्यान करती हूँ। मैं सुखी हूँ और सुख से ध्यान करती हूँ।)

शैला आलवी नगर के राजा की कन्या थी। पिता से उपदेश प्राप्त कर उसने बुद्ध-धर्म में दीक्षा ग्रहण की। अनन्तर वह भिक्षुणी बन गई। एक मध्याह्न में श्रावस्ती के अन्धवन में विश्राम करने गई। वहाँ छद्मवेशधारी कामदेव ने उसे फुसलाया किन्तु अर्हत्व ज्ञान को प्राप्त उसने उसे निम्न उत्तर दिया—

'सत्तिसूलूपमा कामा खन्धानं अधिकुहना।
यं त्वं कामरतिं ब्रूसि अरति दानि सा मम ॥
सब्बत्थ विहता नन्दि तमोक्खन्धो पदालितो।
एवं जानाहि पापिम निहतो त्वम'सि अन्तक ॥'

—(वही—५८-५९)

(कामदेव! भोग का सुख मुझे भाले के समान लगता है। जिसे तुम विलास का सुख कहते हो वह मेरे लिए घृणा की चीज है। मेरी भोगासक्ति विनष्ट और अज्ञानान्धकार दलित हो चुका है। पापी! यह समझ लो कि तुम्हारा ही अन्त कर डाला गया।)

अंबपाली का वैशाली के राजोपवन में आम के पेड़ के नीचे जन्म लेने से यह नाम पड़ा। अवस्था प्राप्त होने पर उसका सौन्दर्य निखर आया। उससे विवाह करने की इच्छा रखने के कारण वैशाली के राजकुमारों में परस्पर स्पर्धा हुई। अनन्तर पंचायत के निर्णय से वह सभी की सामान्य पत्नी बनी। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जब गौतमबुद्ध वैशाली गए तो वह उसी के उपवन में ठहरे। उसने भगवान् बुद्ध से उपदेश ग्रहण किया और अपना उपवन संघ को दान कर दिया। अनन्तर अपने

पुत्र विमल कौंडन्य से उसने प्रव्रज्या ली। वृद्धावस्था में शरीर के परिवर्तनों को देख कर उसे बुद्ध-वाणी में सत्यता प्रतीत हुई। वह अपने दुर्बल और जर्जरित शरीर को देखकर कहती है—

कालका भमरवण्णसदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहुं।
ते जराय साणवाकसदिसा सच्चवादिवचनम' नञ्जथा॥
चित्तकारसुकता व लेखिता सोभते सु भमुका पुरे मम।
ता जराय वलीहि पलम्बिता सच्चवादिवचनम् नञ्जथा॥
पीनवट्टपहितुग्गता उभो सोभते सु थनका पुरे मम।
थेवीं'ति वलम्बते नोदका सच्चवादिवचनम म' नञ्जथा॥
एदिसो अहु अयं समुस्सयो जज्जरी बहुदुक्खानमा'लयो।
सो पलेपपतितो जराघरो सच्चवादिवचनम्' नञ्जथा॥

—(थेरी गाथा, मुत्ता-२५२- ५६-२६५-२७०)

(काले भौंरे के रंग के समान मेरे घुँघराले बाल थे। वही आज वृद्धावस्था के कारण सन के समान हैं—सत्यवादी बुद्ध के वचन कभी अन्यथा नहीं होते।

चित्रकार द्वारा कुशलतापूर्वक अङ्कित की हुई मेरी दो भौंहें थी, वही वृद्धावस्था के कारण झुर्रियाँ पड़कर नीचे लटकी हुई हैं—सत्यवादी बुद्ध के वचन कभी अन्यथा नहीं होते। पीन, गोल और उन्नत कभी मेरे दोनों स्तन थे, वही आज जल-रहित चमड़े की बाल्टी के समान लटके हुए हैं। सत्यवादी बुद्ध के वचन कभी अन्यथा नहीं होते।

एक समय यह शरीर इस प्रकार का था, किन्तु इस समय यह जर्जर और दुःखों का घर है। जीर्ण-शीर्ण घर जैसे विना लिपाई-पुताई के मिट जाता है वैसे ही यह शरीर भी शीघ्र ही गिर जावेगा। सत्यवादी बुद्ध के वचन कभी अन्यथा नहीं होते।)

२. थेर गाथा—'थेरगाथा' में भी 'थेरी गाथा' के समान आत्माभिव्यंजन का पूर्ण स्वरूप विद्यमान है। नारी होने के नाते भिक्षुणियों की भावनाओं में जो कोमल अभिव्यंजना है वह भिक्षुओं की गाथाओं में अवश्य नहीं है; किन्तु व्यष्टि, समष्टि, प्रकृति आदि को लेकर उनकी अन्तस्तल की वाणी सस्वर है, यह ध्रुव सत्य है।

बौद्ध धर्म में मैत्री चिन्तकों में सुभूति का प्रमुख स्थान था। वह वर्षाकाल में राजगृह में खुले स्थान में रहने लगे। वर्षाकाल होने पर भी वर्षा नहीं होती थी। बिम्बिसार ने उनके लिए एक कुटी बनवा दी, जैसे ही उसने उसमें प्रवेश किया वर्षा हो उठी। उसने कुटी में बैठकर निम्न गाथा का गान किया—

छन्ना में कुटिका सुखा निवाता। वस्स देव यथासुखं।
चित्तं में सुसमाहितं विमुत्तं। आतापी विहरामि वस्स देवा'ति॥

—(थेर गाथा—१)

(कुटी मेरी छायी हुई है जो सुखद और वायु से सुरक्षित है। देव ! सुख पूर्वक बरसो। मुझ विमुक्त का चित्त अच्छी तरह समाधिस्थ है, मैं उद्यानी हो विहार करता हूँ। देव ! सुखपूर्वक बरसो।)

अजित कोशल नरेश के गणक ब्राह्मण के पुत्र थे। श्रावस्ती के भगवान् बुद्ध से उपदेश सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण की। अनन्तर निर्वाण के बोध होने पर वह अतीव हर्षित हुए—

मरणे मे भयं न'त्थि, निकन्ती न'त्थि जीविते।
सन्देहं निक्खिपिस्सामि सम्पजानो पटिस्सतो'ति। —(थेर गाथा २०)

(मुझे मृत्यु का भय नहीं और जीवन की इच्छा नहीं, ज्ञानपूर्वक स्मृतिमान होकर मैं इस शरीर का परित्याग कर दूँगा।)

समिद्धि राजगृह के सम्पन्न परिवार में जन्मे थे। जब अपने भिक्षु जीवन से सुखी हो वह आनन्द मना रहे थे तब कामदेव ने उन्हें बाधा प्रस्तुत कर दी। इस घटना को लक्ष्य करते हुए उन्होंने निम्न गाथा का गान किया—

सद्धाया'हं पब्बजितो अगारस्मा, अनगारियं।
सति पञ्जा च मे वुड्ढा चितञ्च सुसमाहितं।
कामं करस्सु रूपानि नेवेमं व्याधयिस्ससी'ति। —(वही-४६)

(श्रद्धापूर्वक मैंने घर परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की। मेरी स्मृति और प्रज्ञा समृद्ध और चित्त सुसमाहित है। काम ! तुम चाहो सो करो; किन्तु तुम मुझे बाधा नहीं पहुँचा सकोगे।)

सप्पक थेर ने श्रावस्ती के ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था। भगवान् बुद्ध से प्रव्रज्या ग्रहण कर अजकर्णी नदी के किनारे रहते हुए अर्हत्व प्राप्त किया। एक बार श्रावस्ती में बन्धुओं को उपदेश देकर जब वह अपने आश्रय को लौटना चाहते थे तब उन्होंने उनके जाने में व्यवधान प्रस्तुत किया। अनन्तर उन्होंने अपनी एकान्त प्रियता के सम्बन्ध में निम्न गाथाओं का गान किया—

यदा बलाका सुचि पण्डरच्छदा। कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
पलेहिति आलयमा' लयेसिनी। तदा नदी अजकरणी रमेति॥
यदा बलाका सुविसुद्धपण्डरा। कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
परियेसति लेणम' लेणदस्सिनी। तदा नदी अजकरणी रमेति॥
कं नु तत्थ न रमेति जम्बुओ उभतो तहिं।
सोभेन्ति आपगाकूलं महालेणस्स पच्छतो॥
तामतमदसंघसुप्पहीना। भेका मन्दवती पनादयन्ति।
ना'ज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो। खेमा अजकरणी सिया सुरम्भा'ति।
—(वही-३१०-३१३)

(मन स्वच्छ और उज्ज्वल पंखों से मुक्त बलाक वाले मेघ के भय से आश्रय

खोजने के लिए मानते हैं तब अजकर्णी नदी मुझे रम्य लगती है।

मन सुन्दर, शुद्ध और उज्ज्वल बलाक वाले मेघ के भय से गुफा न देखकर गुफा की खोज करते हैं तब मुझे अजकर्णी नदी रम्य लगती है।

जहाँ मेरी गुफा के पास नदी के दोनों किनारों पर जामुन के वृक्ष हैं वहाँ कौन नहीं रमते हैं?

सर्पों के अभाव में मेंढ़क धीरे-धीरे जाते हैं कि आज पर्वतीय नदियों से प्रवास का समय नहीं। अजकर्णी क्षेम है, शिव है और सुरम्य है।

संकिच्च राजग्रह के ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर अर्हत्व प्राप्त किया। उनके किसी सेवक उपासक ने जब उनसे गाँव के समीप रहने का अनुरोध किया तब वनवास के गुण गाते हुए उन्होंने कहा—

यथा अब्भानि वेरम्भा वातो नुदति पावुसे।
सञ्ञा मे अभिकीरन्ति विवेकपटिसञ्ञुता ॥
ना 'भिनन्दामि मरणं ना' भिनन्दामि जीवितं।
कालञ्च पटिकङ्खामि निब्बिसं भतको यथा ॥
ना 'भिनन्दामि मरणं ना' भिनन्दामि जीवितं।
कालञ्च पटिकङ्खामि, सम्पजानो पटिस्सतो'ति ॥

(थेर गाथा ६०१, ६०६, ६१०)

(वर्षा ऋतु में जब पवन मेघों को उड़ा ले जाता हैं तब मुझमें विवेकयुक्त विचार उठते हैं।

मैं न मृत्यु का अभिनन्दन करता हूँ और न जीवन का। मुक्त भृत्य की तरह मैं समय की प्रतीक्षा करता हूँ।

मैं न मृत्यु का अभिनन्दन करता हूँ और न जीवन का। ज्ञानपूर्वक, स्मृतिमान होकर मैं अपने समय की प्रतीक्षा करता हूँ।)

उपर्युक्त 'गाथाओं' की भावधारा पर विचार करने पर उनमें आत्माभिव्यंजन, विचारों की एकरूपता, संक्षिप्तता आदि तत्त्व सरलता से मिल जाते हैं, रही संगीतात्मकता वह स्वीकृत छन्द की लय में समाहित है। इन गाथाओं की रचना आर्या (गाहा या गाथा) छन्द की परम्परा में न होकर जातक बौद्ध ग्रन्थों में जहाँ श्लोकबद्ध रचनाओं को गाथा कहा गया है उस परिपाटी पर हुई है। भारतीय काव्यश-स्त्र के आधार पर श्लोकबद्ध रचनाएँ सदैव गेय रही हैं, फलतः इन गाथाओं में भी संगीतात्मकता का तत्त्व मिला जाता है। इन तथ्यों से पालि साहित्य के इन दो काव्यों को गीति काव्य के अन्तर्गत सरलता से रखा जा सकता है।

अ—प्राकृत गीति-काव्य

प्राकृत काव्य की गेयता वस्तुतः गाथा (गाहा)। छन्द के आश्रित रही है, इस

विशेषता के कारण प्राकृत के प्रायः सभी काव्य इसी छन्द में निर्मित हैं। इस स्थल पर कुछेक प्राकृत काव्यों को लेकर उनमें समाहित गीतात्मकता से परिचित हो लेना आवश्यक है।

आ—प्राकृत गेय काव्य

१. **सेतुबन्ध**—इस काव्य का लय 'रावणवहो' अथवा 'दहमुहवहो' है। इसके रचयिता काश्मीर नरेश प्रवरसेरन हैं। उनकी कीर्ति-कौमुदी बड़ी उज्ज्वल है और दूर-दूर तक छाई हुई है[1]। कवि ने इसकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में की है। जिसमें सूक्तियों का सागर भरा हुआ है।[2]

इस काव्य में १५ आश्वास हैं, जिनमें 'सेतुबन्ध' और 'रावणवध' के सजीव चित्र कवि द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। इस काव्य के संकेत हर्षचरित और 'काव्यादर्श' में उपलब्ध है। इससे यह रचना ५वीं शताब्दी में हुई प्रतीत होती है।

रावणवध के लिए जब राम सदल-बल समुद्र के किनारे पहुँचते हैं तब वह समुद्र की गरिमा देखकर सशङ्कित होते हैं—

अह पेच्छइ रहुतणओ चडुलं दोससअदुक्खबोलेअव्वम् ।
ऊमअरससारगरूअं कज्जारम्भस्स जोव्वणं व समुद्दम् ॥

(आश्वास २—१)

(इसके अनन्तर श्रीराम ने मकर-कल्लोल आदि की भयानकता के कारण दुर्ल्लंघनीय, चंचल, अमृत रस तथा रत्नादि से गौरवयुक्त समुद्र को देखा, वह ऐसा ज्ञात होता था मानो आरम्भ किए हुए कार्य का मध्य भाग हो।)

राम-कार्य में सहायक होने के लिए सुग्रीव बन्दरों को निम्न भावना से अभि-प्रेरणा और उत्तेजना प्रदान करता है—

धरणिधरणे भुअचिचअ महणम्मि सुरासुरा खअम्मि समुद्दा ।
हन्तव्वम्मि दहमुहे एण्हि तुम्हे त्थ महुंमहस्स सहाआ ॥

(आश्वास ३—३)

(जिस प्रकार भगवान् विष्णु के पृथ्वी निर्मित करने पर भुजाएं, समुद्रमन्थन के समय सुर और असुर और प्रलय के समय समुद्र सहायक होता है उसी प्रकार रावण-वध के इस कार्य में आप लोग (बन्दर) सहायक होइए।)

---

१. कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला ।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥ —हर्षचरित

२. महाराष्ट्राश्रयां भीषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः ।
सागर सूक्तिरत्नानां सेतुवन्धादि यन्मयम् ॥

—काव्यादर्श

रावण-वध के अनन्तर सीता को प्राप्त कर राम अयोध्या में पधारते हैं—

घेत्तूण जणअतणअं कञ्चणलट्ठिं व हुअवहम्मि विसुद्धम् ।
पत्तो पुरिं रहुवई काउं भरहस्स सप्फलं अणुराअम् ।

(आश्वास १५—९४)

(इसके अनन्तर अग्नि में विशुद्ध हुई कंचन यष्टि की तरह सीता को प्राप्त कर भरत के प्रेम को सफल करने के लिए राम अयोध्यापुरी पहुँचे ।)

काव्य के अन्तिम छन्द में कवि का कथन है कि सीता की प्राप्ति के कारण जहाँ रामाभ्युदय का वर्णन है तथा जिसमें सेतु-बन्ध और रावण वध आदि सीता के प्रति राम के अनुराग चिह्न हैं, जो सब व्यक्तियों को प्रिय है, वह रावणवध (सेतुबन्ध) काव्य द्वारा समाप्त किया गया है—

एत्थ समप्पइ एअं सीआलम्भेण जणिअरामब्भुअअम् ।
रावणवह त्ति कव्वं अणुराअङ्कं समत्थजणणिव्वेसम् ।।

(आश्वास १५—९५)

सम्पूर्ण काव्य की रचना वीर और करुण आदि रसों में हुई है । इसमें आदि से अन्त तक 'स्कन्धक' छन्द का ग्रहण किया गया है । स्कन्धक आर्यावृत्त का ही एक भेद है[1] जिसमें पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में चार मात्रा के आठ गण होते हैं ।[2] आर्या वृत्त के कारण इस काव्य में गेय तत्त्व पूर्ण रूप से विद्यमान है ।

२. **गौडवहो**—वाक्पति द्वारा रचित एक महाकाव्य है । यह ८वीं शताब्दी की रचना है । इसमें १२०९ आर्या (गाथा) छन्द हैं । यह महाकाव्य आश्वास, सर्ग का काण्ड आदि में विभाजित न होकर, कुलक शैली में रचित है । कुलक काव्य की वह शैली है जिसमें एक कुलक के सभी छन्द एक ही भावना में पिरोए हुए होते हैं ।

यह काव्य वस्तुतः कन्नौज के राजा यशोवर्मा का प्रशस्ति-मात्र है । यशोवर्मा के द्वारा गौड-नरेश के वध की घटना पर ही इस काव्य का निर्माण हुआ है । अपनी इस विजय के लिए वह पूर्व की यात्रा करता है और बंगाल तक पहुँचने में मार्ग में जो भी राजा मिलते हैं । उनको वह अपने आधीन करता चलता है ।

सम्पूर्ण काव्य में आर्या (गाथा) छन्द का ही प्रयोग किया गया है । विन्ध्य-वासिनि देवि की स्तुति की कुछ गाथाएँ देखिए—

---

1. Monier Williams—A Sanskrit English Dictionary.
Page, 1256

२. चउमत्ता अट्ठगणा पुव्वद्धे उत्तरद्ध होइ ससूआ ।
सो खन्धआ विआणहु पिङ्गल पभणइ मुद्धि बहुसंभेआ ।।
('सेतुबन्धम्' निर्णयसागर प्रेस, पृष्ठ ५)

बन्दी-गय-महिसासुर-कुल-कण्ठुम्मोइएहिंव तुमाए।
भाहवि घण्टा-दामेहिं मण्डियं तोरण-द्वारं ।।२८५।
भमरावलिओ भइरवि तुज्झं भवणाइरम्मि सामोए।
थुइ-मेत्तुम्मोइय-जन्तु-णिअल-माला-ओव लुढ़त्ति ।।२८७।।
णणु तुम्हं संभरणे रणम्मि विहडन्ति वारण-घडाओ।
दुराउ-च्चिय वाहण-मइन्द-ख-विद्यु याउव्व ।।२८८।।
तुह चचिण चलण-कमलाणुवत्तिणो कह णु संजमिज्जत्ति।
सेरिह-वह-सङ्किय-महिस-हीरमाणणव जमेण ।२८९।।
तुहिण-इरी देवि तुमाइ जणय-भावेण गारवं नोओ।
विज्झायलोवि कन्दर-निवास-लील.एँ कल्लाणि ।.२९०।।

[हे विन्ध्यवासिनि देवि ! तुम्हारे द्वारा वन्दीकृत महिषासुर कुल के कण्ठ से तोड़ी हुई घण्टुलियों द्वारा बना हुआ यह तुम्हारा तोरण-द्वार है ।।२८५।।

हे देवि भैरवि ! कुसुम, धूप आदि की गन्ध से सुशोभित तुम्हारे गृहाङ्गण में भ्रमरावलियाँ ऐसी सुशोभित हो रही हैं मानो स्तुतिमात्र से जीवों की टूटी हुई संसार की बन्धन-मालाएँ हों ।।२८७।।

हे देवि ! तुम्हारे स्मरणमात्र से रणक्षेत्र से हाथियों के समूह विघटित होकर भागने लगते हैं मानो वे तुम्हारे वाहन मृगेन्द्र के द्वारा भगाए जा रहे हों ।।२८८।।

हे देवि चण्डि ! तुम्हारे चरणकमलों के उपासक भक्त यम के द्वारा कैसे बाँधे जा सकते हैं क्योंकि महिषासुर के बध से शङ्कित होकर यम का महिष डर जाता है और यम लज्जित हुए से उस भक्त के पास नहीं जाते हैं ।।२८९।।

हे देवि ! जन्यजनक भाव के कारण हिमालय को तुमने गौरव दिया है। (हिमालय गौरी का पिता है) तथा विन्ध्याचल को भी उसकी कन्दरा में निवास करके उसे गौरवान्वित किया है।।२९०।।]

'सेतुवन्ध' और 'गउडवहो' दोनों प्रबन्ध काव्य हैं इनकी वस्तु कथावृत्तों पर आधारित है। इनके अतिरिक्त प्राकृत काव्य में 'गाथासप्तशती' और 'वज्जालग्ग' दो प्रमुख मुक्तक काव्य हैं। ये दोनों संग्रह काव्य हैं। प्रथम का संग्रहकर्त्ता सतवाहन हाल है और द्वितीय का जयवल्लभ। इन दोनों में शृंगार, नीति आदि विविध प्रकार की गाथाएँ संग्रहीत है। दोनों में गाथा (आर्या) छन्द का प्रयोग हुआ है। गाथा-सप्तशती की काव्य वस्तु देखिए—

३. **गाथा सप्तशती**—प्राकृत की यह रचना बड़ी प्रभावोत्पादक रही है। इसने अनन्तर के काव्य में सतसई (सप्तशती) परम्परा को अभिप्रेरित किया है। यहाँ तक इसके अनुकरण में गोवर्धनाचार्य ने 'आर्यासप्तशती' और अमरुक ने 'अमरुक शतक' अपनी-अपनी रचनाएँ संस्कृत में प्रस्तुत की हैं।

प्राकृत में स्वयमेव माधुर्य समाहित रहता है; किन्तु उसके साथ शृंगार रस

के समन्वय हो जाने के कारण गाथासप्तशती की गाथाएँ अत्यधिक मधुर हो उठी हैं। शृंगार की संयोग और वियोग की मधुर भावनाएँ पग-पग पर उपलब्ध होती हैं।

मानवती नायिका को मनाते हुए नायक की निम्न भावना देखिए—

दे सुग्रण पसिग्र एह्वि पुणो' वि सुलहाइं रूसिअव्वाइं।
एसा मग्रच्छि मग्रलञ्छणुज्जला गलइ छछराई।।[1] (५-६६)

प्रिय के दर्शनमात्र से ही उसके बिना किसी अनुनय-विनय के ही नायिका ने मान छोड़ दिया है। उसकी इस स्थिति को देखकर उसकी सखी मान के सुखों को समझाती हुई कहती है—

पाअपउरणॅण मुद्धे रहसबलामोडिचुम्बिअव्वाणम्।
दंसणमेपसण्णे चुक्कासि सुहाणं बहुआणम्।।[2] (५-६५)

हल जोतते हुए किसान ने ज्योंही भोजन लाते हुए अपनी सुन्दरी प्रियतमा को देखा वह प्रेम-विह्वल हो गया और बैलों के जोत खोलने के स्थान पर नाथ ही खोल बैठा—

णवकम्मिएण हअपामारेण दठ्ठूण पाउहारीओ।
मोत्तव्वे जोत्तअपग्गहम्मि अवहासिएी मुक्का।।[3] (७-९२)

विरह-कृशिता नायिका उपपति की वाणी को सुनकर भेंट के प्रलोभन से बाहर चली तो आई; किन्तु उसका लौट सकना सम्भव न हो सका। अन्ततः दूसरों के द्वारा वह ले जाई जा सकी। इस आशय के कथन से दूती उसे उत्साहित करती है—

तुह दंसणे सअह्वासद्दं सोउण णिग्गदा जाई।
तइ वोलीणे नाइं पआइं वोढ़व्विआ जाआ।।[4] (६-५)

---

१. प्रिये सुतनु ! प्रसन्न हो जाओ। क्रोध के अवसर फिर आवेंगे; किन्तु चन्द्र-ज्योत्सना से रमणीक और सुन्दर लगने वाली यह रात्रि समाप्त हो रही है। अतः इस समय मान छोड़ दो। संभोग सुख प्राप्त करो, मान फिर कर लेना। ५-६६.

२. मुग्धे ! तू तो प्रिय के दर्शनमात्र से ही सन्तुष्ट हो गई। अतः पैरों पर गिरने, बलपूर्वक चुम्बन करने आदि अनेक प्रकार के सुखों से तू वंचित रह गई। ५-६५.

३. हल चलाने में अनभ्यस्त किसान ने भात (भोजन) लाने वाली सुन्दरी को देखकर प्रेमातिशय के कारण बलों के जोता खोलने के स्थान पर नाथ खोल दी। ७-९२.

४. तुम्हें देखने के लिए सतृष्ण नायिका तुम्हारा शब्द सुनकर जितने पग बाहर आई तुम्हारे चले जाने पर वह उतने ही पग दूसरों के द्वारा ले जाई गई। ६-५.

विरहणियाँ स्वप्न में प्रिय-दर्शन के द्वारा अपने को धन्य करती हैं; किन्तु निम्न कथन करने वाली यह नायिका विशेष अनुरागवती है जो प्रिय के बिना निद्रारहित रहती है।

धण्णा ता महिलाओ जा वइअं सिविणए वि पेच्छन्ति।
णिद्द व्विअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणम्॥[1] (४-९२)

नायक के आगमन की प्रतीक्षा में नायिका ने प्रथम अर्धरात्रि तो सुख-पूर्वक शीघ्र ही बिता दी; किन्तु उसके न पधारने पर उसका शेष अर्धरात्रि काट सकना दूभर हो गया, इस तथ्य को कोई दूती नायक से कहती है—

एहिसि तुमं त्ति णिमिस व जग्गिअ जामिणीअ पढ़मद्धम्।
सेसं संतावपरव्वसाइ वरिसं व वोलीणम्॥[2] (४-८५)

उपर्युक्त के समान गाथासप्तशती में शृंगार की उत्कृष्ट कोटि की गाथाएँ संग्रहीत हैं। इन सभी में गाथा (आर्या) छन्द का प्रयोग किया है। फलतः उनके माध्यम से इस काव्य में गेय तत्त्व पूर्ण रूप से अक्षुण्ण रह सके हैं।

प्राकृत काव्य में गेय तत्त्व

प्राकृत काव्य संस्कृत की अपेक्षा जन-जीवन के अधिक समीप था। नाटकों में उसके ग्रहण किए जाने से यह तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है। इसी कारण से प्राकृत क्षेत्र अधिक व्यापक हो रहा था और उसमें 'रावणवही', गौडवहो', 'गाथासप्तशती,' 'वज्जालग्ग' आदि स्वतंत्र साहित्यिक रचनाएँ भी प्रस्तुत हो उठी थीं। इस संबंध में प्राकृत पालि की अपेक्षा भी अधिक भाग्यवान् है, क्योंकि बौद्ध साहित्य के अतिरिक्त उसमें प्राकृत-काव्य के समान किसी स्वतन्त्र रचना का सृजन नहीं हुआ है। कहने का आशय यह है कि प्राकृत आधुनिक लोक-भाषाओं के अधिक समीप पहुँच रही थी।

मधुर और सर्वसुलभ होने के अतिरिक्त आर्या का नवीन संस्करण गाथा जो प्राकृत में प्रस्फुटित हो उठी है, इससे गीतात्मकता के प्रचार और प्रसार में अधिक सुविधाएँ हुई हैं। संस्कृत नाटकों में भी गीतात्मकता के सम्मोहन के कारण कितनी ही आर्या (गाथा) का सन्निवेश हो उठा है, इसका उल्लेख किया ही जा चुका है। अनन्तर प्राकृत में विवेचित रचनाओं को प्राप्त कर जन वर्ग की गीतात्मकता की तृप्ति हो उठना अवश्य स्वाभाविक है।

---

१. वे स्त्रियां धन्य हैं जो स्वप्न में ही प्रिय को देख लेती हैं; किन्तु मुझे तो नायक (प्रिय) के बिना नींद ही नहीं आती, फिर स्वप्न कौन देखे? ४-९७.
२. तुम आओगे इस आशा में उसने (नायिका ने) रात्रि के प्रथम अर्धभाग को पल भर की तरह बिता दिया और न आने पर सन्ताप से दुःखी होकर शेष अर्धरात्रि को वर्ष की तरह बिताया। ४-८५

प्राकृत में 'रावणवहो' और 'गौडवहो' दोनों महाकाव्य हैं, इतिवृत्त पर आधारित होने के कारण आत्माभिव्यंजन का वैसा सफल स्वरूप इनमें अवश्य नहीं है जैसा गेय काव्य के लिए अपेक्षित है; किन्तु छन्द में समाहित इतिवृत्तात्मक गेयता तो वहां है ही, इसे भला कौन अस्वीकार कर सकता है ? इन काव्यों ने अपभ्रंश में चरित-काव्य रचने की अभिप्रेरणा दी और भक्तिकाल के चरित-काव्य तथा कृष्ण और रामपरक गेय काव्य भी आभिप्रेरित किए हैं। इन इतिवृत्तात्मक काव्यों के अतिरिक्त 'गाथासप्तशती' और 'वज्जालग्ग' मुक्तक रचनाओं में आत्माभिव्यंजन और वैयक्तिक तथ्यों पर आधारित संक्षिप्तता भरपूर है। इस सम्बन्ध में 'गाथासप्तशती' अधिक सम्पन्न और लोकप्रिय है।

पालि-साहित्य में गेय-तत्त्व 'थेर गाथा' और 'थेरी गाथा' में ही थे, यह हम देख चुके हैं, किन्तु प्राकृत साहित्य में यह प्रवृत्ति अधिक सबल हो उठी है, 'गाथा-सप्तशती' में तो उसका पूर्ण उत्कर्ष ही विद्यमान है।[1] यह सत्य है कि पाली और प्राकृत काव्यों की गीतात्मकता 'पद' रूप का पूर्ण स्वरूप तो अवश्य प्रस्तुत नहीं करती है; किन्तु उनसे वे लक्ष्य और अभिप्रेरणाएँ अवश्य सप्राण और जीवन्त हो उठी हैं जिनसे अपभ्रंशकाल में सिद्ध सन्तों ने राग-रागनियों को अपनी भावनाओं के प्रस्फुटन का आधार बनाया और इस सम्बन्ध में पालि की अपेक्षा प्राकत-काव्य अधिक सम्पन्न, मुखर और अपभ्रंश के समीप है।

इ—अप्रभ्रंश—गीति-काव्य

अपभ्रंश साहित्य के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों में वर्णन प्रस्तुत किया जा चुका है। उसमें बौद्ध सम्प्रदाय के अन्तर्गत सहजयानी सिद्ध-सन्तों और जैनाचार्यों का साहित्य उपलब्ध है, जिसमें गीति-काव्य का अपना स्थान है। सिद्ध सन्तों के गीति-काव्य ने धार्मिकतापरक साहित्यिक गीति लिखने की यदि प्रेरणा दी है तो जैनाचार्यों के रास, फाग और चचरि काव्य ने लोक-गीतों को प्रोत्साहित किया है। वस्तुतः दोनों का गीति-काव्य अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है।

सिद्ध सन्तों का गीति-काव्य

जो बौद्धधर्म अपनी सरलता, पवित्रता और स्वाभाविकता के बल पर वैदिक

---

1. The Gatha saptashati is an anthology in Maharashtri Prakrit of above seven hundred erotic verses in the Arya metre and occupies an unique place. as a lyrical poem in the history of sanskrit poetry.

—Gopinath kaviraj

गाथा-सप्तशती (निर्णयसागर प्रेस) १९३३

धर्म को पृष्ठ-भूमि में छोड़कर भारत तथा एशिया के पूर्वी और मध्य भाग का प्रमुख मानवतावादी धर्म बना था, उसमें तीन-चार सौ वर्ष के अनन्तर ही आडम्बर और कृत्रिमता के विकार प्रविष्ट हो उठे। धीरे-धीरे उसके गौरव के तत्त्व विलीन हो गए, जिसके फलस्वरूप हिन्दू-धर्म की प्रतियोगिता में उसका स्थिर रहना कठिन ही नहीं असम्भव हो गया। प्रथम ईसवी शताब्दी में महायान और हीनयान उसके दो खण्ड हो गए। हीनयान में यद्यपि अब तक बौद्धधर्म की चिन्तन तथा ज्ञानार्जन आदि की परम्पराएँ विद्यमान थीं; किन्तु महायान स्वयं प्रतिक्रियावादी होकर बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों से हीन हो गया। उसने व्यवहार-पक्ष को अपनाकर एक लौकिक स्वरूप धारण कर लिया। इसमें मंत्र-तंत्र-योग के प्रति अभिरुचि जागृत हुई। कालान्तर में महायान ही वज्रयान में परिवर्तित हो गया। महायान की इस वज्रयानी शाखा पर आचार्य शंकर के सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था।

महायान की इस नवीन शाखा के अन्तर्गत सिद्ध सन्तों ने धार्मिक सिद्धान्तों को अपनी कविता का विषय बनाया। इसमें उनकी मौलिकता समाहित थी। जो वज्रयान मद्य, मैथुन आदि के स्वीकृत आचरणों से समाज में पतित और हीन हो उठा था उसमें फिर इन सिद्ध कवियों ने विशुद्ध आचरण और मानवीय धर्म का प्रतिपादन कर एक नवीन आदर्श का पोषण किया।

म० म० हरप्रसाद शास्त्री के 'बौद्धगान ओ दूहा' के प्रकाशनोपरान्त ही अपभ्रंश-साहित्य के शोध और अध्ययन का कार्य प्रारम्भ हुआ है। अनन्तर डा० शहीदुल्ला के 'ला चांट्स मिसतीक्स द कान्ह एंद सरह' डा० प्रबोधचन्द्र बागची के 'दोहा-कोश' और श्री राहुल सांकृत्यायन के 'हिन्दी-काव्यधारा' के प्रकाशनों से इस ओर का अध्ययन अग्रसर और प्रशस्त हुआ है।

श्री राहुल जी ने इन सिद्ध सन्तों को संख्या में ८४ माना है। ये सिद्ध सभी वर्णों के थे। इनमें निम्न सिद्धों ने प्रमुखतः काव्य द्वारा अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था—

सरहपा (सं० ८१७), शबरपा (सं० ८३७), भुसुकुपा (सं०८५७)
लुइपा (सं० ८८७), विरूपा (स० ८८७), डोम्बिपा (सं० ८९७)
दारिकपा (सं० ८९७), गुंडरीया (सं० ८९७), कुकुरिपा (सं० ८९७)
कमरिपा (मं० ८९७), कण्हपा (सं० ८३७), गोरक्षपा (सं० ९०१)
तिलोपा (सं० १००७), शान्तिपा (सं० १०५७) आदि[1]

इन सिद्ध सन्तों का कार्य-क्षेत्र विहार, उड़ीसा, बंगाल और हिमालय के नीचे तराई में कामरूप से हिङ्गजाल तक फैला था। इन कतिपय प्रान्तों में फैले होने के कारण उनकी कविता की भाषा में वहां के तत्त्वों का अभिन्न अङ्ग बन जाना स्वाभा-

---

१. डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५५

विक था। इस प्रान्त-भेद के कारण विद्वानों ने उनकी भाषा प्रमुखतः बंगला और उड़िया बताई है। श्री राहुल जी ने उसे मगही कहा है। मगही देश के पूर्वी भाग में व्यापक होने के कारण ये सब भाषाएँ मागधी अपभ्रंश के भीतर समा जाती है। श्री राहुल का कथन ही विशेष संगत है।

लोक-जीवन में घुले-मिले होने के कारण इन सिद्धों ने अपने चर्यागीतों और दोहों में जन-वाणी का ही प्रयोग किया था। इस प्रयुक्त नवीन और सरल शैली में इन्होंने अपने सहजयान सम्प्रदाय के तात्विक सिद्धांतों को भरकर जन-जीवन को पुनः अपने मानवीय धर्म की ओर अभिप्रेरित किया। जन-वर्ग उनकी वाणियों से आश्वस्त हुआ। बौद्धधर्म के इस परिवर्तित स्वरूप में उनकी श्रद्धा पुनः जागृत हो उठी। ये सिद्धान्त ही किसी-न-किसी रूप में 'नाथ सम्प्रदाय' और अनन्तर कबीर के 'सन्त मत' में ग्रहण कर लिए गए थे। इन सबका विवेचन प्रबन्ध में यथास्थल किया गया है। अतः उनके सिद्धान्त और उनकी व्यापकता वहीं दृष्टव्य हैं। अब इस स्थल पर यह देखना ही उचित है कि इन सिद्धों ने पद-शैली को कहाँ तक अपनाया है।

सांसारिक सुख स्पष्टतः विश्व के निर्वाण हैं; किन्तु मानव यह नहीं समझता कि वह स्वयं अपने लिए बन्धन निर्मित कर रहा है। सिद्ध जन्म-मरण के भय से मुक्त है। उसके लिए ये लौकिक सुख-दुःख अचिन्त्य है। वस्तुतः प्राणी का यही निर्वाण है।

राग-गुंजरी

अपणे रचि रचि भव निब्बाणा। मिच्छे लोअ बँधावइ अपणा।
अक्खेण जाणहु अचिन्त जोई। जाम मरण भव कइसन होई॥
जइसो जाम मरण' वी तइसो। जीवँतें भइलें णाहि विशेशो।
जा एथु जामा मरणें विशंका। सो करउ रस रसाने रे कंखा॥
जो सचराचर तिअस भमन्ति। जे अजरामा किम्प न होन्ति।
जामे काम कि कामे जाम। सरह भणइ अचिन्त सो धाम॥[1]

सरह का एक गीत और विचारणीय है जिसमें कल्याण के लिए वह सच्चे मनोराज्य का समर्थन करता है। आत्मज्ञान के लिए अपने मन का विश्वास करो और सीधे-सरल मार्गों को ही प्रमुखता दो। प्रपंच में पड़ना अनुचित है। सरह का कथन है कि सरल (सहजयानी) मार्ग पर चलने से विषम परिस्थितियां भी अनुरूप हो जाती हैं।

राग-देशाख

नाद न बिन्दु न रवि-शशि-मंडल, चीअ राअ-सहावे मूकल।

१. राहुल सांकृतायन—हिन्दी काव्यधारा-सरहपा, पृष्ठ १६

उजु रे उजु छड़ि मा लेहु वंक, निग्रड़ि बोहि मा जाहुरे लंक ।।
हाथेर कंकण मा लेहुँ दप्पण, अपणे आपा बूझतु निग्र-मण ।
पार-उग्रारें सोई मजिई, दुज्जणि-संगे अवसरि जाई ।
वाम-दहिण जो खाल-विखाला, सरह भणइ बप ! उजु वट भइला ।

—(हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १८)

मनुष्य माया-मोह से युक्त विश्व भ्रान्तियों में पड़कर ईश्वर को भूल जाता है। वह अलख अदृश्य है। इससे स्व-संवेदन से ही उसके रूप को सोचा जा सकता है। शान्तिपा निम्न गीत में रहस्यवाद के विवरण प्रस्तुत करते हुए सहजयानी मार्ग का समर्थन करते हैं—

राग रामक्री

सग्र-संवेग्रण-सरुग्र विग्रारे ग्रलक्ख लक्ख ण जाइ ।
जे जे उजुवाटे गेला ग्रण्ण वाटे भइला सोइ ।।
का ग्ररुग्र ण बुज्झिग्र मूढहि उजुवाट संसारा ।
(महुग्ररेहि एक्क ग्रन्न राजहि कणकधारा।)
माग्रा मोह समुद्द ग्रन्त, बुज्झसि ताहा ।
ग्रागे णाव नभेंला दीसइ भन्ति न पुच्छसि णाहा ।।
सूनापान्तर ग्रह न दीसइ, भान्ति न वासने जान्ते ।
एषा ग्रठ्ठ महासिज्झि सिज्झइ उजुवाटे जाग्रन्ते ।
बाम दाहिण दो बाटा छाडी शान्ति बोलथेउ संकेलउ ।
घाट ण शुक्क खडतडि णहोइ ग्राँखें बुज्झिग्र वाट जाइउ ।

—(वही, पृष्ठ २३८-२४०)

माया जीव की ग्रहितकारिणी है। वस्तुतः वह जीवन के अमृत-तत्त्व का पान कर जाती है। केवल सद्गुरु का उपदेश और बोध ही जीवन का कल्याण कर सकता है। सिद्ध भूसुकुपा ने माया का मूसा के साथ रूपक बाँधा है—

राग वराडी

णिशि ग्रंधारी मूसा करग्र ग्रचारा। ग्रमिख-भखग्र मूसा करग्र ग्रहारा।
मार रे जोइया ! मूसा पवना। जेण तूटइ ग्रवणा-गवणा ।।
भव विदारग्र मूसा खणग्र गाती। चंचल मूसा कलिग्राँ णासग्र थाती ।।
काला मूसा उह ण वाण। गग्रणे उठि करग्र ग्रमिग्र पाण ।।
तब्बे मूसा ग्रंचल चंचल। सद्गुरू बाहे करह सो निच्चल ।।
जब्बे मूसा ग्रचार तूटग्र। भुसुकु भणइ तब्बे बंधण फिट्टइ ।।

(वही—भूसुकुपा, पृष्ठ १३२)

जन की भ्रान्तियाँ रज्जु-सर्प के समान सांसारिक व्यक्तियों को खाए जा रही हैं। इस भ्रांति-विनाश के लिए गुरु के अनुभवों का लाभ उठाना ही श्रेयस्कर है—

राग कण्हु गुंजारी

अाइएँ अनुअनाएँ जगरे भन्तिएँ सो पडिहाइ।
रज्जु-सप्प देखि जो चमकिउ, साँचे जिम लोअखाइउ॥
अकट जोइ आरे मा कर हाथ लोण्हा। अइस सहावें जइज बुज्झसि
तूटइ वासना तोरा॥
मरु-मरीचि गंधव-नगरी दापण-पडिबिंबु जइसा।
वातावत्तें सो दिढ़ भइआ। आये पाथर जइसा॥
बाँझिसुआ-जिम केलि करई खेलइ बहुविह खेला।
बालुअ तेले सस-सिंगे आकाश फूलिला॥
राउतु भणइ बढ़भूसुकु भणइ बढ़ सअला अइस सहावा।
जइ तो मूढ़ा अच्छसि भान्ती पुच्छहुसद्गुरु पावा॥

(हिन्दी काव्यधारा—भूसुकुपा, पृष्ठ १३४)

पंच डाल (पंच तत्त्व) से निर्मित काया के वृक्ष में काल चंचल चित्त से विराजमान है। फिर मानव को सुख कहाँ? इससे गुरू से पूछकर महासुख की व्यवस्था करना ही उचित है। कपट की भावनाओं का परित्याग कर समाधि का आश्रय लेना ही उचित है—

राग पटमंजरी

काआ तरुवर पंच' विडाल। चंचल चीए पइट्ठा काल॥
दिढ़ करिअ महासुह परिमाण। लुई भणइ गुरू पुच्छिअ जाण॥
सअल-समाहिह काह करिअइ। सुख-दुख तें निचित मरिअइ॥
छडिअउ छन्द वांधकरणकपटेर। आस सुण्ण-पक्ख भिडि लेहु रें पास॥
भणइ लुई आम्हे झाणे दिट्ठा'। धमण-चमणवेणि उपरि बइट्ठा॥

(वही—लुइपा, पृष्ट १३८)

भारत से सिद्ध परम्परा और बौद्धधर्म की समाप्ति पर सिद्ध भावना को चिरंजीव रखने के लिए जन-कवि के रूप में विनय श्री का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है। वह अपने गुरु संघराज शाक्यश्रीभद्र के साथ सं० १२०३ में तिब्बत गए थे। वहाँ पदशैली में उनकी कुछ रचनाएं मिली हैं। उनका पद देखिए—

निमूल तरुवर डाल न पाती।

---

१. राहुल सांकृतायन—सिद्ध सरहपाद का 'दोहा कोश'

निभर फुल्लिलल पेखु विश्राती । ध्रु० ॥१॥
भणइ विनयश्री नोखौ तरुअर । फुल्लए करुणा फलई अणुत्तर ।
करुणामोदें सएलवि तोसए । फल सपतिएँ से भव नाशए ॥२॥
से चिन्तामणि जे जइस बासए । से फल मेलए नहि ए साँस ए ।
वर गुरु भत्तिएँ चित्त पबोही । तहि फल लेहु अणुत्तरबोही ॥३॥
गेल्लिअहुं गिरिसिहर रि जात्तें । तहिं झपाविल्लि कलिके अन्ते ॥
हलकि करमि सहीएँ एकेल्लि । बिसरे राउ लेल्लइ लिसु पेल्ली ।
तहि झंपइ ट्ठोल्लि हेरुअ मेले । बिसअ विसमूल्लि मा छाडिय हेले !
भणइ विनयश्री वरगुरु बएणे । नाह मेल्लपरे गमणे ॥४॥[1]

विनय श्री ने सहजिया तत्त्व के वृक्ष को निर्मूल तरुवर कहा है । जिसमें करुणा और निर्वाण के फल फलित होते हैं । इन्हीं से भव-नाश होता है । जिसके चित्त में गुरू-भक्ति है उसे भी निर्वाण का फल मिलता है, आदि ।

इन सिद्ध सन्तों ने इस प्रकार अपनी सम्प्रदायगत भावनाओं और सिद्धान्तों को गीतों के माध्यम से व्यक्त कर दिया था । धर्म के तात्विक सिद्धान्त केवल इस मनोरंजक गेय शैली से ही सुग्राह्य हो सकते हैं, इसको उन्होंने भली प्रकार समझा था ।

इस महत्तम उद्देश्य को अपने समक्ष रखकर ही उन्होंने जन-जीवन में प्रविष्ट लोक-रञ्जन करने वाली 'देशी सङ्गीत पद्धति'[2] को स्वीकार करना उचित समझा । जन-भाषा का प्रयोग गौतम बुद्ध के समय से मान्य था ही । इस प्रकार व्यावहारिक सङ्गीत-पद्धति को अपनाकर वे जन-साधारण के अधिक समीप पहुँच गए ।

साम्प्रदायिक भावनाओं के व्यक्त करने में राग-रागिनियों का व्यवहार सिद्ध-सन्तों का नवीन प्रयोग ही कहा जावेगा । यह जन-जीवन में अधिकाधिक प्रवेश प्राप्त करने की प्रेरणा से ही सम्भव हुआ । हिन्दू-धर्म और संस्कृत-साहित्य वस्तुत इस ओर अग्रसर हुए ही नहीं । सच तो यह है कि जन-साधारण की प्रवृत्तियों को न अपनाने के कारण वे जन जीवन से दूर पड़ते गए और उनके मध्य में एक लम्बी और

---

१. राहुल साँकृतायन—सिद्ध सरहपाद का दोहा कोश परिशिष्ट—१ (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)

२. मार्गो देशीति तद द्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते ।
यो मार्गितो विरिञ्चाद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः ॥
देवस्यपुरतः शंभोर्नियताभ्युदयप्रदः ।
देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जकम् ॥
गीतं च वादनं नृत्तं तद्देशीत्यभिधीयते ।
नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यंगीतानवर्ति च ॥
(सङ्गीत रत्नाकर—१—२२-२४)

गहरी खाई पड़ती गई।

सिद्ध सन्तों द्वारा राग-रागनियों के प्रयोग से ही पद-परम्परा का स्थायी शिलान्यास हो गया। पालि और प्राकृत साहित्य में गीति-शैली का प्रस्फुटन न हो सका था। उसका स्पष्ट स्वरूप अपभ्रंश काल में ही धर्म और साहित्य के सामने आया। अनन्तर इसकी परम्परा ही चल पड़ी और यह काव्य से अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध हो गई। हिन्दी साहित्य के प्रत्येक युग में यह शैली सम्मानित हुई और आज तो काव्य-शैली के अन्तर्गत इसका अपना प्रमुख भाग है।

जैनाचार्यों का गीत काव्य

चाचरि, रास और फागु ग्रन्थ गीतात्मक तत्त्वों के कारण जैन-साहित्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। ये काव्य पश्चिमीय अपभ्रंश में लिखे गए हैं और गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी की प्रारम्भिक रचनाओं के अधिक समीप हैं। उनको जैन श्रावकों ने केवल गाने के लिए ही लिखा था।

जो नाना चित्तों का निर्माण करता है, जो चित्त को शीघ्र ही हरण करता है, जिसके दर्शन के बिना पुण्य-प्राप्ति दुर्लभ है, जिससे चित्त स्थिर होता है—ऐसे गुरू के पद-कमलों को जो प्रणाम करता है वही पुण्य का भागी है, उपर्युक्त आशय की जिनदत्तसूरि की निम्न चाचरि देखिए—

जिण कय नाणा चित्तइँ, चित्त हरंति लहु।
तसु दंसणु विणु पुत्रिहि, कउ लब्भइ दुलहु॥
सारइँ बहु थुइ-थुत्तइ, चित्तइँ जेण कय,
तसु पयकमलु जि पणमहि, ते जण कय-सुकय[1]॥

अंबदेव सूरि ने 'समरसिंह' की प्रशंसा में—'समर-रास लिखा था। उसने जैन-धर्म का पोषण किया था जिससे दिनानुदिन उसकी अभिवृद्धि हुई थी। स्फटिक-मणि के समान जिसके गुण अज्ञान रूपी अन्धकार को विनष्ट करते हैं, जिसने भक्त-भूमि में अमृतधारा को बहाया, जिसने कलयुग को परास्त कर सतयुग को पृथ्वी पर अवतरित किया, जो ओसवाल रूपी कुल का चन्द्रमा है जिसके समान अभी तक कोई उदित नहीं हुआ है, जिसने कलियुग के समय को वद्ध कर चराचर को प्रभावित किया है—इन भावनाओं से युक्त समरसिंह की निम्न प्रशस्ति का अंबदेव सूरि ने भान किया है—

जिणि दिणि दिनु दक्खाउ, समासीहि जिण धम्मवणि।
तसु गुण करउँ उदोउ, जिम अंधारइ फटिक मणि॥
सारणि अमियतणीय, जिणि वहावी मरुमण्डलहि।

---

१. राहुल—हिन्दीकाव्यधारा, पृष्ठ ५०

किउ कृतजुग अवतारु, कलिजुगि जीवउ बाहुबले ॥
ओसवाल कुलि चन्दु, उदयउ एउ समान नहिं ।
कलिजुगि कालइ पासि, छेदीयउ सचराचरहि ॥[1]

राजशेखर सूरि ने 'नेमिनाथ फाग' में राजलदेवि के शृंगार का बड़ी ही सहृदयतापूर्वक वर्णन प्रस्तुत किया है। राजलदेवि के शृंगार का कैसे वर्णन किया जाए, उसके अंग पर चन्दन का लेप है और जो चंपा के पुष्प के समान गौरवर्ण की है। जिसकी जूड़ा जवा पुष्प और कस्तूरी से सुशोभित है और जिसके बालों में सिन्दूर की रेखा मोतियों से भरी हुई है। नवरंगी कुंकम का जिसके तिलक लगा है और जिसके भाल पर रत्न का तिलक है, जिसके कान में मोती के कुण्डल हैं जो अपना प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं, जिसके नेत्रों में कज्जल लगा है और मुख कमल में ताम्बूल है, जिसके कण्ठ से नाग के उदर के समान कठुला सुशोभित है। जिसके जरी के मूल्यवान् वस्त्र हैं और कंचुकी पर फूलों की माला पड़ी हुई है, जिसके हाथों में कंकण और मणि-जटित चूणा है, जिनको वह खड़काती है; जिसके कमर से रुनभुन-रुनभुन का शब्द होता था, जिसके पगों में नूपुर बजते थे, जिसके नाखूनों में श्वेत वर्ण से मिश्रित आलत्म लगा हुआ है, जिस बड़ी नेत्र वाली राजलदेवि को उसका पति प्रेमपूर्वक देखता है—

किम किम राजलदेवितणउ सिणगारु भणेंवउ ।
चंपइ गोरी अरधोई अंगि चंदनु लेवउ ॥
खुंपु भराविउ जाइ कुसुमि कसतूरी सारी ।
सीमंतइ सिंदूर रेह मोतीसरि सारी ॥
नवरंगी कुंकुमि तिलय किय रयणतिलउ तसु भाले ।
मोती कुंडल कन्नि थिय बिंबालिय कर जाले ॥
नरतिय कज्जलरेह नयणि मुँहकमलि तंबोलो ।
नागोदर कंठलउ कंठि अनुहार विरोलो ॥
मरगद-जादर कंचुयउ फुउ फुल्लह माला ।
करें कंकण मणि वलय चूड खलकावइ बाला ॥
रुणुझुणु रुणुझुणु रुणुझुणएँ कडि घाघरियाली ।
रिमझिमि रिमझिमि रिमझिमएँ पयनेउर जुयली ॥
नहि आलत्तउ बलवलउ से अंसुय किमिसि ।
अंखडियाली रायमइ प्रिउ जोअई मनरसि ॥

उपर्युक्त स्थलों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तब वे हमें अधिक प्रासादिक और जन-जीवन के समीप प्रतीत होते हैं। उनमें वैसी गम्भीर और दुरूह शैली का प्रयोग नहीं है जैसी जैन साम्प्रदायिक ग्रन्थों में उपलब्ध है। यह वस्तुतः उनके गेय

१. राहुल हिन्दी काव्य धारा पृष्ठ ४४६

होने के कारण ही सम्भव हुआ है। चाचरि, रास और फाग सङ्गीत के ही प्रबन्ध हैं और वहीं से इनको जैनाचार्यों ने अपने काव्यों के लिए ग्रहण किया है। इसीसे गेय तत्त्वों क' उनमें सरलता से समावेश हो गया है।

४. निर्गुणियाँ (नाथ) सम्प्रदाय और गीत

नाथ सम्प्रदाय वज्रयानी शाखा के अन्तर्गत सिद्ध परम्परा का परिवर्तित स्वरूप है। सिद्धों के प्रतिष्ठित योग के सिद्धान्तों का यहाँ समावेश हुआ है; किन्तु उनकी कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी थीं, जो नाथ-सम्प्रदाय की मौलिकता प्रकट करती हैं। भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित निरीश्वरवादी शून्य भावना, जो अभी तक सिद्धों में अवशिष्ट थी, वह इस सम्प्रदाय में ईश्वरवादी शून्य भावना में परिवर्तित हो गई।

चौरासी सिद्धों की परम्परा में यद्यपि गोरखनाथ (गोरक्षपा) की गणना भी की जाती है; किन्तु अपनी नवीन और मौलिक विचारणाओं के कारण उन्होंने अपना सम्प्रदाय ही अलग कर लिया। गोरखनाथ के गुरू मत्स्येन्द्रनाथ ने 'योगिनी कौल मार्ग' को जन्म दिया था, यही कालान्तर में नाथ-सम्प्रदाय में बदल गया।[1]

नाथ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रथम नाथ 'आदिनाथ' हैं। इस सम्प्रदाय में 'शिव' ही इष्ट देवता है। सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए भले ही इस प्रकार का संबंध शिव से जोड़ा जावे; किन्तु मूलतः गोरखनाथ ने ही उसको नवीन दिशा प्रदान की। गोरखनाथ ने 'नाथ पन्थियों' को संगठित कर उन्हें १२ शाखाओं में बाँट दिया था—सत्यनाथी, धर्मनाथी, रामपंथ, नटेश्वरी, कन्हड़, कपिलानी, वैराग, माननाथी, आई-पन्थ, पागलपन्थ, धज पंथ और गंगानाथी आदि।[2]

नाथ-सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त हठयोग है, जो पतंजलि के योगवाशिष्ठ पर आधारित है। हठयोग में प्राणबाहु को अनुशासित करके कुण्डलिनी-जाग्रत करने की आवश्यकता होती है। यह कुण्डलिनी शरीर के षटचक्रों को पार करती हुई सहस्त्रार में जा पहुँचती है तभी शिव से साक्षात्कार होता है। हठयोग में यही आनन्द की स्थित है।[3]

इस सम्प्रदाय में सभी प्रकार के संयमों और ज्ञान के प्रति श्रद्धा तथा धर्म-कर्म के बाह्याचरणों और प्रदर्शनों के प्रति अश्रद्धा है। नाथ-सम्प्रदाय में 'गुरु' को भी प्रतिष्ठा मिली है।

आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गाहिणीनाथ, चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, भर्तृहरि और गोपीचन्द्रनाथ आदि की गणना ही इस सम्प्रदाय में की

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ-सम्प्रदाय, पृष्ठ २

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ-सम्प्रदाय, पृष्ठ १०

३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ-सम्प्रदाय, पृष्ठ १२६

जाती है। इनमें केवल गोरखनाथ का साहित्य ही उपलब्ध है।

नाथ-सम्प्रदाय ने सिद्धों की परम्पराओं के साथ गीत और दोहा-शैली को भी स्वीकृत किया था। इसी में गोरखनाथ की दोनों शैलियों की रचनाएँ प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हैं।

राग रामग्री

चारि पहर आलंगन निंद्रा, संसार जाइ विषिया बाही।
अमी बाँह गोरखनाथ पुकारें, मूल 'महारौ म्हारा भाई ।। टेक ।।
अमावस पडिवा मन घट सूनां, सूनां ते मंगलवारे।
भणता गुणंता ब्रह्मण वेद विचारैं, दसमी दोष निवारैं ।।१।।
पड़वा आनन्दा वीजसि चंदा पाँचौ लेवा पाली।
आठमि चौदसि व्रत एकादसी अंगि न लाऊँ बाली ।।२।।
संमीं साँझैं सोइबा मंझैं जागिबा, तृसंधि देणां पहरा।
तीनि पहर पर दोइ घट जाइबा, तिहाँ छै काल चाहेरा ।।३।
बांमां अगे सोइबा जमचा भोगबा, संगे न पीवणां पांणी।
इमतौ अजरांबर होइ मछिंद्र, बोल्यौ गोरख वाणी ।४।[1]

विपयों में बहते हुए संसार को गोरखनाथ यह चेतावनी दे रहे हैं कि अपने मूल (शुक्र) को मत मारो। अमावस और पड़िवा के अनाध्याय के स्थान पर योगी का शून्य में ही मन और शरीर लगाना अमावस और पड़िवा मनाना है। प्रतिपदा के अनाध्याय के स्थान पर ब्रह्मानन्द में लीन होना ही उसकी प्रतिपदा है। निद्रा की वेला में भी जाग्रत रहो और ब्राह्म मुहूर्त्त में जागो। स्त्री से दूर रहना उचित है।

कासौं झूझौं अवधूराइ, विपष न दीसैं कोई।
जासौं अब झुझौं रे, आत्माराम सोई ।। टेक ।।
आपण ही मछ कछ आपण ही जाल,
आपण ही धीवर आपण हीं काल ।।१।।
आपण ही स्यंघ बाघ आपण ही गाइ,
आपण ही मारीला, आपण ही षाइ ।।२।।
आपण ही टाटीं फड़िका, आपण ही बंध,
आपण ही मृतग, आपण ही कंध ।।३।।
न्हाइबे कौं तीरथ न पूजिबे कौं देव,
भणत गोरषनाथ अलख अभेव।४।।[2]

---

१. डा० पीताम्वरदत्त बड़थ्वाल—गोरखवानी, पृष्ठ ८५-८६
२. डा० बड़थ्वाल गोरखवानी, पृष्ठ १३५-१३६

इन पंक्तियों में गोरखनाथ ने आत्मा की महत्ता का गान किया है। माया ही जीव को बंधन में डालती है। जीव तत्त्व जो आत्म तत्त्व है वह सर्वोपरि है। जगत को उसी की उपासना करनी चाहिए। वस्तुतः आत्मा अलक्ष्य और अभेद है, जिसका भेद और रहस्य किसी को भी ज्ञात नहीं है।

चलि रे अबिला कोयल मौरी, धरती उलटि गगन कूँ दौरी ॥ टेक ॥
गईयाँ बपड़ी सिंघ नै घेरै, मृतक पसू सूद्र कूँ उचरै ।
काटै ससत्र पूजै दैंव, भूप करै करसा की सेव ।
तजि करि ढकणी अपरि झाल, न छीजैगा महारस बंचैगा काल ।
दीपक बालि उजाला कीया । गोरख के सिरि परवत दिया ॥[1]

गोरखनाथ की यह उलटवाँसी है। आम (माया) के फलने-फूलने पर कोयल (मनोवृत्ति) उसके पास आनन्द के लिए जाती है; किन्तु ज्ञानोदय पर मन की बहिर्मुख वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और अपने में ही ब्रह्मानन्द का अनुभव करती है। इसी प्रकार मानव की अशाँति (सिंह) उसकी प्रकृति (गाय) को घेरे रहती है। अंत में आध्यात्मिक सिद्धि पर परिस्थिति में परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार आत्मानुभूति विहीन मानव (मृतक पशु) को यमराज (शूद्र) खींच ले जाता है; किन्तु अहंकार नष्ट करके मानव जीवन-मुक्त होकर स्वयं यमराज को घसीटता है। आगे कुंडलिनी के ऊपर चढ़ने का संकेत किया गया है। यद्यपि गोरखनाथ ने ज्योति (ब्रह्म) को दीप्त किया; किन्तु इससे उनके सिर पर एक बड़ा दायित्व आ गया है। स्वयं परब्रह्म होकर संसार को मुक्त करना ही उनका दायित्व है।

इन्हीं पदों के समान गोरखनाथ के अन्य पदों में भी योग-ज्ञान की विचारणाएँ भरी हुई हैं। सिद्धों की पद-परम्परा को भावी उत्थान के लिए उन्होंने एक नवीन दिशा प्रदान की है। जन-भाषा के द्वारा वह अपनी योग की वाणी को समाज के मध्य तक पहुँचाने में सफल हुए थे। इसका परिवर्तित रूप ही कबीर की ज्ञानाश्रयी शाखा में प्रस्फुटित हो उठा है। हाँ, परिस्थितियों में अन्तर अवश्य है। गोरखनाथ में जो कुछ था वह भारतीय योग का ही प्रतिपादन था। उसमें विशुद्ध तत्त्वों का समावेश कर अध्यात्मिक क्षेत्र में उन्होंने पवित्र सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार किया था। कबीर के समय में भारतीय वातावरण में मुसलमानी तत्त्वों के समावेश में एक नूतन परिस्थिति घटित हो गई थी। कबीर ने नाथ-सम्प्रदाय की अद्वैत और योगपरक भावनाओं को अपना लिया। मुसलमानों में एकेश्वरवाद की भावना थी ही इससे अपने विचारों को व्यापक बनाने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। कबीर ने भावनाओं के साथ उनकी दोहा और पद-शैली को भी सन्त मत का आधार बनाया था।

---

१. डा० बड़थ्वाल—गोरखबानी, पृष्ठ १५३

५. दक्षिण के आलवार भक्तों का गेय काव्य

गेयकाव्य के उपर्युक्त जिन स्रोतों का विवरण प्रस्तुत किया गया है वे साहित्य की क्रमागत परम्परा के मध्य में उद्भूत होते रहे हैं। इनमें हिन्दी के पद-साहित्य अथवा गीतकाव्य को जीवन और बल मिलता रहा है। यह भी यत्र-तत्र संकेत किया गया है। इस प्रकार का सीधा प्रभाव तो आलवार भक्तों के गेय काव्य का हिन्दी गीत काव्य पर अवश्य नहीं पड़ा, किन्तु उसके दूरागत प्रभाव से हिन्दी क्या कोई अन्य प्रान्तीय भाषा का साहित्य भी नहीं बचा है, यह सत्य है। फलतः इस महत्त्वपूर्ण स्रोत पर विचार करना भी आवश्यक है।

दक्षिण के भक्ति-आन्दोलन के सूत्रपात करने का श्रेय आलवार सन्तों को है। पोयगै आलवार, भूतत्तालवार, पेयालवार, तिरुमड़िसै आलवार, नम्मालवार, मधुरकवि, परि आलवार, आण्डाल, तोण्डरडिप्पोलि, तिरुप्पन, तिरुमंगैयालवार—ये बारह आलवार सन्त थे जिन्होंने तमिलनाड और आसपास के क्षेत्र को भक्ति-रस से आप्लावित कर दिया था। ये जन-जीवन के मध्य में जाकर भगवान की लीलाओं और उनकी भक्ति की मधुरिमा का सरस वर्णन पदों में किया करते थे, फलतः जन-जीवन में भगवान् विष्णु के प्रति आस्था बढ़ी और भक्ति-भावना का व्यापक प्रसार हो गया। इस स्थिति का लाभ शङ्कराचार्य के मायावाद के विरुद्ध उठे हुए निम्बार्काचार्य (द्वैताद्वैत), रामानुजाचार्य (विशिष्टाद्वैत), माध्वाचार्य (द्वैत), विष्णुस्वामी—वल्लभाचार्य (रुद्र-सम्प्रदाय—पुष्टि सम्प्रदाय) आदि आचार्यों ने उठाया। इन आचार्यों ने अपने सिद्धांतानुसार ब्रह्मसूत्र, उपनिषद, भगवद्गीता आदि की भक्ति परक व्याख्याएँ की और शङ्कर के मायावाद का खण्डन कर भक्ति की स्थापना की। अनन्तर आचार्यों के ये सम्प्रदाय सम्पूर्ण भारत में फैल गए।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि बिना किसी साम्प्रदायिक भावना के आलवारों ने भक्ति-रस से सिक्त अपनी जिस वाणी का प्रस्फुटन किया था उसकी परिणति आचार्यों के विविध सम्प्रदायों में हुई। कालान्तर में जब ये सम्प्रदाय स्वीकृत हुए तब वैष्णव भक्तों ने आचार्यों के सिद्धान्तों को ग्रहण किया; किन्तु भक्ति का मधुर आदर्श तो आलवारों के पदों में ही समाहित था। फलतः प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में भक्त कवियों ने आलवारों की पद-शैली पर पद लिखे, गीत रचे और भक्ति-रस में निमग्न होकर उनका मान किया। इस प्रकार हम अपनी पद-शैली के सम्बन्ध में आलवारों के भेद काव्य के भी ऋणी हैं, यह मान्य है।

६. बंगाल के बाउल सन्त और उनका गेय काव्य

बाउल सन्त अपने ब्रह्म के प्रम में निमग्न रहने वाले स्वच्छन्द प्रेमी हैं। उनके समक्ष लौकिक मर्यादा और विधि-विधान का कोई प्रश्न नहीं। उनमें मस्ती है और

अपना सच्चा मनोराज्य है, जिसमें वे स्वच्छन्दता से विहार करते हैं। वे भ्रमणशील हैं और जन-जीवन के मध्य में पहुँचकर अपने प्रिय के गान गा उठते हैं।

उसका गेय काव्य मौलिक परम्परा में ही रहा है, उसका कुछ अंश अब लिखित रूप में आ सका है। बाउलों की परम्परा का पता १५वीं शताब्दी से मिलता है। अनन्तर इनका प्रचार बंगाल के सभी भागों में हो गया।[1] इनका केन्द्र नदिया रहा है, इससे विश्वास है कि उनकी पूर्व-परम्परा का महाप्रभु चैतन्य पर प्रभाव पड़ा हो। चैतन्य की भक्ति-भावना से अनुप्रेरित हो 'गौड़ीय सम्प्रदाय' की परम्परा ही हिन्दी भक्ति-काव्य में उपलब्ध है। इससे बाउलों की गीत। परम्परा का हिन्दी पर प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक है।

निष्कर्ष

हिन्दी पद-साहित्य के सम्भावित सभी स्रोतों पर यहाँ विचार कर लिया गया है। वस्तुतः इनके प्रभाव और अभिप्रेरणा से जीवन प्राप्त कर हिन्दी की पद-शैली का काव्य प्रभूत मात्रा में रचा गया और उसकी अविच्छिन्न परम्परा गतिशील रही। इस परम्परा और तुलसी के पद-साहित्य का विस्तृत विवेचन प्रबन्ध के अगले पृष्ठों में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

●

१. कवि परशुराम चतुर्वेदी—मध्यकालीन प्रेम साधना, पृष्ठ ४०

: २ :

लोक-साहित्य और लोक-नाट्य में गीत

विषय प्रवेश—गीत की प्रगति का इतिहास उसके साहित्य और नाट्य में मिल सकता है, किन्तु उसका बीज और अंकुर वहाँ नहीं खोजा जा सकता। वह लोक-साहित्य और लोक-नाट्य में अपने आदि स्वरूप को अन्तर्निहित किए है, जिसकी अविच्छिन्न परम्परा हमें प्रागैतिहासिक काल तक ले जाती है, जब हम अस्त-व्यस्त जीवन के साथ सभ्यता के आदि पथ पर अग्रसर हो रहे थे। इस काल की संस्कृति और सामाजिकता के विभिन्न तत्त्वों के मध्य में ही गीत ने भी अपना अस्तित्व और विकास प्राप्त किया है।

सभ्य होने से पूर्व प्रागैतिहासिक काल में मानव के समक्ष दिन, रात, सन्ध्या, सूर्य, नक्षत्र, ग्रीष्म, वर्षा, शीत आदि के सम्बन्ध में कितनी ही जिज्ञासाएँ जागृत हुई होंगी ; चाहने पर भी अभीष्ट के न होने की स्थिति ने उसे मानवेतर शक्ति की ओर इंगित किया होगा ; समाज-जीवन में उस समय जो सहायक रहा होगा, उसने उसे अपने स्मरण का विषय बनाया होगा, जिसके आधार पर उसने अपने जीवन में घात-प्रतिघात, हर्ष-विषाद को लेकर उसे कितनी ही अनुभूतियाँ हुई होंगी, जिनको उसने अपने वार्तालाप के मध्य में प्रयोग का साधन बनाया होगा; प्रकृति में समाहित संगीतात्मकता को परखकर उसने भी सामाजिक समारोहों और ऋतूत्सवों के अवसरों पर अपने आनन्द के लिए गेय पंक्तियों का निर्माण किया होगा—सभ्यता के आदि काल में प्रत्येक समाज इसी प्रकार प्रगतिशील होता है। इन प्रवृत्तियों में ही उसकी धार्मिक गाथाएँ, लोक-गाथाएँ, लोकोक्तियाँ, लोक-गीत आदि समाहित रहते हैं, जिनका क्रमिक रूप से विकास होता रहता है। ये सब मानव के अशास्त्रीय और असंस्कृत मानस की उपज है, इन्हीं को लोक-साहित्य की संज्ञा प्राप्त होती है।

किसी समाज के सभ्य और संस्कृत हो जाने पर उसके गति-शील साहित्य का शिष्ट और पुष्ट हो जाना स्वाभाविक है ; किन्तु उसका अपरिपक्व, अशास्त्रीय और असंस्कृत आदि रूप भी अक्षुण्य बना रहता है, जिसमें उस देश की संस्कृति, आचरण और भावनाओं का इतिहास समाया रहता है। कालान्तर में पुष्ट साहित्य शिष्ट समाज का सम्मान प्राप्त कर लेता है और उसमें उसी की चर्चा हो उठती है ; किन्तु उसका परम्परागत आदि स्वरूप भी लोक-जीवन की प्रतिष्ठा से युक्त सप्राण रहता

है। इस प्रकार प्रथम कोटि में देश का शिष्ट साहित्य और द्वितीय में लोक-साहित्य आता है।

आज के शिष्ट नाट्य की परिणति भी मूलतः लोक-नाट्य पर आधारित है। सभ्यता के आदि में विरोधियों पर विजय प्राप्त होने, अभीष्ट के घटित होने, फसल के पकने, ऋतु-परिवर्तन आदि के समय मानव के अन्तर में भावावेग से अंग-संचालन होता रहा होगा। अनन्तर उसने उनके सम्बन्ध में एक स्थायी प्रणाली बना ली होगी। जिसके लिए उसके प्रकृति-पदार्थों के थिरकने और नर्तन से भी अभिप्रेरणाएँ ली होंगी, इस प्रकार नाट्य का आदि स्वरूप प्रस्तुत हो गया होगा। कालान्तर में नर्तन और गायन हर्षोल्लास के सूचक रहने के कारण मानव को उनके एकीकरण में विलम्ब न लाना होगा। धीरे-धीरे अपने हितैषी महापुरुषों, देवताओं आदि के चरित्रों को जब उसने कथन और उल्लेख का विषय बनाया होगा तभी लोक-नाट्य में संवाद भी समाविष्ट हो उठे होंगे। उसके इस क्रमिक विकास में मानव की आदि सभ्यता और संस्कृति के मूल तत्त्वों को वह कहीं भी नहीं छोड़ सका है। इन्हीं परिस्थितियों में लोक-नाट्य ने जीवन पाया है, जिसका परिष्कृत रूप ही आज का शिष्ट-नाट्य है। वह आज सभ्य समाज में प्रतिष्ठित है; किन्तु उसकी पृष्ठभूमि में लोक-जीवन में लोक-नाट्य भी चिरंजीव और प्रगतिशील है, जिससे उसकी महत्ता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आज के शिष्ट-साहित्य और नाट्य के समक्ष भी उसके पूर्व रूप लोक-साहित्य और लोक-नाट्य का अपना स्थान सुरक्षित है, जिसके द्वारा समाज की विविध परम्पराओं के साथ साहित्य की गीति-परम्परा का पोषण होता रहा। आज गीत ने काव्य की विविध विधाओं में अपना प्रमुख स्थान अवश्य प्राप्त कर लिया है। किन्तु लोक-साहित्य और लोक-नाट्य में वह किस रूप में रहा है। इस स्थल पर यह देखना भी आवश्यक हो गया है। लोक-साहित्य के विवेचन में प्रवेश होने से पूर्व उसकी विशेषताओं पर विचार करना भी उचित है।

लोक-साहित्य की विशेषताएँ

अज्ञात रचयिता और रचना-काल—लोक-साहित्य के निर्माण-कर्ता और उसके निर्माण-काल का पता लगा लेना बड़ा ही कठिन है। एक व्यक्ति और एक समय में उसके बने होने पर भी मौखिक परम्परा में रहने के कारण उसमें समय-समय पर परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहते हैं। फलतः उसके निर्माण, प्रचार और प्रसार के सम्बन्ध में एक निश्चयात्मक धारणा व्यक्त नहीं की जा सकती। लोक-गाथाओं में एतिहासिक कथांश के कारण एक काल-सीमा का निर्धारण हो सकता है कि एक विशिष्ट लोक-गाथा उससे पूर्व नहीं आ सकती किन्तु उस लोक-गाथा का कब और किससे निर्माण हुआ है—यह कह देना असम्भव है। लोक-गीत या लोक गाथा का मौलिक स्वरूप स्थिर न रहने के कारण उसकी रचना का दायित्व एक पर न होकर बहुतों पर

रहता है।[1]

वीसलदेव रासो के सम्बन्ध में श्री सत्यजीवन वर्मा का यह कथन है—'एक भाट ने लोक-मनोरंजनार्थ कुछ तुकबन्दियाँ की थीं और वह उन्हें आकर लोगों को सुनाता फिरता था। पीछे कई शताब्दियों तक वह मौखिक रूप में प्रचलित था और तदुपरान्त किसी ने उसे लिपिबद्ध किया। प्रायः तीन शताब्दी से अधिक जो ग्रन्थ मौखिक रहा हो, उसमें कितने परिवर्तन हो जाते हैं तथा उनका रूप कितना मूल से विरूप हो जाता है। यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है।

आल्हखण्ड और ढोला भी इसी प्रकार की लोक-गाथाएँ रही हैं, जिनमें समय के साथ परिवर्तन और परिवर्धन समाविष्ट होते रहे हैं। ढोला मारू रा दूहा के सम्वन्ध में उसके सम्पादकों का यह उल्लेख है—

"लोक-गीत ऐसा प्राचीन काव्य है कि जिसका निर्माता यदि कोई हो सकता है ता देश विशेष की प्राचीन कालीन परिस्थिति और साधारण जनता की सामूहिक रागात्मक अभिरुचि ही हो सकती है। × × × ढोला मारू की प्रेम-गाथा को किसी व्यक्ति विशेष कवि की कृति न मानकर भी हमको यह कल्पना करने में कठिनाई नहीं होती कि यह काव्य मौखिक परम्परा के प्राचीन काव्य-युग की विशेष कृति है और सम्भव है कि तत्कालीन जनता की साधारण अभिरुचि को ध्यान में रखकर उससे प्रेरित होकर किसी प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने जनता के प्रीत्यर्थ उसी के मनोभावों को वर्तमान काव्य रूप में बद्ध कर उसके समक्ष उपस्थित कर दिया हो और

---

१. Prof. child's theory—Ballads do not write themselves though a man and not a people has composed, still the author counts for nothing,

Prof, F.B. Gummere—Who claims the Ballad as evidence of a co-operative folk intelligence, first expressing itself in dance and choral dance.

Prof. Kitteredge-He allows an initial creation by an individual author, but holds that "the processes of oral tradition amount to a second act of composition"--"a collective composition"--of an in-extricably complicated character, which is not to be identified with the corruption by scribes and editors of a classical text ; that the original author is not a professional poet or minstrel, but a member of the folk, and that the composition is not a solitary act, but oral improvisation before an evidence in close emotional contact.

Enc. Br. Vol. 2

२. बीसलदेव रासो (ना० प्र० स०) पृष्ठ १५

जनता ने बड़ी प्रसन्नता से इसे अपनी ही सामूहिक कृति मानकर कण्ठस्थ किया हो।"

उपर्युक्त लोक-गाथाओं के समान गोपीचन्द और राजा भरथरी गाथाएँ भी सम्पूर्ण देश में प्रचलित हैं। आज तक उनके स्वरूपों के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं है, फिर उनके कवि और समय के सम्बन्ध में तो निश्चयात्मक ढंग से कुछ कहना और भी असम्भव है।

मौखिक परम्परा

लोक-साहित्य मौखिक परम्परा में अपने स्वरूपों को समाहित किए रहता है। जब तक कोई सुधी उसको संकलित कर एक स्वरूप प्रदान नहीं कर देता तब तक उसका पूर्व रूप एक स्रोतस्विनी के समान प्रवाहित रहता है। उसमें परिवर्तन और परिवर्धन प्रत्येक समय सम्भव रहे हैं, इससे उसका मूल पाठ प्राप्त कर लेना असम्भव है। सम्पादन के दृष्टिकोण से यदि कोई सम्पादक प्रयास भी करे तो वह अपने अध्ययन और प्रयत्न के बल से उसके प्राचीनतम रूप को ही प्राप्त कर सकता है; किन्तु कोई उसे ही यदि मूल पाठ कहने का दुस्साहस करे, तो वह कोरा दम्भ है। सच तो यह है कि उसके प्राचीनतम पाठ के पूर्व भी मौखिक परम्पराओं ने उसमें न जाने कितने परिवर्तन किए होंगे अथवा नवीन अंश जोड़े होंगे।

जगनिक का मूल 'आल्हखण्ड' बुन्देली भाषा में था; किन्तु उक्त भाषा में उसका मूल रूप लुप्त हो गया। उसके गेय होने के कारण उसका मौखिक रूप आज भी हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में विद्यमान है; किन्तु आज के सम्पादित 'आल्हखण्ड' 'वीसलदेव रासो', 'ढोला मारू रा दूहा' अपने प्राचीनतम रूप का दावा नहीं कर सकते।

प्राकृतिक और स्वाभाविक स्वरूप

यह साहित्य साहित्य-शास्त्र के रीति-ग्रन्थों के विधानों पर अपने स्वरूप का निर्माण नहीं करता है। उसका सरल और तरल स्वरूप अलंकार और रस-परिपाक के लिए विशिष्ट उपमान और उद्दीपन आदि की उपेक्षा न कर ग्रामीण और जीवन के निम्न स्तर के आवश्यक तत्वों को चुनकर अक्षुण्ण रहता है। लोक-भाषा में सरल और अकृत्रिम भावनाओं को सन्निविष्ट किए पर्वताय स्रोत के समान अबाध गति से वेगपूर्वक बहता रहता है, जिसका प्रभाव मर्मस्पर्शी और सन्देश निष्कपट होता है।

लोक-साहित्य का निर्माणकर्ता प्रस्तुत भावनाओं से आँख-मिचौनी खेले बिना ही उन्हें विस्तृत होने देता है। इस सम्बन्ध में वह अपने वातावरण का भी पूर्ण ध्यान रखता है। इसी से उसकी अभिव्यंजना में कल्पनात्मकता और काव्य-सौष्ठव का

---

१. ढोला मारू रा दूहा (ना० प्र० स०) पृष्ठ २७

शिष्ट स्वरूप नहीं आ पाता। यों कला की सार्थकता के लिए अलंकार, छन्द, रस-तत्व आदि सभी विद्यमान रहते हैं; किन्तु भाव-धारा के अनुकूल वह स्वयमेव आगत हैं। इसी से साधारण ग्रामीण समाज को वे सब ग्राह्य हो जाते हैं, उसे उनको समझने में मस्तिष्कीय व्यायाम की आवश्यकता नहीं होती।

आल्हा और ढोला की ग्रामीण समाज में जब व्यवस्था होती है लोग उनको सुनने के लिए दूर-दूर से खिंचे चले आते हैं। वे मन्त्र-मुग्ध होकर सुनते हुए उनका रसस्वादन लेते हैं। यह सब काव्य के प्राकृतिक और स्वाभाविक स्वरूप के कारण ही सम्भव है। यदि उनका अन्यथा स्वरूप होता तो अपढ़ जन-समाज उनसे निराश हो रहता।

'ये लोक-गीत जनता के हृदय के सच्चे प्रतिबिम्ब हैं, जो साहित्य के विधानों के भीतर नहीं आ सके; किन्तु शताब्दियों से मनुष्य हृदय के साक्षी बनकर गाँवों के वायुमण्डल में सदैव के लिए सुरक्षित हुए हैं। हमने अपनी बौद्धिक अहंमन्यता में इन ग्राम-गीतों को भले ही भुला दिया हो; किन्तु उन्होंने ही सच्चे भारतीय हृदय का निर्माण किया है और इन्हीं की ध्वनियों से हमारे पूर्वजों के हृदय में रक्त का स्पन्दन हुआ है।'[1]

भारतीय संस्कृति और जीवन का निर्मल स्वरूप

मानव-जीवन में विविध प्रकार के ऋतूत्सवों, संस्कारों और मंगल अवसरों का आगमन होता है। इन्हीं के सम्बन्ध में लोक-गीतों का प्रचार और व्यवहार प्रत्येक समाज में है जिनसे साँस्कृतिक भावनाओं और सामाजिक आचार-विचार का संरक्षण और एक सूत्रता बनी रहती है।

लोक-गीतों और लोक-गाथाओं के आधार पर मानव-जीवन के निर्मल स्वरूप पर सम्यक प्रकाश पड़ता है, जिनसे परस्पर के व्यवहार और विविध सम्बन्धों के निर्वाह में भी यथोचित मार्ग-प्रदर्शन होता है। फलतः जीवन-निर्माण के सम्बन्ध में उनसे काफी प्रेरणा मिलती है।

संगीत

संगीत में नृत्य, वादन और गीत का समिश्रण रहता है। लोक-गीत और लोक-गाथाएँ [1] प्रायः नृत्य और वादन के साथ गाई जाती हैं। नृत्य और वादन यों ही मर्मस्पर्शी होते हैं; किन्तु जब उनके साथ लोक-साहित्य की मार्मिक भावनाएँ मिश्रित हो जाती हैं, तब प्रभावोत्पादक संगीत का स्वरूप प्रस्तुत हो जाता है।

ग्रामीण जीवन में जातीय गीत सदैव किसी न किसी वाद्य पर नृत्य के साथ

---

१. डा० रामकुमार वर्मा—साहित्यशास्त्र

गाए जाते हैं। इनमें सामूहिक गान होते हैं और गान के साथ सामूहिक नृत्य भी सम्पन्न होते हैं।

भाषा

लोक-साहित्य ग्रामीण समाज के उपयोग के लिए होता है। जिसमें उसी के स्तर के अनुकूल भाषा का प्रयोग रहता है। फलतः किसी भी देश के साहित्य की सरल और मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना लोक-साहित्य की भाषा में ही समाई हुई मिलती है।

लोक-साहित्य के प्रकार—लोक-जीवन की भावनाओं की प्रवृत्तियों पर ही लोक-साहित्य की विविधताएँ अवलम्बित हैं। उसके १. लोक-कथा, २. लोक-गीत, ३. लोकोक्ति तीन विभेद किए जाते हैं।

लोक-कथा के धर्म-गाथा, लोक-गाथा और लोक-कहानी तीन भेद हैं। धर्म-गाथाओं की वस्तु मानवेतर ईश्वरीय होती है। इसमें मनुष्य की भावनाएँ धर्म और ईश्वर की ओर ही उन्मुख रहती हैं। इन गाथाओं में जीवन-निर्माण के तत्व समाए रहते हैं। इस प्रकार साहित्य की अपेक्षा इनमें धार्मिकता अधिक रहती है। ये गाथाएँ वस्तुतः धर्म की अंग हो जाती हैं।

लोक-गाथाओं में एतिहासिक तथ्य रहते हैं। जीवन के उपयोग में आने वाले आदर्श वस्तुतः इनसे उपलब्ध होते हैं। इन्हीं के अन्य रूप लोक-कहानियों में आदर्श की अपेक्षा कौतूहल और मनोरंजन विशेष रहते हैं।

लोकोक्तियों में जीवन की अनुभूतियाँ समाई रहती हैं। प्रतिदिन के जीवन में मानव उन्हें प्रयोग में लाकर सत्य का प्रतिपादन करता रहता है।

अब रहे लोक-गीत, वे लोक-साहित्य के त्रिविध स्वरूपों में जीवन के समीपतम रहते हैं। जीवन के हर्ष-विषाद किसी भी वेला में उनका उपयोग होता है। मानव हर्ष और उत्सवों के समान शोक के समय भी गाता है। इस प्रकार लोक-गीतों की अपनी विशेष महत्ता है।

लोक-गीत

लोक-गीतों में हमारी जातीय और सांस्कृतिक भावनाओं की निधि छिपा हुई है। इसी से यदि देश के किसी कोने से हम किसी भाषा का लोक-गीत लेकर परी-

---

1. Thc ballads are incomplete without music. They can not achieve their full effect unless they are sung to their own particular tunes and thay can not be understood historically unless their relationsbip to music is understood.

M. J. C. Hodgart—The Ballads—The music of the Ballads.

क्षण करें तो भारतीय स्वभाव और विचारों का उसमें समिश्रण मिल जावेगा। सम्पूर्ण देश की विविध भाषाओं में तो अपने-अपने लोक-गीत हैं ही; किन्तु विविध जातियों में भी अपने-अपने गीत गाए जाते हैं। उन सभी में हमें एक सूत्रता पिरोई हुई मिलेगी, पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा अनपढ़ों ने, नगरों की अपेक्षा गावों ने, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों ने, लोक-गीतों को सुरक्षित रखने का अधिक प्रयत्न किया है। आज भी यह तथ्य असत्य नहीं है।

जीवन में जन्म, विवाह और मृत्यु ऐसी घटनाएँ हैं जो हमें हर्ष अथवा विषाद से उद्वेलित करती रहती हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त विविध संस्कार, पर्व, त्योहार, ऋतूत्सव आदि के अवसरों पर भो हम प्रफुल्लित और आनन्दित होते हैं। इन सभी अवसरों पर पारिवारिक अथवा सामाजिक रूप में इन गीतों के गानों की व्यवस्था की जाती है।

माङ्गलिक समारोहों पर भारतीय जीवन में गीत गाना अनिवार्य रहा है। यदि उनमें गायन न हो तो उन्हें अशुभ और अमंगल मानते हैं। कभी-कभी तो समारोह सम्पन्न होने के दिन से सप्ताहों पूर्व ही से गीत-गान की परिपाटी है। इसी प्रकार होली के लिए सम्पूर्ण फालगुन मास भर फाग गाये जाते हैं। इन गीतों के गाने के लिए ढोलक, मृदंग, सारंगी और मंजीरा आदि प्रयोग में आते हैं।

हमने अपने जीवन में आनन्द और मंगल का सम्यक् मूल्य समझा है। इसी से उनके सम्पन्न करने की विधि-विधान के साथ हमने अवसर के अनुकूल अपने गीतों को भी सुरक्षित कर लिया है। इस परम्परागत भावना के कारण गीतों की परम्परा अक्षुण्ण रह सकी है और उनके कारण हमारे सङ्गीत को मार्गी अथवा देशी पद्धति को भी बल मिलता रहा है।

लोक-गीतों में सरल और स्वाभाविक भाषा-शैली के अतिरिक्त संगीतात्मकता, आत्माभिव्यंजन, विचारों की एकरूपता और संक्षिप्तता आदि सभी तत्त्वों की उपलब्धि होती है। इस स्थल पर कुछ लोक-गीतों को लेकर हम उनके निष्कपट सन्देश को देख लें और देख लें कि भारतीय जीवन की कितनी परम्पराएँ और विचारणाएँ उनमें अन्तर्निहित है।

सोहर गीत

एक भारतीय सधवा, जिसकी गोद अभी तक सूनी है। अपने आँगन के चन्दन वृक्ष पर बैठे कौवे से पूछती है कि नैहर से आए हो या प्रियतम ने सन्देश भेजा है? कौवे ने उत्तर दिया कि न मैं नैहर से आया हूँ और न प्रियतम का सन्देश ही लाया हूँ; किन्तु नवें महीने तुम्हारे पुत्र होगा। इस सन्देश को सुनकर स्त्री आनन्द से फूल उठी और कह उठी, 'हे काग! पुत्र होने पर मैं तुम्हें दूध की दोनी दूँगी और तुम्हारो चोंच को सोने में मढ़वा दूँगी।' गीत में कौवे द्वारा सन्देश लाने की भारतीय परम्परा

के साथ पुत्र जनने की नारी की अभिलाषा बड़ी ही सजीव है—

हमरे अँगन चंदन बिरवा हो वो, लहर लहर करे,
लहर लहर करे हो।
एहो वाहि चढ़ि बोले एक काग बचन बड़ा सुन्दर, बोलिया सुहावन हो।
कि कागा नैहर से आयो कि हरि जी पठायो हो।
कागा ! कौन संदेश तुम लायो बचन बड़ा सुन्दर बोलिया सुहावन हो।
न हम नैहर से आए न हरि जी पठाये हो,
धनिया ! आज के नवें महिनवाँ होरिला तोहरे होइहैं,
ललन तेरे होइहैं हो।
जो हमरे होइहैं होरिलवा तो दूध दुनिया देवैं हो।
रहो सोने के चोंच मढ़इबै बधइया बजबइवै हो॥

वहू सोकर उठी है। रात में प्रत्येक पहर में उसने एक-एक स्वप्न देखा है। पीढ़ा पर बैठी हुई अपनी सासु से वह प्रत्येक प्रहर के सपने का उल्लेख कर विचार करने के लिए कहती है। पाँचवें प्रहर में उसने ऐयन (पिसा हुआ चावल) लेकर छड़ी रखते हुए अपने को देखा है। छड़ी रखने की परिपाटी भारतीय जीवन में पुत्र जन्म पर ही सम्पादित की जाती है। इसको शुभ स्वप्न समझकर वह बहू से चुप रहने के लिए कहती है। आठवें महीने के बीतने पर नवें महीने के लगते ही आनन्द-बधाइयाँ बज उठीं और सोहर राग गाए जाने लगे।

रात्रि में चार प्रहर ही होते हैं ; किन्तु बहू ने अन्तिम प्रहर को पाँचवाँ प्रहर कहा है, जो अशुद्ध है। उसके कथन में भले ही अशुद्धता है ; किन्तु उसका मन्तव्य अन्तिम प्रहर से है। अन्तिम प्रहर का स्वप्न भारतीय जीवन में सत्य माना जाता है। इसी तथ्य के विश्वास पर गीत का मूक सन्देश आश्रित है—

मंचहि बैठी है सासू तो बहुअरि अरज करे हो,
सासू ! सपने का करहु विचार सपन बड़ा सुन्दर हो।
पहला सपन सासू ! देख्यौ मैं पहिले पहरमा हो,
सासू ! चन्द सुरज दोनों भइया अँगन मोरे उइ गए हो।
दूसरा सपना सासू ! देख्यौ मैं दूसिरे पहरमा हो,
सासू गंगा जमुना दोनों बहनी अँगन मोरे हलरे हो।
तिसरा सपन सासू ! देख्यौ मैं तिसरे पहरमा हो,
सासू ! राम लखन दोनों भइया अँगन मोरे किलकै हो।
चउथा सपन सासू देख्यौ मैं चउथे पहरमा हो,
सासू ! कुश की डेलरिया मोरे हाथ तो गइया संकलपौ हो।
पँचवा सपन सासू ! देख्यौ मैं पँचवे पहरमा हो,
सासू ! अइपन भरल मोरा हाथ तो छडिया धरत देख्यौ हो।

चुप रहो बैरिन चुप रहो बहुहरि ! जन सुनि हैं,
बहुरि सपने का करहु विचार सपन बड़ा सुन्दर हो।
आठ मास केरे बीतत नवें के लागत हो,
यहो बजे लगि अनन्द बधइया उठे लगे सोहर हो।

सोहर गीतों में जच्चा की कामना, पीड़ा, प्रसव, आनन्द-बधाव और नेग के गीत तथा बच्चे के जन्म ले चुकने पर जन्ति, छठा, जगमोहन लुगरा और तगा के गीत गाए जाते हैं। सम्पूर्ण हिन्दू परिवारों में इन्हीं के सम्बन्ध में गीत गाने की परिपाटी है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में 'मनरजना' गीत गाने की भी पद्धति है। जिस प्रकार व्रज प्रदेश के जगमोहन लुगरा में जच्चा और नन्द के मध्य में नेग को लेकर नोंक-झोंक चलती है वही विषय 'मनरजना' गीतों का भी होता है। 'मनरजना' 'मनोरंजन' तत्सम शब्द का ही तद्भव रूप है।

मनरजना—पुत्र के जन्म के उपलक्ष में परिवार ने भोज की व्यवस्था की है। जच्चा ने सासु से भण्डार, जिठानी से चौका और अपने प्रियतम से अपने बक्स का हाल पूछा। उनसे यह सुनकर कि नन्द अधिक-से-अधिक ले गई वह आँगन में लौटने लगती है और कह उठती है कि मेरे नन्दलाल क्यों हुए जो इस प्रकार मेरा घर लुट गया।

कमरे से निकली जच्चा सासू जी से पूछे लागी हो,
कहो सासू भँडार का हाल तो सीधा पानी कितना बचा हो।
एक सीधा नाऊ को दीन्हा एक बरीवा का दीन्हा एक कहरवा का दीन्हा,
सोरह बोरा लैगई ननदिया तो चौका तेरा हुर्र हुआ हो।
कमरे से निकली जच्चा जिठानी जी से पूछे लागी हो,
कहो जिठानी चौके का हाल तो खाना पीना कितना बचा हो।
एक पतरी नाऊ का दीन्हा एक बारीक का दीन्हा एक कहरवा का दीन्हा हो,
सोलह थाल लैगई ननदिया तो चौका तेरा हुर्र हुआ हो।
कमरे से निकली जच्चा राजा जी से पूछे लागी हो,
कहो राजा बकसे का हाल तो गहना गीढ़ो कितना बचा हो।
एक चीन्ह नाऊ का दीन्हा एक बरीवा का दीन्हा एक कहरवा का दीन्हा हो,
भारी नेकलस लैगई ननदिया तो बक्सा तेरा हुर्र हुआ रे।
कमरे से निकली जच्चा अँगन भर में लोटे लागी हो,
धोती कुरता काड़े लागी हो,
मोरे काहो का भए नन्दलाल मोरा घरा दुवरवा लुट गवा हो।

'नेकलेस' शब्द का प्रयोग गीत का निकट भूत में निर्मित होना अवश्य सिद्ध करता है, किन्तु फिर भी नन्द के साथ भाभी की इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा नेग के लेन-देन में हुआ ही करती है। इसी भावना का प्रस्फुटन इस गीत में हुआ है।

भाभी ने नन्द को पुत्र होने पर गले की तिलरी देने का वचन दिया है। पुत्र हो जाने पर वह तिलरी न देकर कह देती है कि अपने भतीजे को भले ही ले जाओ, किन्तु मैं तिलरी न दूँगी। वह नव-जात पुत्र को ले जाती है। इस पर माता का हृदय दुखी हो उठता है। वह विवश हो तिलरी दे देती है और पुत्र उसे पुनः प्राप्त हो जाता है। अनन्तर नन्द की विदा-वेला पर वह भेंट के समय गले की तिलरी तोड़ लेती है—

कोई कोठे से उतरी भवजइया मनरजना
कोई छोटी ननद मुख घेरे अहो मन०
भाभी जो हमरे होइहैं भतिजवा मन०
भाभी क्या दोगी हमको नेग अहो मन०
बीबी जो तुमरे होइहैं भतिजवा मन०
तुम्हें दूँगी गले की तिलरी अहो मन०
कोई मोरे तो शब्द सुनावे मन०
आज जन्मे है कुँवर कन्हहि अहो मन०
कोई धीरे से देली कबड़िया मन०
मोरी छोटी ननद नहीं जानें अहो मन०
राजा धीरे से बजना बजवइ हो मन०
कोई द्वारे बसे छोटी ननदी हो अहो मन०
कोई द्वारे पे डाढ़ी ननदिया मन०
भाभी लाओ गले की तिलरी अहो मन०
बीबी लाऊँ कहाँ से तिलरी मन०
तुम ले जाओ अपना भतिजवा अहो मन०
ननदी ले गई हमरा होरिलवा मन०
मोरा लरज लरज जिया होवे अहो मन०
बीबी देजाओ हमरा होरिलवा मनरजना
तुम लेजाओ गले की तिलरी अहो मन०
कोई ननदी के आए लिवइया मन०
कोई ननदी विदा की बेरिया अहो मन०
मैंने चलते में तोड़ ली तिलरिया मन०
गले मिलते में तोड़ा हार अहो मन०
राजा कैसी मैं चतुर निकली मन०
मैंने दोनों ही चीजें लेलीन्ही अहो मन०

मुण्डन गीत

नेग के लिए यह छीना-झपटी मुण्डन गीत में भी है। मुण्डन संसार के उपरान्त नाई को एक रुपया दिया जा रहा है, किन्तु वह उसका लेना अस्वीकार कर अपनी मूल्यवान माँग प्रस्तुत कर रहा है—

झगरै नउआ मुड़न केरि बेरिया
लाख डालिए छुइयों न हाथ से
न लइहौं एक रुप्या मुड़न केरि बेरिया
चाँदी का छूरा कटोरी सोने की
तेहया अरौ रुप्या मुड़नै केरि बेरिया
विलँब होत लाखि लाल मगन भए
हाथ लिये हैं लडुआ मुड़न केरि बेरिया
पाँव पैजरियाँ कमल करधनियाँ
हाथ में सोने के खेडुआ मुडन केरि बेरिया।

पुत्र बड़ा होकर अब चलने-फिरने लगा है। माँ कहती है—देखो दूर खेलने मत जाना। मैं माँ-बाप की दुलारी, सात भाइयों के मध्य में अकेली बहन, पति की प्यारी हूँ, तुम्हें ढूंढने न जाऊँगी ; किन्तु पुत्र के दूर चले जाने पर वह आकुल हो उठती है और अपने गर्व को तुच्छ समझ कर उसे ढूंढने निकल उठती है। वात्सल्य का मार्मिक स्वरूप इस लोक गीत में विद्यमान है—

कमर में सोहे करधनियाँ, पाँव पैजनियाँ,
ललन दूरी खेलन जनि जाहु ढुँड़न हम न अउबै।
सात बिरन की बहिनिया बाप धिया एकै,
हरि जी के परम पियारी ढूँड़न कैसे अउबै।
चोर भए भिनसखा कलेवना की जुनिया,
हुइमै कलेवना की बेर ललन नहि आए।
छाँड़ेउ मैं सातों बिरनवा बाप कै नैहर,
छाँडि दीन्हो हरि की सिजरिया ढूँड़न हम आइन।
जैसे कुम्हार का औवा भभकि रहै,
बेटा वैसई माई का करेजवा धधकि धधकि रहै।

गीत की अन्तिम पंक्ति में मातृ-हृदय का वात्सल्य उत्कर्ष पर पहुँच गया है। वह केवल भारतीय माँ ही न रहकर विश्व में मातृ-पद का प्रतीक हो उठा है।

विवाह गीत

विवाह संस्कार के लोक-गीत भी जन-जीवन में व्यापक हैं। वर-कन्या दोनों

पक्षों में समान रूप से इस संस्कार के समारोह सम्पन्न किए जाते हैं। वधू जब विवाहिता होकर पति-गृह में पहुँच जाती है तब यह संस्कार समाप्त हो जाता है। विवाह के सगाई, पीली चिट्ठी, लग्न, भात माँगना, ताई, तेल, बरात आगमन, द्वाराचार, भाँवर, बढ़ार, विदा, बरात का वधू को लेकर वर के घर पहुँचना आदि विविध समारोह होते हैं। इन सभी अवसरों पर गीत गाए जाने की व्यवस्था है।

विवाह के पक्के हो जाने पर कन्या के अभिभावक विवाह में दहेज देने के सम्बन्ध में परस्पर विचार-विनिमय करते हैं। निम्नलिखित गीत में इसी समस्या का समाधान है—

इँटिया पथायो बाबा इंटिया पथायो रे
ईंटिया पथाई बाबा महला उठायो रे
ताहि चढ़ि बैठे हैं बेटी के बाबा हो
रानी कवन देइ बेनियाँ डुलावे रे
बेनियाँ डुलावे तेहि पूँछें हसि बात रे
कितने दहेज देही बेटी के ब्याह रे
हाथी दैबैं घोड़ा दैबै सोरहो सिंगार रे
मकुनी हाथी दैवै बेटी के ब्याह रे।

यह गीत यहीं पर समाप्त न होकर कन्या के चाचा-चाची, फूफा-फूफी, मामा-मामी आदि सभी को लेकर चलता है।

बरात द्वार पर आ गई है। बजते हुए बाजों को सुनकर कन्या कौतूहल अनुभव करती हुई माँ से पूछ उठती है कि यह बाजे कहाँ बज रहे हैं? माँ उसके ब्याह की बात कहती है। वह प्रतिकार करती है कि अभी तो मैंने डलिया बिनना और रसोई बनाना नहीं सीखा है। हे माँ! सासु और ननद भैया को गाली देंगी, मुझसे सहा न जावेगा। माँ कहती है—बेटी, डलिया बिनना और रसोई बनाना सीख ले। यदि तेरी सासु और ननद भैया को गाली दें तो उन्हें आँचल पसार कर ले लेना।

भारतीय संस्कृति में पली हुई माताएँ अपनी कन्याओं को इसी प्रकार का उपदेश देती हैं।

सोवत रहलि मैं भइया के गोदिया चौंकुल पढ़ीउँ आधी रात रे
केकरे दुआरे भइया बाजन बाजे केहिकर रचा है विवाह
बावरी भइलूँ तू ए मेरी बेटी मति तोरी गई भरमाइ
तोहरे दुआरे बेटी बाजन बाजे तोहरहि रचा है बिआह
नाही सीखो मइया रे डेलिया डेलरिया नाही सीखो राम रसोई रे
सासू ननद भइया मैया गरिअइहें मोरे बूते सहइ नहिं जाय
सिख लेउ बेटी रे डेलिया डेलरिया सिख लेउ राम रसोई रे
सासू ननद बेटी भइया गरिअइहें लैलिहों अँचरा पसार।

यह गीत कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ कविता कौमुदी—भ्रमरगीत के विवाह-गीतों में भी आया है; किन्तु यहाँ जिस रूप में यह उपलब्ध हुआ है उल्लेख किया जा रहा है।

वर-कन्या की भाँवरों से पूर्व उनका गठबन्धन हो जाता है। गठबन्धन के अनन्तर वे भाँवरे लेते हैं। उसी अवसर पर सखियाँ उनके सौंदर्य का वर्णन करती हैं—

वर दुलही लेत भँवरिवा रे
पंडित बैठ के वेद उच्चारे गावहिं सखिया सहेलरिया रे
दुलहा के सोहे केसरिया जामा, दुलहिन के सोहे चुनरिया रे
सोहैं सुहागिन के भाल चुनरिया जगमग ज्योति उजरिया रे
चुँदरी पटुका कै गठबन्धन बँधे है राधा सँवरिया रे।

भाँवरों के अवसर पर कन्या सोच उठती है कि वह कुछ ही क्षणों में श्वसुर-कुल की हुई जाती है। फलतः एक-एक भाँवर पर वह अपने एक-एक अभिभावक को पुकारतो है किन्तु कोई नहीं आता है। इस प्रकार सातों भाँवरों के पड़ जाने पर वह पराई हो जाती है—

बाबा बाबा गोहराऊँ बाबा न बोलई
पहली भँवरिया के भीतर अब दूँ तुहार
चाचा चाचा गोहराऊँ चाचा न बोलई
दुसरी भँवरिया के भीतर अब दूँ तुहार
मामा मामा गोहराऊँ मामा न बोलई
तिसरी भंवरिया के भीतर अब दूँ तुहार
फूफा फूफा गोहराऊँ फूफा न बोलई
चउथी भंवरिया के भीतर अब दूँ तुहार
मौसा मौसा गोहराऊँ मौसा न बोलई
पँचवीं भंवरिया के भीतर अब दू तुहार
बाबू बाबू गोहराऊँ बाबू न बोलई
छठवीं भंवरिया के भीतर अब दूँ तुहार
भइया भइया गोहराऊँ भइया न बोलई
सतवीं भंवरिया के भीतर होइ गइ पराई।

कन्या जब पितृ-गृह से विदा होती है उसके समक्ष बाल-जीवन के सुखों और साथियों के विविध चित्र खिच जाते हैं। फलतः उसका चित्त दुखी हो उठता है। विदा-वेला के निम्न गीत में समाहित विषाद का भाव बड़ा ही मार्मिक है—

हमें कछु नीको न लागे काहे को ब्याही विदेस
भइया को दीन्हा महल अटरिया
हमें तो दिहो है परदेस, हमें कछु०

कहाँ मिलिहैं बाबुल कहाँ मेरी मइया
सखियन छूटत कलेस हमें कछु०
खूंटा की गइया साँझहि लौटें
हमें तो सदा को विदेस, हमें कछु०
आज घड़ी मैंने गुड़िया जो छोड़ी
छोड़ा सखियों का स्नेह, हमें कछु०
गंगा जमुना जैसी मइया जो छोड़ी
छोड़ा सहेलियों का देस, हमें कछु०

उपर्युक्त दोनों संस्कारों के अनन्तर मृत्यु जीवन का अन्तिम संस्कार आता है। इसके घटित होने पर सामाजिक जीवन में दुःख, अवसाद और उदासीनता छा जाती है। फलस्वरूप गीत गाने के उत्साह और उल्लास विनष्ट हो जाते हैं। डा० सत्येन्द्र ने व्रज-जीवन में चतुर्वेदियों के यहाँ मरण-गीत गाने की परिपाटी का उल्लेख किया है उन्हीं के 'व्रजलोक साहित्य का अध्ययन' से 'मरण-गीत' उद्धृत किया जा रहा है—

काए के कारन जो बए, और काहे के हरे हरे बाँस।
हरि रे किसन कैसें तियरओ।
लाला धरम के कारण जो बएं, मरन के काजें हरे हरे बाँस।
हरि रे किसन कैसें तिरयओ।
बेटी न व्याही आपनी, मढ़ेह न लीयो कन्यादान।
हरि रे किसन कैसें तिरयओ।
काए के कारन गऊ दई, काए के दिए गउदान।
हरि रे किसन कैसें तिरयओ।
पार के काजे गऊ दईं, और तरन कूँ दए गउ दान।
हरि रे किसन कैसें तिरयओ।

अन्य प्रकार के लोक-गीत

उपर्युक्त के अतिरिक्त त्योहार, व्रत, देवी, नौरता, टेसू आदि के गीत और ऋतुओं के गीत (सावन में मल्हार, क्वार में विलवारी, कार्तिक में दिवाली, फागुन में फाग, चैत में चैती गीत) तथा जातीय गीत (धोबियों के धुबियाऊ, ढीमरों के ढीमरयाऊ औद गड़रियों के गड़रियाऊ गीत) आदि-आदि गाने की पद्धति प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित है।

एक देवी गीत देखिए, जिसमें गायिका अंधों को नेत्र, कोढ़ी को काया और बाँझ को पुत्र प्रदान करने की देवी से प्रार्थना करती है।

आश मेरी पूरन करो माता
कि हाँरी देवा काहे का तेरा मंडप

काहे के चार खम्भे लगे माता, आश······
कि हाँरी मालिन सोने का मोरा मंडप
केले के चार खम्भे लगे मालिन, आश······
कि हाँरी देवा काहे का तेरा चौरा
काहे के चार ठप्पे लगे माता, आश······
कि हाँरी देवा हरिआई को चौरा
रूपे के चार ठप्पे लगे माता, आश······
कि हाँरी देवा अन्धन को आँखी कोढ़ी को काया
बंझिन को बालक देवो माता, आश······

चैती वसन्तकालीन गीत है। वसन्त में प्रकृति के प्रफुल्लित और सुरभित हो उठने पर पशु, पक्षी, मानव आदि सभी में आनन्द का उद्रेक हो उठता है और मादकता छलक उठती है। एक छोटी अवस्था की ग्वालिन मथुरा नगर दही बेचने को चल दी। वह जहाँ-जहाँ मटुकी रखती है राजा का कुमार वहाँ-वहाँ तम्बू लगवा देता है। ग्वालिन के यह कहने पर कि तुम आगे-आगे चलो नहीं तो दही के छींटे पड़ जाएँगे। वह उत्तर देता है कि जिसे तुम दही के छींटे कहती हो, मेरे लिए तो वे देवता द्वारा बरसाए जाने वाली अगर और चन्दन की बरसा है। इस प्रकार गाकर एक सखी एक विरहिन को समझा रही है।

रामा, छोटि मोटि ग्वालिन सिर तो मटुकिया, हो रामा।
चलि भइल मथुरा नगर दही बेंचन, हो रामा।
रामा, जहाँ जहाँ ग्वालिनि धरेले मटुकिया, हो रामा।
तहँ तहँ कुँवर तनावे तमुआ, हो रामा।
रामा, आगू होख आगू होख राजा के कुँअरवा, हो रामा।
परि जइहैं दही के छिटकवा, हो रामा।
रामा, तोरा लेखे ग्वालिन दही के छिटकवा, हो रामा।
मोरा लेखे अगर चनन देव बरिसै, हो रामा।
रामा चढ़ ले चइतवा, चइत घाँटो गावे, हो रामा।
गाइ गाइ विरहिन सखि समुझावे, हो रामा।

इस प्रकार लोक-गीतों के प्रस्फुटन में हम देखते हैं कि उनमें जीवन की रसात्मकता, भाषा-शैली की स्वाभाविकता और सरलता तथा संस्कृति की प्रतीकात्मकता सदैव विद्यमान रही है। इन्हीं तथ्यों के कारण वे हमारे जीवनों में घुले-मिले रहे हैं तथा संगीत और साहित्य के लिए अभिप्रेरणात्मक रहे हैं। उनके वैविध्य और स्वरूप के सम्बन्ध में श्री सत्यार्थी जी का कथन है—

"कहाँ से आते हैं इतने गीत लोक-जीवन में? कुछ काले बादलों से, बस बरसने को तैयार, कुछ इन्द्रधनुष से, सूर्योदय से लाल-लाल; या फिर सूर्यास्त की रक्त

रश्मियों से, बढ़ते अँधेरे का अंचल छूते; गाय के दूधिया, मिष्ठ श्वास से; उगते गेहूँ से, धान से या फिर किसी अनाज से; फसल काटते मस्त कृषक के दिल से; घास छीलती नारी चुनरी से अस्त-व्यस्त; स्मरण-विस्मरण की आँख मिचौनी से। जीवन के खेत में उगते हैं ये सब गीत। कल्पना भी करती है अपना काम, रस-वृत्ति और भावना भी, नृत्य का हिलोरा भी। पर ये सब हैं खाद। जीवन के सुख, जीवन के दुख ये हैं लोक-गीत के बीज। लोक-गीत हृदय के खेत में उगते है। सुख के गीत उमंग के जोर से जन्म लेते हैं और दुःख के गीत तो खौलते लहू से पनपते हैं और आँसुओं के साथी बनते हैं।[1]

प्रबन्ध गीत

अभी तक लोक-जीवन में प्रतिष्ठित लोक-गीतों की परम्परा को हमने देखा है। इनमें गीतों का मुक्तक रूप ही सिद्ध हुआ है; किन्तु इनके साथ उनका प्रबन्ध रूप भी था, जो समाज में उत्साह और मनोरंजन की प्रेरणा के लिए व्यवहृत होता रहा है। पारिवारिक जीवन में इन प्रबन्धात्मक गीतों का प्रयोग 'विवाह-संस्कार' में मिलता है; किन्तु जाँत के गीतों में ये अधिकाधिक प्रयुक्त हुए हैं। उस समय स्त्रियों के समीप समय का अभाव नहीं होता; फलतः वे लम्बे गीत सुविधा से गाती रहती हैं। पुरुष वर्ग भी इन गीतों के परिवर्तित अथवा परिवर्धित रूप को अपने परिमित समाज या विशाल जन-समूह में गाकर आनन्दित और प्रोत्साहित होता है।

इन प्रबन्ध गीतों में रामायण, महाभारत, इतिहास आदि के वृत्तों की प्रतिष्ठा रहती है। कभी-कभी स्थानीय घटनाओं पर अवलम्बित अथवा काल्पनिक वृत्त भी स्वीकृत कर लिए जाते हैं। मुक्तक गीतों के समान इनके द्वारा भी हमारी संस्कृति आचार-विचार और आदर्शों का संरक्षण होता रहा है और संगीत तथा साहित्य को प्रेरणा मिलती रही है।

राम और कृष्ण के चरित-परक प्रबन्ध गीत अन्य गीतों की अपेक्षा अधिक उपयोग में आए हैं। गोपीचन्द, राजा भरथरी, ढोला, आल्हा, पूरन भगत, हीर-राँझा ऐसे प्रबन्ध गीत हैं जिनमें ऐतिहासिक वृत्तों के साथ कल्पना के तत्त्व मिले हुए हैं। इस स्थल पर यह भी ध्यान रखने की बात है कि इन प्रबन्ध गीतों का किसी विशिष्ट समाज और प्रान्त में ही प्रयोग नहीं है। ऐतिहासिक तथ्य से उनकी घटनाएँ भले ही अलग-अलग प्रदेश में हुई हों; किन्तु आज वे सम्पूर्ण राष्ट्र और समाज की निधि हैं। सभी समान रूप से उनसे प्रेरणा लेते हैं।

यदि गोपीचन्द, राजा भरथरी और पूरन भगत के प्रबन्ध वैराग्य की प्रेरणा देते हैं तो ढोला और हीर-राँझा प्रेम के संयोग और वियोग की तथा आल्हा वीर

---

१. श्री देवेन्द्र सत्यार्थी—धरती गाती है, पृष्ठ १०७

रस की। इनमें से आल्हा ऐसा वीर-गीत है जो समाज के आलस्य तथा निष्क्रियता को उच्छेदन करने में विशेष सफल रहा है। अन्यों से प्रेम और वैराग्य के कोमल भाव ही मिलते रहे हैं। गोपीचन्द का वैराग्य बंगाली, उड़िया, भोजपुरी, पंजाबी, मराठी, गुजराती और दूसरी भाषाओं के लोक-काव्य गीत, प्रेम काव्य का विषय रहा है और अवधी वैरागी भिखारियों के द्वारा हिन्दुस्तान और दक्षिण में गाया जाता है। डा० चटर्जी का यह कथन यद्यपि गोपीचन्द के सम्बन्ध में ही है;[1] किन्तु यह राजा भरथरी, पूरनभगत, ढोला आदि सभी के साथ सत्य है।

निष्कर्ष

लोक-साहित्य के अन्तर्गत लोक-गीतों में हमारी परम्परागत भावनाएँ, आचार-विचार स्वभाव आदि तो छिपे हुए ही हैं, परन्तु उनमें संगीत तत्त्व भी कम नहीं है। उसके भी मूल तत्त्व उसमें घुले-मिले हैं। फलस्वरूप उनमें साहित्यिक गीतों के स्रोत के साथ संगीत के स्रोत भी प्रवाहित हैं। 'धीरे बहो गंगा' की भूमिका-अंश में इसी तथ्य पर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने विशेष बल दिया है—

"भारतीय संगीत के प्राचीन इतिहास और विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों में और जातियों में गाए जाने वाले गीतों के स्वर-ताल का अवश्य ध्यान रखना चाहिए।"

उसी ग्रन्थ में 'लोक-गीत की परख' के अन्तर्गत श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने भारतीय संगीत पर उसका महान् आभार माना है—

'हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि लोक-गीत पहले संगीत है फिर कुछ और। अन्य देशों में लोक-संगीत के अनुसन्धान तथा पुनरुद्धार में बड़े-बड़े संगीतज्ञों ने अपने जीवन का बहुमूल्य समय देकर इसके द्वारा देश की वास्तविक आत्मा को गौरव प्रदान किया है। जहाँ तक हमारे देश का सम्बन्ध है। हम इतना ही जानते हैं कि शास्त्रों में मार्गी और देशी इन दो भागों में संगीत को विभक्त किया गया है और यह बात भी छिपी हुई नहीं कि मार्गी संगीत के विकास में देशी संगीत ने काफी हाथ बटाया होगा। श्री डी० पी० मुकर्जी के मतानुसार ठुमरी, टप्पा, दादरा, कीर्तन,

---

1. Gopichanda's renunciation is the theme of a large mass of folk poetry, songs, ballads and romances in Bengali, Oryia, Bhojpuri, Hindi, Punjabi, Marathi, Gujrati and other languages, and is the subject even now sung other by itiverant Yogi beggars in Hindustan and Deccan.

Dr. S. K. Chatterjee—The Origin and Development of the Bengali language. Vol. I Page 121 (Edition 1926)

भजन इत्यादि 'देशी' या 'लोक-गीत' के ऋणी हैं।"

विद्वानों के उपर्युक्त अभिमत से लोक-गीतों का महत्त्व स्वतः ही स्पष्ट है। सांस्कृतिक साहित्यिक और सांगीतिक मूल स्रोतों और तथ्यों से अवगत होने के लिए हमें लोक-गीतों को ही परखना पड़ेगा, यह ध्रुव सत्य है।

लोक-नाट्य में गीत

शिष्ट नाट्य प्रस्तुत होने से पूर्व हमारे देश में लोक-नाट्य की परम्परा विद्यमान रही है, कल्पनात्मकता के अभाव में उनमें आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन करके शिष्ट नाट्य कला का सूत्रपात किया गया है, इनका यह नवीन स्वरूप ही राजाश्रय और सम्भ्रातों की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका है, जिससे अभिप्रेरित होकर ही भास, कालिदास, अश्वघोष, भवभूति आदि ने अपने-अपने नाटकों की रचनाएँ की थीं, जिनको साहित्यिक प्रतिष्ठा के साथ शिष्ट रंगमंच का सम्मान भी मिला। इनकी विकास की प्रगति के साथ लोक-नाट्य की गति-विधि अवरुद्ध नहीं हो गई, वह भी उसको समानान्तर अबाध रूप से अपने को अक्षुण्ण किए रही। जन-जीवन के मनोरंजन का एकमात्र साधन होने के कारण उसका अकाल निधन न हो सका।

पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्यों में लोक-नाट्य के तत्व मिलने से यह सिद्ध है कि वह सप्राण ही रहा है। अनन्तर देशी भाषाओं के विकास के साथ उसने अपने स्वरूप से उन्हें नाटक रचने और अभिनय करने की प्रेरणाएँ दीं। ये लोक-नाट्य सम्पूर्ण देश में प्रचलित थे और आज भी किसी न किसी रूप में जन-जीवन के मनोरंजन की व्यवस्था कर रहे हैं।

'हमारी देशी भाषाओं में साहित्यिक नाटक के पूर्व जन-नाटक शताब्दियों से अभिनीत होते आ रहे थे। बंगला में यात्रा और कीर्तनियाँ नाटक; बिहारी में विदेशिया अवधी, पूर्वी हिन्दी ब्रज तथा खड़ीबोली में रास, नौटंकी, स्वाँग, भाँड; राजस्थानी में रास झूमर, ढोला मारू; गुजराती में भवाई; महाराष्ट्री में लडिते और तमाशा; आंध्र भाषा में भगवतमेल आदि नाटक विद्यमान थे। जन-नाटक के उपर्युक्त सभी विभेदों में सामान्य रूप से संगीत की व्यापकता थी और गद्य-भाग प्रायः उपेक्षित रहा। रंगमंच का कोई महत्त्व न था और वेशभूषा तथा प्रसाधन अत्यन्त गौण समझे जाते थे।

इन लोक-नाट्यों में अधिकांशतः भगवान विष्णु के दशावतार के वृत्तों के अतिरिक्त प्रतिष्ठित देवताओं की कथाएँ स्वीकृत होती हैं। कभी-कभी प्रदर्शन के लिए उनसे बाहर लोक-जीवन की कथाओं को भी अपना लिया जाता है। ये कथाएं गीतों के माध्यम से अग्रसर होती रहती हैं। जिस प्रकार नाटक में पात्र संवाद के लिए गद्य

---

१. डा० दशरथ ओझा—हिन्दी नाटकः उद्भव और विकास, पृष्ठ ३७

२. डा० चन्द्रभानगुप्त—Indian theatre—The Folk Tradition

का प्रयोग करते हैं इनमें उनके स्थान पर गीत का उपयोग होता है। इस प्रकार ये गीत बहुल होते हैं।

उपर्युक्त में 'यात्रा' और 'रास' दोनों की दीर्घ परम्पराएँ हैं जो हमें अतीत भूत में पहुँचाती है। रास-अपभ्रंश के रासक ग्रन्थों पर आधारित रहने के कारण हमें अपभ्रंश काल में और 'यात्रा' वैदिक काल से पूर्व काल में ले जाता है। 'यात्रा' में देव-प्रतिमा को लेकर चलते हैं और उपासक गण नृत्य, संगीत और नाट्य द्वारा उस देवता की कथा का गान करते चलते है। यह पद्धति हमने उस समय ग्रहण की होगी जब हममें आस्था की भावना जागृत हुई होगी। वेदकाल में तो इस प्रवृत्ति के प्रमाण हैं ही; किन्तु यह उससे पूर्व अवश्य रही होगी।

"यात्रा-नाटक की शैली को देखकर हमें यह प्रतीत होता है कि यह वैदिक काल से भी पूर्व विद्यमान रहा होगा। देव-प्रतिमा के जलूस के साथ इसका सम्बन्ध इस बात का प्रमाण है कि यह नाटक मानव-इतिहास के उस युग में प्रचलित हुआ होगा जब संसार की विभिन्न जातियाँ प्रारम्भ में अपने उपास्य देव की प्रतिमाएँ जलूस के रूप में निकालकर नृत्य और संगीत के साथ अभिनय करती थीं।"[1]

इस प्रकार यात्रा की परम्परा वेद-काल से लेकर आज तक, अक्षुण्ण है और अपने साथ नृत्य संगीत और अभिनय के तत्त्वों को भी सुरक्षित किए है। अपभ्रंश के रासक काव्यों के तीन प्रवाह हैं—(१) जैनाचार्यों के वृत्त (२) वीरों के वृत्त और (३) शृंगार वृत्त। प्रथम के अन्तर्गत गेयसुकुमार रास, नेमिरास आदि; द्वितीय के अन्तर्गत भरतेश्वर बाहुबलिरास, समरसिंह रास आदि और तृतीय के अन्तर्गत लकुटरास, ताल रास आदि आते हैं। इनके आगे भी जैन धर्म के रासक ग्रन्थों की परम्परा चलती रही हैं। इनमें उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है।

रासक काव्य अभिनीत भी होते रहे हैं इस सम्बन्ध में अब्दुलरहमान का अपने 'सन्देश रासक' में यह कथन है, 'कहीं पर चतुर्वेदी (चारों वेदों के श्रोत्रिय) वेदों की व्याख्या करते हैं और कहीं बहुरूपिये अर्थात् अभिनेता सुसम्बन्ध रासकों का कथोपकथन रूप में प्रदर्शन करते हैं।'[2] इस कथन से यह स्वतः स्पष्ट है कि रासक काव्यों का जन-जीवन में अभिनय होता रहा है। धर्म-प्रचार की भावना के लिए इस पद्धति

---

१. डा० दशरथ ओझा—हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृष्ठ ४४

२. कह न ठाह पडवेइहि वेउ पयासियइ।
कहबहु सविणिवद्धउ रासउ भासियइ॥

इसी की एक व्याख्या में इस प्रकार अर्थ मिलता है—

कुत्रापि चतुवेदिभिः वेदः प्रकाश्यते।
कुत्रापि बहुरूपिर्भिनिबद्धो रासको भाष्यते ॥४३॥ —(सन्देश रासक)

डा० दशरथ ओझा—हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास से उद्धृत, पृष्ठ ८९

को उपयुक्त समझ कर ही जैनाचार्यों ने अधिकाधिक रासक काव्य लिखे हैं।

इस स्थल पर यह प्रश्न विचारणीय है क्या सभी रासक या रासो काव्य जो जैनाचार्यों और उनके अतिरिक्त जैनेतर कवियों के द्वारा रचित है (जैसे वीसलदेव रासो, खुमाण रासो, पृथ्वीराज रासो आदि) अभिनीत हुए हैं ? मेरा तो यह विश्वास है कि न तो जैनाचार्यों के और न इतर कवियों के सभी रासो काव्य रंगमंच पर आए होंगे। प्रारम्भ में उनका इस रूप में उपयोग भले ही आता रहा हो, किन्तु अनन्तर विद्वानों ने इसे काव्य के लिए उपयोगी शैली समझ कर रासो-परम्परा को जीवन-दान दिया होगा।

यह सम्भव है कि ग्रन्थों की अपेक्षा मधुर और प्रेमपरक रासक या रास-काव्यों का अभिनय होता रहा हो और उसी की अविच्छिन्न परम्परा को भक्तिकाल में कृष्णोपासक भक्तों ने अपना लिया हो। ब्रज में रास-परम्परा को पुष्ट करने के लिए स्वामी हरिदास, हितहरिवंश और आचार्य वल्लभ ने पूर्ण प्रयत्न किया। अनन्तर कृष्ण की सम्पूर्ण लीलाएँ इन रास-नाटकों का विषय बन गईं। आगे चलकर रामोपासक भक्तों ने भी अपने सम्प्रदायों में रास की प्रतिष्ठा की और उनका प्रदर्शन हो उठा।

इन रास-नाटकों में शिष्ट नाटकों के समान सुसज्जित रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। मंच पर सभी अभिनेता बैठे रहते हैं और कथासूत्र के अनुसार अपने अंश का गान करते हुए अभिनय करते हैं। इनके द्वारा भी धार्मिक भावनाओं के साथ नृत्य और संगीत की परिपाटी सुरक्षित रही है।

लोक-नाट्यों के इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह कहने का साहस किया जा सकता है कि उनके द्वारा नृत्य, संगीत और अभिनय को संरक्षण मिलता रहा है। उनकी लोक-प्रियता से आकर्षित होकर सहृदयों ने इन गीति-नाटकों की रचना की, जिनके अभिनय से जन-जीवन रंजन का अनुभव करता रहा और आज भी करता है।

इन गीति-नाट्यों का प्रभाव साधारण जन-जीवन तक ही सीमित नहीं रहा है। दीर्घकाल से वे हमारे जीवन से गुंथे हुए हैं। उनसे नाटक और नृत्य तो अभिप्रेरित रहे ही हैं, किन्तु उनसे भी अधिक उनके द्वारा हमारी गीति-परम्परा को प्रेरणा और बल मिलता रहा है। इस प्रकार लोक-नाट्य साधारण जीवन से लेकर सम्भ्रान्त जीवन को भी चिर-आभारी किए हुए है।

लोक-साहित्य और लोक-नाट्य के गीत की अभिप्रेरणा

लोक-साहित्य और लोक-नाटकों के गीतों के उपयोग में विषमताओं की अपेक्षा साम्य अधिक हैं। लोक-गीतों में अभिनय तो नहीं होता; किन्तु लोक-नाट्यों के गीतों के समान उनमें संगीत के तत्त्व अवश्य होते हैं। यह एक ऐसी भूमि है, जहाँ

दोनों की समान प्रतिष्ठा है। कथात्मक अंश होने के कारण लोक-नाट्य के गीतों को लोक-गीत के अन्तर्गत प्रबन्ध-गीतों में सरलता से लिया जा सकता है।

दोनों प्रकार के गीतों का निर्माण अपढ़ और असंस्कृत जन-जीवन द्वारा किया गया है, जिनके मानस न परिमार्जित होते हैं और न शिष्ट जीवन से परिचित ही। इससे उनमें परिष्कृत कलात्मकता का अभाव रह जाना स्वाभाविक है। इस तथ्य के होते हुए भी उनकी भाव-पद्धति शास्त्रीय संगीत को अभिप्रेरणा देती है।[1] यों साहित्यिक गीत के तत्त्व भी उसमें विद्यमान हैं; किन्तु 'लोक-गीत' पहले संगीत है फिर कुछ और। डा० देवेन्द्र सत्यार्थी के इस कथन से मैं पूर्ण सहमत हूँ।

1. Classical music picks up the thread where folk music leaves it, In folk music there is no conscious aim of understanding the musical weaving of tones, or of extending it further for artistic effect. The evolution of folk music is inherently a process of an unconscious synthesis of musical material both good and bad. Classical music on the other hand leaves nothing to chance, makes a conscious effort of isolating the good material from the bad and always aims at an intellectual understanding and interpretation of such material for further artistic effect. When such material is subjected to a conscious analytical process, it becomes evident that the various musical elements and operations hinge upon certain physical laws of broad and universal nature.

G. H. Ranade—Hindustani Music The unities of Indian Music Chapter V, Page 81

: ३ :

संगीत और उसकी नवीन परिणति

विषय-प्रवेश—पिछले दोनों अध्यायों के अनुशीलन के मध्य में यत्र-तत्र यह कहा जाता रहा है कि गेय काव्य संगीत से सम्बद्ध है। इस कथन के अन्तस्तल तक पहुँचने के लिए संगीत और काव्य के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन अनिवार्य है। फलस्वरूप संगीत और तत्सम्बन्धी राग-रागनियाँ, एतिहासिक प्रगति, मध्यकाल में नवीन परिणति, हिन्दी-काव्य पर पड़े प्रभाव आदि तथ्यों का विवेचन इस अध्याय में प्रस्तुत किया जा रहा है।

गीत के शब्दों में समाहित कवि की आत्माभिव्यंजक भावनाएँ स्वर-साधना के प्रश्रय से प्रस्फुटित होती हैं।[1] इसमें शब्दों की अपेक्षा स्वरों का ही अधिक मूल्य है, जिसका आरोहावरोह ही उसकी मूलगत भावनाओं का बिम्ब प्रस्तुत कर देता है, जिससे वह अधिक ग्राह्य और मनोरम हो जाता है। संगीत में गीत के स्वरों के आधार पर वादन ध्वनित और नर्तन भंगिमाओं का प्रस्फुटन कर उसे सजीव बना देता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों का अलग-अलग क्षेत्र होते हुए भी संगीत[2] संज्ञा के लिए उनका मिश्रण अनिवार्य है।

संगीत के दो भेद हैं—(१) मार्गी और (२) देशी। 'मार्गी' संगीत पूर्णतम दैवी है, जिसे ब्रह्मा ने जन्म दिया और भरत मुनि ने महादेव के समक्ष प्रस्तुत किया। अनन्तर देवताओं के मध्य में इसका अभ्युदय हुआ। देवी स्वरूप के कारण जन-वर्ग को यह बोधगम्य न हुआ। फलतः यह उसके उपयोग का साधन न बन सका। इस कठिनाई के कारण मार्गी संगीत का सर्व सुलभ संस्करण 'देशी सङ्गीत' उसके मध्य में व्यापक बना और अधिकाधिक उसके उपयोग में आया। देश के प्रत्येक भाग में

---

१. 'सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।

महादेवी वर्मा—सान्ध्यगीत—अपनी बात

२. गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीत मुच्यते

शार्ङ्गदेव—संगीत रत्नाकर १-२१

गीतं वाद्यं नर्तनञ्च त्रयं संगीतमुच्यते

दामोदर—संगीत दर्पणम् १-३

वहाँ की व्यवहृत रीतियों और प्रणालियों के अनुसार इसने वहाँ के निवासियों को रंजन किया। फलतः इसकी 'देश संगीत' की संज्ञा सार्थक हुई।[१]

संगीत की राग-रागनियाँ ही काव्यान्तर्गत गीतों में प्रतिष्ठित हुई हैं। फलतः काव्य और संगीत का सम्बन्ध विवेचित करने से पूर्व उनकी प्राण-प्रतिष्ठा का आधार और उनके परिवार से परिचित हो लेना आवश्यक है।

रागोत्पत्ति के साधन

राग की उत्पत्ति में नाद उत्पन्न होने के शरीर के विभिन्न अंग श्रुतियाँ, सात शुद्ध स्वर, पाँच विकृत स्वर तथा वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी चार स्वर-भेद सहायक होते हैं।[२]

(अ) नाद

संगीत का नाद से मुख्य सम्बन्ध है। गीत, वाद्य और नृत्य आदि तीनों ही नाद आश्रय से संगीत के स्वरों का निर्माण करते हैं। केवल संगीत ही नहीं ; किन्तु हमारा सम्पूर्ण दर्शन और आध्यात्मिक चिन्ताओं का आधार भी नाद ही है।[३]

नाद से वर्ण, वर्ण से पद, पद से भाषा और भाषा से सम्पूर्ण विश्व का व्यव-

---

१. मार्गो देशीति तद् द्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते।
यो मार्गितो विरिञ्चाद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः॥
देवस्य पुरतः शंभोर्नियताभ्युदय प्रदः
देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदय रञ्जकम्॥
गीतं च वादनं नृत्तं तद्देशीत्यभिधीयते।
नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च॥ —संगीत रत्नाकर १-२२-२४
मार्गदेशी विभायेन संगीत द्विविधं मतम्।
द्रुहिणेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च।
महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम्॥
तत्तदेशस्थया रीत्या यत्स्यात लोकानुरंजनम्।
देशे देशे तु संगीत तद्दशीत्यभिधीयते॥ —संगीत दर्पणम् १-३-५

२. शारीरं नादसंभूतिः स्थानानि श्रुतयस्तथा।
ततः शुद्धाःस्वराः सप्त विकृता द्वादशाप्ययी॥
वाद्यादिभेदश्चत्वारो रागोत्पादनहेतवः॥ —संगीत दर्पणम् १-७-८

३. गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशंस्यते।
तद्द्वयानुगतं नृत्तं नादाधीनमतस्त्रयम॥
—संगीत रत्नाकर—पि० प्रकरणा-१

हार है। फलस्वरूप सब विश्व ही नादाधीन है।[1]

नाद के दो भेद है—(१) आहत और (२) अनहत।[2] मुनि और साधक, 'अनाहत' या अनहद की साधना करके मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसमें उन्हें गुरू से यथेष्ट सहायता लेनी पड़ती है।[3] इसके विपरीत 'आहत' नाद से ही संगीत के स्वर, ग्राम और मूर्छनाओं आदि का निर्माण है। यही लोक-रंजन का कारण है।[4]

'नाद' शब्द में 'नकार' वायु और 'दकार' अग्निसूचक वर्ण है। मूलतः वायु और अग्नि के समिश्रण से ही 'नाद' की उत्पत्ति होती है।[5] प्राण की वायु की प्रेरणा से चित्त की अग्नि प्रेरित हो उठती है और इस प्रदीप्त अग्नि के प्रश्रय से ही ब्रह्मग्रन्थि में स्थित वह चल उठती है।[6]

इस प्रकार अग्नि से प्रेरित वह क्रमशः ऊर्ध्वगामी हो उठती है। वह नाभि हृदय, कण्ठ, सिर, दुख आदि सभी अंगों में प्रसारित हो जाती है। यही मानवीय शरीर में 'नाद' को ध्वनित करती है।[7]

शरीर में तीन प्रकार के नाद उत्पन्न होते हैं—(१) हृदय में 'मन्द्र' (२) कण्ठ में 'मध्य' और (३) शीर्ष में 'तार'।[8] वायु के आघात में ह्रस्व नाद उत्पन्न होते हैं। इन्हीं को संगीत शास्त्र में श्रुतियाँ कहा जाता है। इनकी संख्या २२ है[9]—

---

१. नदिन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनयतो जगत॥ —संगीत रत्नाकर, २

२. आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते। —वही ३

३. संगीत दर्पणम्, —१-१६

४. वही —१-१७

५. नकारं प्राणानामानं दबारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते॥ —संगीत रत्नाकर—१-३-६

६. आत्मा विवक्षमाणेऽयं मनः प्रेरयति मनः।
देहास्थं वह्निमाहन्ति सः प्रेरयति मारुतम्॥ —वही—१-३-३

७. ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमा दूर्ध्वपथे चरन्।
नाभिहृत्कण्ठमुर्धास्येष्वाविभवियति ध्वनिम्॥ —वही—१-३-४

८. व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते।
कण्ठ मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः॥ —वही—१-३-७

९. तीव्राकुमुद्वतीमंदाच्छन्दोवतयस्तु षड्जगाः।
दयावती रंजनी च रक्तिका चर्षभे स्थिताः॥
रौद्री क्रोधी च गांधारे वज्रिकाऽथ प्रसारिणी।
प्रीतिश्च मार्जनीत्येता श्रुतयो मध्यमाश्रिताः॥
क्षिती रक्ता च संदीपिन्यालापिन्यपि पंचमे।

तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा, छन्दोवती, दयावती, रंजनी, रक्तिका, रौद्री, क्रोधी, वज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति, मार्जनी क्षिती, रक्ता, संदीपिनी, आलापिनी, मदंती, रोहिणी, रम्या, उग्रा, क्षोभणी आदि।

(आ) स्वर

वेदों में स्वरों का उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन विभेद करके उनकी महत्ता को स्वीकार किया गया है। इनकी व्यापक शक्ति के सम्बन्ध में यह शास्त्रीय कथन है—"स्वर की शक्तियाँ अनन्त हैं और वे आकाश के समान ही व्याप्त होने वाली हैं।"[१] वर्णों से निर्मित काव्य के शब्द इतने प्रभावोत्पादक और ग्राह्य नहीं होते जितने संगीत स्वर। संगीत के स्वर किसी भी भावना को सजीव और मधुर बना देते है।

"जो नाद-ध्वनि श्रुति उत्पन्न करे और प्रतिध्वनि का रूप धारण करे यदि वह स्निग्ध और रंजक है तो वह स्वर कहलाती है।"[२]

शुद्ध स्वर सात है और विकृत स्वर पाँच हैं। स्वरों के आरोहावरोह को 'मूर्छना' कहा जाता है।[३] स्वरों के समूह 'ग्राम कहलाते हैं।[४] इसके 'षडज', 'मध्यम' और 'गान्धार' तीन भेद हैं। इनमें प्रत्येक ग्राम में सात-सात मूर्छनाएँ रहती हैं। श्रुतियों में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद—सात स्वर माने जाते हैं। इन्हीं के प्रारम्भिक वर्णों से इन्हें स, रि, ग, म, प, ध, नि कहा जाता है।[५] इन स्वरों का निर्माण विविध पशु-पक्षियों की वाणियों पर आधारित हैं।[६] मयूर की बोली से षड्ज, चातक से ऋषभ, छाग से गांधार, क्रौंच से मध्यम, कोकिल से पंचम,

---

मदंती रोहिणी रम्येत्येतास्तिस्रस्तु धैवते ॥
उग्रा च क्षोभणीति द्वे निषादे वसतः श्रुती।— सं० रत्नाकर—१-३-३५-३८

१. व्यापिनीर्व्योम रूपाः स्युरनन्ता स्वर शक्तयः—गौतमीय तंत्र

२. श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ॥
× × ×
स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते ॥—संगीत रत्नाकर १-३-२४-२५

३. मूर्छते येन रागो हि मूर्छनंत्यभिसञ्जिता।
आरोहणावरोहण क्रमेश स्वर सप्तकम् ॥ बृहद्देशी-९४

४. ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनीऽऽदेः समाश्रयः —संगीत रत्नाकर १-४-१

५. श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगाधारमध्यमाः।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते।
तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः ॥—संगीत रत्नाकर १-[illegible]-२३-२४

६. ते शुद्धैः सप्तभिः सार्धं भवन्त्येकोनविंशति :।
मयूरचातकच्छागक्रौञ्चकोकिलदर्दुराः ॥
गजश्च सप्त षड्जादीन्क्रमादुच्चारयन्त्यमी। —वही—१-३-४६-४७

दादुर से धैवत और गज से निषाद—स्वरों का निर्माण है। इन स्वरों से वर्ण बनते हैं। इनके अपने अलंकार[1] और अट्ठारह जातियाँ हैं।[2]

राग-रागनियाँ

स्वर और वर्णों से युक्त जो ध्वनि मानवीय चित्त का रंजन करे वही राग है।[3]

मतंग और कल्लिनाथ के मत से राग के तीन भेद हैं[4]—(१) शुद्ध (२) छायालग और (३) संकीर्ण। शास्त्रीय विधि-विधान से शुद्ध राग, विविध रागों के मिश्रण से छायालग और शुद्ध तथा छायालग के मिश्रित स्वरूप से संकीर्ण राग जन-वर्ग का मनोरंजन करते हैं।[5] उपर्युक्त के अतिरिक्त स्वरों के माध्यम से भी रागों के तीन भेद माने जाते हैं—(१) पाँच स्वरों के राग को 'ओउव' (२) छः स्वरों के राग को 'षाउग्र' और (३) सातों स्वरों से युक्त राग 'सम्पूर्ण' कहलाते हैं।[6]

इनके पारिवारिक स्वरूप के सम्बन्ध में संगीत-शास्त्र में कई मत प्रचलित हैं। सभी मत छः पुरुष राग तो मानते हैं; किन्तु सभी के एक ही राग नहीं है। इनमें से कुछ उनसे तीस रागनियों की उत्पत्ति मानते हैं और कुछ छत्तीस; किन्तु विभिन्न मतों के आधार पर उनकी एक रागिनियाँ नहीं हैं।

रागोद्भव के सम्बन्ध में यह एक आस्तिक विश्वास है कि शिव-ताण्डव बेला

---

१. सङ्गीत रत्नाकर १-६

२. सङ्गीत रत्नाकर १-७

३. यौऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषतः।
रञ्जको जन चित्तानां स रागः कथितो बुधैः॥
रञ्जनाञ्जायते रागो व्युत्पत्तिः समुदाहृता।
अश्वकर्णादिवद्र ढो यौगिकौ मण्डपादिवत्॥—मतङ्ग
स्वखर्णविशिष्टेन ध्वनिभेदेन वा पुनः।
रज्यते येन सच्चितं स रागः संमतः सताम्॥—संगीत समयसार,
—संगीत रत्नाकर (The Adyar Library Series No. 43)
पृष्ठ ३ से उद्धृत

४. शुद्धाश्च्छायालगाः प्रोक्ताः संकीर्णाश्च तथैवच—संगीत दर्पणम् २-५

५. तत्र शुद्धरागत्वं नाम शास्त्रोक्तनियमात् रंजकत्वं भवति।
छायालगत्वं नामान्यच्छायालग त्वेनरक्ति हेतुत्वं भवति॥
संकीर्ण रागत्वं नाम शुद्धच्छायालगमुख्यत्वेनरक्ति हेतुत्वं भवति॥

६. औडवः पंचभिः प्रोक्तः स्वरै षडभिश्च षाडवः।
सम्पूर्ण सप्तभिर्ज्ञेय एवं रागस्त्रिधा मतः॥
—संगीत दर्पणम् २-६

पर शिव के सद्योवक्र मुख से 'श्रीराग' बामदेव मुख से 'वसन्त' अघोर मुख से 'भैरव' तत्पुरुष मुख से 'पंचम', ईशानमुख से 'मेघराग' तथा पार्वती के मुख से लास्यनृत्य-प्रसंग में 'नट्टनारायण' राग की उत्पत्ति हुई है।[1]

शिवि से सम्बन्धित यही पुरुष राग कहे गए हैं। अनन्तर इनमें प्रत्येक से छः-छः रागनियों की उत्पत्ति है। 'श्री राग' से मालश्री, त्रिवेणी, गौरी, केदारी, मधु-माधवी, पाहाडिका; वसन्त से देशी, देवगिरि, वराटी, तोड़िका, ललिता, हिन्दोली; भैरव से भैरवी, गुर्जरी, रामकिरी, गुणकिरी, बंगाली, सैन्धवी; पंचम से विभाषा, भूपाली, कर्णाटी वउहंसिका, मालवी; मेघराग से मल्लारी, सौरटी, सावेरी, कौशिका, गान्धारी, हरश्रृंगारी; नट्टनारायण से कामोदो, कल्याणी, आभीरी, नाटिका, सारंगी, नट्टहवीरी रागनियों की उत्पत्ति है।[2]

'हनुमान मत' से भैरव, कौशिक, हिन्दोल, दीपक, श्रीराग एवं मेघराग छः पुरुष राग है।[3] भैरवी से बंगाली, मधुमाधवी, बराडी, सिन्धु, भैरवी; कौशिक से टोडी, खम्भावती, गौरी, ककुभी, गुणकरी; हिन्दोल से वेलावती, देशाख, रामकरी,

---

१. शिवशक्ति समायोगाद्रागाणां संभवो भवेत्।
पंचस्यात् पंच रागाः स्यु षष्ठस्तु गिरिजामुखात ॥
सद्यौवक्रात्तु श्री रागो वामदेवाद्वसंतकः।
अघोराद् भैरवोऽभूत्तत्पुरुषात् पंचयोऽभवत् ॥
ईशानाख्यान्पेद्यरागो नाट्यारंभे शिवादभूत।
गिरिजाया मुखाल्लास्ये नट्टनारायणोऽभवत् ॥—संगीत दर्पणम् २-६-११

२. मालश्री त्रिवेणी गौरी केदारी मधुमाधवी।
ततः पाहाडिका ज्ञेया श्री रागस्य वरांगना ॥
देशी देवगिरि चैव वराटी तोड़िका तथा।
ललिता चाऽथ हिन्दोली वसन्तस्य वरांगना ॥
भैरवी गुर्जरी रामकिरी गुणकिरी तथा।
बंगाली सैधंवी चैव भैरवस्य वरांगना ॥
विभाषा चाऽथ भूपाली कर्णाटी वउहंसिका।
मालवी पटमंजर्या सहैता पचमांगना ॥
मल्लारी सौरटी चैव सावेरी कौशिकी तथा ॥
गांधारी हरश्रृंगारी मेघरागस्य योषितः ॥
कामोदी चैव कल्याणी आभीरी नाटिका तथा।
सारंगी नट्टहंवीरा नट्टनारायणङ्गना ॥ —संगीत दर्पणम् २-१४-१६

३. भैरवः कौशिकश्चैव हिन्दोलो दीपकस्तथा ॥
श्री रागो मेघरागश्च षडेते हनुमन्यता ॥

पटमंजरी, ललित; दीपक से केदारा, कानरा, देशी, कामोद, विहागरा; श्रीराग से वसन्ता, मालव, मालश्री, धनाश्री, असावरी; मेघराग से मलारी, देशकारी, भूपाली, टङ्क, गुजरी आदि रागनियों की उत्पत्ति है।[1]

'रागार्णव मत' से भैरव, पंचम, नाट, मल्लार, गौड मालव, देश छः पुरुष राग है।[2] भैरव राग से बंगाली, गुणकिरी, मध्यमादि, वसन्त, धनाश्री; पंचम राग से ललिता, गुर्जरी, देशी, वराडी, रामकिरी; नाट से नट्टनारायण, गान्धार, सालग, केदार, कर्णाट; मल्लार से मेघ, मल्लार, माल कौशिक, पटमंजरी, आशावरी; गौड मालव से हिंदोल, त्रिवण, आधारी गौरी, पटहंसिका; देश से भूपाली, कुडायी, कामोदी, नाटिका, वेलावली आदि रागनियों ने जन्म प्राप्त किया है।[3]

उपर्युक्त प्रमुखतः तीन मतों से विविध राग-रागनियाँ व्यवहार में आ उठीं है। मानवीय रंजन का मूल सिद्धांत होते हुए भी संगीत के विधायकों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से उनमें परिवर्तन और परिवर्धन कर अपनी प्रगतिशील भावना का परिचय दिया है। उनके मध्य में विषमता के उन्मेष का विवेचन वस्तुतः आलोच्य विषय की सीमा के बाहर भारतीय संगीत-शास्त्र से सम्बन्धित है। इस स्थल पर पुनः यह सम्मेलन उचित है कि छः राग और छत्तीस रागनियों का उल्लेख ही विद्वानों को मान्य है।

राग षडथ रागिण्यः षट त्रिंशत चारु विग्रहा।
आगता ब्रह्म-सदसि ब्रह्माणाय समुपासते॥[4]

इस प्रकार छः राग और छत्तीस रागिनियों का ब्रह्मा के विग्रह से जन्म लेना और उनका उन्हीं की उपासना और सम्मान में स्तुति-गान स्वीकार किया गया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त दैवी आधार आधुनिक युग में अधिक विश्वस्त और मनोवैज्ञानिक न हो; किन्तु राग-रागिनियों के अस्तित्व और प्रभाव से सभी सहमत हैं और वे सर्वमान्य हैं। उपर्युक्त दैवी प्रमाण के स्थान पर यह सिद्धान्त सरलता से माना जा सकता है कि प्रागैतिहासिक काल में मानव ने अपनी अनुकरणात्मक प्रवृत्ति द्वारा प्रकृति की संगीतात्मकता को अंगीकृत कर संगीत का क, ख, ग सीखा हो और विकासवाद की अभिप्रेरणा से वह उन्नतिशील हो सका हो। अनन्तर इतिहासकाल में वह प्रगतिशील रहा और आज भी है।

---

१. मैथिल कवि लोचन—राग तरङ्गिणी—द्वितीय तरङ्ग (दरभङ्गा-राजप्रेस)

२. भैरवः पंचमो नाटो मल्लारो गौडमालवः।
देशाख्यश्चेति षडरागा प्रोच्यन्ते लोक विश्रुताः॥ —संगीत दर्पणम् २-३८

३. संगीत दर्पणम् २-३९-४५

४. नारदाय पंचम—सार संहिता।
(G. C. Gangoly at Ragas and Raginis) से उद्धृत

संगीत शास्त्र में राग-वेला और ऋतुओं के सम्बन्ध में भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। कौन राग-रागनियाँ किस-किस समय और ऋतु में गाई जावें। यह सिद्धांत भी सर्वमान्य रहा है; किन्तु इसके साथ निम्न विकल्प भी जोड़ दिया गया है—

राजाज्ञया सदा गेया न तु कालं विचारयेत्।

राग-रागनियों के द्वारा ही संगीत में 'प्रबन्ध' भी गाने की चर्चा है। इनका अध्ययन प्रस्तुत करना भी विषयान्तर है। केवल इस स्थल पर यह उल्लेख ही समीचीन है कि इन 'प्रवन्धों' का आधार साहित्य-क्षेत्र में स्वीकृत हुआ अथवा इनके नाम से गेय परम्परा का सूत्रपात हो उठा।

यों संगीतशास्त्र में कितने ही प्रवन्धों के विवरण मिलते हैं;[१] किन्तु उन सब में न जाकर केवल चच्चरी प्रवन्ध, चर्या प्रबन्ध, रासक प्रवन्ध आदि के संबंध में विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि इनसे हमारा आलोच्य विषय किसी-न-किसी रूप से सम्बन्धित है।

प्रथम अध्याय में सहजभावी सिद्ध सन्तों ने चर्यागीत और जैनाचार्यों ने रासक, चाचरि और फागु काव्य लिखकर हिन्दी की गीति पद्धति का सूत्रपात किया—उल्लेख आ चुका है। वस्तुतः उक्त पद्धतियाँ सङ्गीतशास्त्र से ही सम्बन्धित हैं।

'चर्या पद्धडी या राहडी छन्द में बद्ध होती है, पादान्त अनुप्रास युक्त होता है और उसकी भाव-धारा आध्यात्मिक रहती है।'[२] यों उसकी विधि में सङ्गीत विषयक तालों का भी उल्लेख है, किन्तु काव्य की गेय परम्परा में चर्याओं की सङ्गति बिठालने के लिए ये तत्त्व भी पर्याप्त हैं।

चच्चरी वसन्तोत्सव में गेय होती है और देश-भाषाओं में रची जाती है।[३] रासक रास ताल के अन्तर्गत गेय होती है। इसके चार भेद हैं (१) विनोद रासक कौतुक की परिस्थितियों में (२) वरद रासक देवताओं की स्तुति में (३) नन्द रासक अद्भुत रस में और (४) कुम्बुज रासक करुणा रस में गेय होती है।[४]

---

१. संगीत रत्नाकर, अध्याय ४ (The Adyar library Series)

२. पद्धडी प्रभृतिच्छन्दाः पादान्तप्रास शोभिताः।
अध्यात्मगोचरा चर्या स्याद्द्वितीयादितालतः॥
—सङ्गीत रत्नाकर, अध्याय ४-२९२

३. यस्यां षोडसमात्राः स्युर्द्वौ दौं च प्रासंयुतौ।
सा वसन्तोत्सवे गेया चच्चरी प्राकृतैः पदैः॥ वही—४-२९०

४. रासको रासतालेन स चतुर्धा निरुपितः।
विनोदो वरदो नन्दः कम्बुजश्चेति शार्ङ्गिणा॥
आलापान्तध्रुवपदाद्विनोदः कौतुके भवेत्।
ध्रुवादालापमध्यात्तु वरदो देवतास्तुतौ॥

'फागु' की परम्परा का सङ्गीत में अवश्य उल्लेख नहीं है; किन्तु वह अपनी प्रवृत्ति में बहुत कुछ चच्चरी पर ही आधारित है।

संगीत और काव्य

संगीत रंजन और काव्य आनन्द प्रदान करता है, जिनकी परिणति रसानुभूति रहती है। तद्विषयक कला-कृति में चाहे वह राग-रागिनी हो चाहे कविता सामाजिक की इस अनुभूति में जितनी अधिक निमग्नता होती है उतनी ही अधिक उसकी सफलता और मार्मिकता आँकी जाती है अन्यथा उसे विफल ही समझना चाहिए।

रस-निष्पत्ति दोनों कलाओं का आधार होते हुए भी उसकी अनुभूति और आस्वादन के क्षेत्र अलग-अलग हैं। उसके लिए सामाजिक को संगीत में स्वरों और काव्य में भावों के आश्रित होना पड़ता है। स्वरों के आरोहावरोह और लय के द्रुत-विलम्बित विविध प्रकारों से राग-रागिनी की निर्धारित ध्वनियाँ निर्मित होती जाती हैं, जिनके उतार-चढ़ाव और सम की स्थितियों में सामाजिक अपनी वैयक्तिकता और चेतना को भूल जाता है। यह स्थिति ही उसकी तदाकार परिणति है और यही सङ्गीत की रस-दशा है। संगीत के स्वरों के समान काव्य में रस-दशा लाने का काम भाव करते हैं। जब काव्य के विविध विषयों के मार्गिक भाव सामाजिक की अन्तश्चेतना को स्पर्श कर उसे तन्मय और निमग्न कर देते हैं तब वह अपने को विस्मृत कर उस भाव-धारा में बह उठता है। उस क्षण प्रस्तुत भावना को वह स्वयं की ही अनुभूति करता है। काव्य में यह स्थिति ही रस-दशा है दोनों कलाओं के लिए यह रसानुभूति आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

यह सत्य है कि संगीत में प्रायः काव्य की छन्दोवद्ध पंक्तियों का मान होता है, किन्तु भावनाओं के समाहित रहने पर भी गायक स्वरों के माध्यम से ही संगीत का सौन्दर्य प्रस्तुत करता है भाव के आधार पर नहीं। भाव के आधार पर सौन्दर्य प्रस्तुत करने का काम तो काव्य का है। इसी से 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' और 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' वाक्य की काव्य के अन्तर्गत प्रतिष्ठा है। वे अनिवार्य अङ्ग हैं, संगीत के लिये उनकी आवश्यकता नहीं है। संगीत ने बुझे हुए दीपकों को जगाया है, निरभ्र आकाश से जल बरसाया है और निर्जीव तथा निष्प्राण को सजीव और सप्राण किया है। यह उसकी स्वरोर्मियों का ही प्रभाव है भाव का नहीं। निर्जीव के लिए भला भावना की बोधगम्यता ही क्या? इससे संगीत स्वर-प्रधान ही सिद्ध होता है।

खण्डमाद्यं द्विखण्डस्योद्ग्राहस्यालापनिर्मितम्।
यस्यासौ रासको नन्दो गीयतो चाद्भुते रसे॥
आलापादेर्ध्रुवपदात्कम्वुजः करूणे भवेत्। —संगीत रत्नाकर
सर्वेषु रासकेष्वेषु द्विखण्डोद्ग्राहकल्पना॥ ४-३५२-३५५

काव्य भावों पर आधारित है। इसमें मानव-जीवन के समस्त व्यापारों, मानवेतर पदार्थों और चराचर के सम्बन्ध की भावनाएँ सन्निविष्ट रहती हैं। सच तो यह है कि भावनाओं की व्यापक सुलभता के कारण काव्य अन्य कलाओं की अपेक्षा सामाजिक की भावात्मक सत्ता का अधिकाधिक प्रसार करता है, जिससे उसमें शिव-तत्व की उपलब्धि अधिक सरल और स्वाभाविक रहती है। अब यह विचारणीय है कि क्या काव्य के लिए संगीत के स्वरों की आवश्यकता है ? वस्तुतः नहीं है क्योंकि काव्य की पंक्तियों के शब्दों का उच्चारण किए बिना मौन पाठ से ही उसकी भावना का आनन्द लिया जा सकता है। काव्यानन्द के लिए आवश्यक नहीं है कि वे जोर से या लय के साथ पढ़ी जाएँ। इससे यह सिद्ध है कि काव्य में संगीत के स्वरों की आवश्यकता नहीं है।

संगीत और काव्य के मूल तत्त्वों पर विचार करने से यद्यपि यह स्पष्ट है कि संगीत का काव्य के भावों की और काव्य को संगीत के स्वरों की आवश्यकता नहीं है; किन्तु भाव-युक्त और स्वर-युक्त पद्य की पंक्तियों से संगीत और काव्य अधिक समाजोपयोगी और मूल्यवान् हो उठते हैं, यह निस्सन्देह सत्य है। इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण दोनों कलाओं में देखा जा सकता है—गायक प्रायः भावापन्न गीत ही गाता है और कवि काव्य को मात्रिक या वर्णिक वृत्त के लय के अनुसार ही पढ़ता या ध्वनित करता है। जिस प्रकार गेय पंक्तियों के भाव गायक के लिए कवि के समान मूल्यवान नहीं है उसी प्रकार काव्य के वृत्त का लय कवि के लिए गायक के समान मूल्य नहीं रखती है। फिर भी दोनों तत्त्व अपने-अपने स्थल पर उपर्युक्त हैं और कला की शोभा की अभिवृद्धि करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला के उत्कर्ष के लिए संगीत काव्य तत्त्व और काव्य संगीत-तत्त्व को अपने में सहेजे हुए हैं। अब यदि यह कहा जाए कि संगीत कला ने काव्य को अपने स्तर पर और काव्य कला ने संगीत को अपने समकक्ष समादृत कर लिया तो यह स्वर ही कथा के दो स्वरूप हैं। क्योंकि एकीकरण दोनों स्थितियों में है जिससे दोनों की समान प्रतिष्ठा है। इस समस्थिति पर ही साहित्य में गीत की प्राण-प्रतिष्ठा हुई है।

गीत-काव्य के तत्त्व

गीति-काव्य अपने जीवन के लिए संगीत पर आधारित है। यह हम विगत पृष्ठों में देख चुके हैं। इस स्थल पर संगीतात्मकता, आत्माभिव्यंजन, विचारों की एक रूपता, संक्षिप्तता और मधुर भाषा-शैली के प्रयोग आदि उसके तत्त्वों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

संगीतात्मकता (Lyrical Elements)

मानव अपनी सभ्यता के आदि जीवन में सरल और मधुर प्रकृति के मध्य में

रहा। वह स्वयं अलौकिक संगीत से युक्त थी। जब भावातिरेक से बाधित हो मानव उनकी अनुकृति के लिए विवश हुआ तब अपनी रसानुभूति के अनुकूल ही उसने नाद किया। यह नाद ही साहित्य और संगीत के स्वर बने। अनन्तर मानव ने साहित्य का सृजन कर डाला और संगीत की परम्परा भी प्रस्तुत कर दी। आदि में काव्य और संगीत परस्पर में गुँथ कर ही चले। वेद इसके प्रमाण हैं—हमारे साहित्य और संगीत के आदि सूत्र उनमें विद्यमान हैं।

यह प्रारम्भिक रूप क्षणस्थायी ही रहा। इन दोनों को मानव ने शास्त्रीय स्वरूप दे डाला; किन्तु लौकिक परम्परा को वह भी न छीन सका। वह दोनों अक्षुण्ण रहे। दोनों के शास्त्रीय विकास के समानान्तर उनका लोक-रूप प्रचलित रहा। इन दोनों का समन्वित रूप ही गीति-काव्य की संज्ञा को प्राप्त कर सका।

आगे चलकर साहित्यिक गीत और लोक-गीत इसके दो भेद हुए; किन्तु संगीत की राग-रागनियों के प्रश्रय और स्वरों के आरोहावरोह का परित्याग यह भी न कर सके।इसी से गीति-काव्य के लिए संगीत का संसर्ग छोड़ सकना असम्भव है।

आत्माभिव्यंजन (Subjectivity)

गीति-काव्य की वस्तु कवि के अन्तरतम से छनकर निसृत होती है। इससे उसमें कवि की आत्माभिव्यक्ति स्वाभाविक है। गीतिकार वस्तु-वर्णन को अपने गीति-काव्य का विषय नहीं बनाता। वस्तु वर्णन में चित्रण ही प्रस्तुत होते हैं जो किसी भी काव्य की मार्मिकता और स्वाभाविकता के लिए घातक हैं। गीति-काव्य कवि की भावना-जगत की मधुर सृष्टि है, इससे उसमें स्थूल को न पिरोकर अस्थूल और सूक्ष्म को ही प्रमुखता देता है।

विचारों की एक रूपता (Centralised Thoughts)

गीति-काव्य में विचारों की एक रूपता अत्यावशक है अन्यथा काव्य के रस-परिपाक में व्यवधान पड़ेगा। उपर्युक्त लक्ष्य वस्तुतः एक ही गीत अथवा एक ही भावना के गीतों के सम्बन्ध में सत्य है अन्यथा विचारों की एक रूपता रह ही न सकेगी। इस तत्त्व का मूल उद्देश्य यही है कि एक गीत में एक भाव-धारा पिरोई हुई हो। यदि एक से अधिक भाव धाराएँ समाहित होंगी तो वह गीत सरस न होगा। पाठक या श्रोता का मन सरसता के राजपथ को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर जा पहुँचेगा, जहाँ काव्यानन्द आकाश-कुसुम होगा।

संक्षिप्तता (Brevity)

आत्माभिव्यक्ति और विचारों की एक रूपता से युक्त गीत में संक्षिप्तता

आवश्यक तत्व है। यदि गीतिकार संक्षिप्तता का परित्याग कर अपनी भावनाओं को लम्बे कैन्वास पर चित्रित करना चाहेगा तो वह उस चित्रण में अच्छे रंग न भर सकेगा। यदि वह रंग भर भी ले (क्योंकि यह उसकी सामर्थ्य पर निर्भर है) तो भी उसे पाठक या श्रोता के धैर्य को समझना पड़ेगा। इसका यह आशय नहीं है कि गीत की कोई सीमा निर्धारित हो जानी चाहिए। उसकी न कोई सीमा बन सकी है और न बन सकेगी, यह अवश्य सत्य है, फिर भी गीतकार यह समझ ले कि उसकी विशेष भावना को कहाँ तक पहुँचना है। उसी का वह ध्यान रखे। यदि भावना-दिशा बदल उठे तो उसे भी अपने गीत में विराम दे देना चाहिए, अन्यथा इस तत्व के असफल होने पर गीत के अन्य तत्व भी उपयोगी सिद्ध न हो सकेंगे और गीत असफल रहेगा।

भाषा-शैली (Style)

सफल गीत के लिए भाषा कोमल और शब्द ऐसे हों जो भावनाओं के प्रवाह और उनकी तीव्र अभिव्यक्ति को सुरक्षित रख सकें। इस सम्बन्ध में जो गीतकार-शब्दों की शक्ति और उनकी संवेदना को जितना ही अधिक समझेगा वह अपने गीत में उसको उतनी ही सफलता से गूँथ सकेगा। इससे शब्दों की ध्वनि से कवि का परिचय होना चाहिए। वह द्वित्व और परुष वर्णों से निर्मित शब्दों को त्यागे ही रहे।

अलङ्कारों का स्वाभाविक समावेश ही स्वीकार्य है अन्यथा कृत्रिमता कवि की सृष्टि को ले डूबेगी। गीत की सुकुमार भावना के अनुकूल सुकुमार रसों जैसे श्रृंगार, शान्त, करुण, वात्सल्य आदि के उपयोग ही आवश्यक हैं। वीर, रौद्र, बीभत्स और भयानक रसों के समावेश से गीत की मधुरता नष्ट हो जावेगी, इससे उनका परित्याग ही आवश्यक है।

संगीत की ऐतिहासिक प्रगति

आलोच्य विषय तुलसीदास के गीत काव्यों पर आधारित है, फलतः उनके निधन सम्वत् १६८० (१६२३ ई०) तक संगीत की गति-विधि से परिचित हो लेना आवश्यक है। इससे मध्यकाल में घटित हुई उसकी नवीन परिणति पर प्रकाश पड़ सकेगा, और सरलता से यह भी देखा जा सकेगा कि गो० तुलसीदास ने उक्त परि-स्थिति से कहाँ तक लाभ उठाने की चेष्टा की है।

इस स्थल पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मुसलमानों के आगमन से पूर्व हमारे देश में संगीत की एक ही शास्त्रीय पद्धति प्रचलित थी,[1] किन्तु उनके

---

1. A Short Historical Survey of the Music of Upper India—Bhatkhande, Page 31

मिश्रण से उसके दो विभाजन हो गए—(१) कर्नाटकी (२) हिन्दुस्थानी। प्रथम देश की शास्त्रीय पद्धति का ही रूप है, जो कनकांगी सप्तक पर आधारित दक्षिण में प्रचलित है। द्वितीय पुरानी और नवीन पद्धतियों का मिश्रित रूप है जो विलावल सप्तक पर आधारित उत्तर भारत में प्रचलित है।

भारतीय संगीत का इतिहास तीन भागों[1] में बाँटा जा सकता है—

(१) हिन्दू-काल (आदि काल से १००० ई० तक)

(२) मुसलमान-काल (१००० ई० से १८०० ई० तक)

(३) अंग्रेजी काल (१८०० ई० से १९५० ई० तक)

हमारा सम्बन्ध प्रथम दो कालों से है। फलतः उन्हीं के विवरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

हिन्दू-काल

भारतीय संगीत का मूल स्रोत सामवेद है। यों तो ऋग्वेद में ऋचाएं स्रोत रूप में विद्यमान हैं, जिनको आर्य लोग अपने दैनिक जीवन में गाया करते थे; किन्तु गीत की नाद-लहरी और स्वरों के सम्वन्ध का प्रारम्भिक अध्ययन सामवेद में प्रस्तुत है। इससे सामवेद को ही संगीत का वेद मानते हैं।

वेद-काल में गान-सम्पन्न करने के लिए 'उद्गीथ' शब्द का प्रयोग किया गया है। उद्गीथ वस्तुतः रसका कारण है। इसकी छन्दोग्य उपनिषद में निम्न व्याख्या है।

'एषां भूतानां पृथ्वी रसः। पृथिव्या आपो रसः। अपामोषधयो रसः। ओषधीनां पुरुषो रसः। पुरुषस्य वाचसः। वाच ऋग्रसः। ऋत्र साम रसः। साम उद्गीथो रसः।'

छन्दोग्य उपनिषद्—१-१-२

उपर्युक्त से सामवेद को ऋग्वेद का रस और सामवेद का रस 'उद्गीथ' कहा गया है। इस संक्षिप्त विवेचन से सामवेद की महत्ता स्वतः स्पष्ट है। इसी से 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' विशेष सार्थ है। इसी क्रम में 'रसो वैसः' भी कहा जाता है।

सामवेद में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन प्रकार के स्वरों का उल्लेख है। प्रतिशाख्य इन वैदिक स्वरों की विस्तृत व्याख्या करते हैं।[2]

उदात्ते निषादगान्धारौ अनुदात्त रिषभधैवतो।
स्वरित प्रभवा ह्येते षड्ज मध्यम पंचमा ।।

उपर्युक्त के अनुसार निषाद और गान्धार 'उदात्त' में रिषभ और धैवत 'अनुदात्त' में षडज, मध्यम और पंचम 'स्वरित' में समाविष्ट हो गए। इस प्रकार तीन

1. A Short Historical Survey of the Music of Upper India—Bhatkhande, Page 4
2. G. C. Gangoly—Ragas and Raginis—'History of the Ragas', Nalanda Publications, Bombay—1.

स्वरों के स्थान पर सात स्वर हो गए। तीन स्वरों के स्थान पर सप्त स्वरों का प्रयोग वेदकाल में ही हो उठा था।[1]

वेदकाल के अनन्तर उपनिषद् और पौराणिक युगों में संगीत के सम्बन्ध में पर्याप्त संकेत मिलते हैं। तैत्तरीय उपनिषद्, ऐतरेय उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण, हरिवंश मार्कण्डेय, वायु और विष्णु पुराणों में इस सम्बन्ध के संकेत हैं।

रामायण काल में संगीत का पूर्ण प्रचार था। स्वयं महर्षि वाल्मीकि ने अपनी रामायण में बालकाण्ड, विवाह एवं धनुर्भंग के अवसर पर नृत्य-गान आदि का संकेत किया है। असुर नायक रावण भी संगीत का पूर्ण ज्ञाता था। उसको 'रावणीयम्' एक संगीत ग्रन्थ लिखने का भी श्रेय है।[2] रामायण काल के अनन्तर संगीत की परम्परा महाभारत द्वारा भी अक्षुण्ण रही है। स्वयं कृष्ण अच्छे संगीतज्ञ थे। अर्जुन भी इस कला में निष्पात थे इसी के बल पर वह वृहन्नला के स्वरूप में उत्तरा को नृत्य और गीत आदि सिखलाने के लिए राजा विराट के आश्रम में रहे थे। भारतीय इतिहास के अनुसार वत्सराज उदयन वीणा-वादन में बड़े ही प्रख्यात थे उनकी पत्नी वासवदत्ता उनके इस वादन को सुनकर स्वयं को भूल जाती थीं।

अनन्तर जैन, बौद्ध और मौर्य काल में संगीत की परम्परा क्रमिक रूप से प्रवाहित ही रही। वेदकाल से ईसवी सन् के प्रारम्भ तक हमारे सामने संगीत कला के सम्बन्ध में किसी प्रकार का रीति-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम इस विषय को लेकर भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में सम्यक् विवेचन किया है।

भरत—'नाट्यशास्त्र' नाटक के विभिन्न अंगों के साथ संगीत पर भी प्रकाश डालता है। इसके २८, २९ एवं ३०वें अध्यायों में संगीत-तत्त्वों का उल्लेख है। इनमें श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना और जाति के वर्णन हैं। स्वरों के सम्बन्ध में वादी, समवादी, अनुवादी और विवादी पर भी विचार किया गया है। अध्याय २८ के श्लोक ८०-८१ में स्वरों के ग्रहन्यास और अपन्यास का भी उल्लेख है। इस सब विवेचन के होते हुए भी भरत के नाट्यशास्त्र में राग-रागिनी का कोई भी संकेत नहीं मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भरत के समय में राग-रागिनी समझने की क्षमता समाज में प्रविष्ट न हो सकी थी।[3]

दत्तिल—भरत के अनन्तर संगीत पर प्रकाश डालने का श्रेय दत्तिल को है। उनका समय ५०० ई० सन् के आस-पास श्री भरतखण्डे ने माना है। उनकी 'दत्तिलम्'

---

१. श्री उमेश जोशी—भारतीय संगीत का इतिहास, वैदिक युग में संगीत, पृष्ठ ८२

२. श्री उमेश जोशी—भारतीय संगीत का इतिहास 'रामायण काल में संगीत, पृष्ठ १०४

३. G. C. Gangoly—Ragas and Raginis, Page 10.

नाम की रचना में संगीत-शास्त्र पर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने भरत के सिद्धान्तों को व्यापक बनाने का प्रयास किया है। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में केवल मध्यम और षडज ग्रामों का ही विवरण प्रस्तुत किया है; किन्तु इस सम्बन्ध में दत्तिल ने 'गान्धार' ग्राम का विशेष उल्लेख किया है। उसने भी रागों की १८ जातियाँ बताई हैं। स्वरों के आधार पर ओड़व, षाड़व और सम्पूर्ण नाम से रागों का उसने विभाजन किया है। इस प्रकार भरत और दत्तिल की सम्पूर्ण लक्षण सामग्री राग के स्वरूप को प्रस्तुत करती है।

मतंग मुनि—इनके द्वारा रचित 'वृहद्देशी' में सर्वप्रथम 'राग' शब्द का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में ग्राम और मूर्च्छना का सम्यक् विवेचन है। इन्होंने भी भरत और दत्तिल के सिद्धान्तों का ही सम्पोषण किया है। इस ग्रन्थ में एक अध्याय 'जाति' और एक अध्याय 'रागों' के लिए है।

नारद—इनका समय १०वीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है। इनका 'नारदीय शिक्षा' प्रसिद्ध संगीत ग्रन्थ है। इसमें ग्राम रागों का विशेष वर्णन है।

मुसलमान काल (१००० ई० से १८०० ई०)

मुसलमानों के आगमन से भारतीय संस्कृति की समरसता पर एक आघात लगा था। उसकी प्रगति अवरुद्ध हो उठी थी। यवन-संस्कृति के तत्त्वों के सन्निवेश से देश के वातावरण में एक नवीन मिश्रण प्रस्तुत हो गया था, जिसके फलस्वरूप विशुद्ध भारतीय संस्कृति अपने पूर्व रूप को सुरक्षित न रख सकी। इससे हिन्दू-ललित कलाओं का उत्कर्ष-काल १००० ई० से पूर्व ही मानना पड़ता है। इसके अनन्तर तो उनका ह्रास ही हुआ और नव-मिश्रित रूप ही देश के समक्ष प्रतिफलित हुआ।

उपर्युक्त तथ्य ही संगीत के साथ भी सत्य है। मुसलमानों के समय में हिन्दू-संगीत का पतन हुआ है और वह स्थिति इस दशा तक पहुँची कि हम प्राचीन परम्परा की गान-प्रणाली के विधानों को ही भूल बैठे।

'भारतीय संगीत का सबसे समृद्धिशाली युग मुसलमानों की विजय के कुछ पूर्व स्थानीय राजाओं का काल ही रहा। मुसलमानों के आगमन के साथ ही संगीत पतनोन्मुख हो गया और यह तो सचमुच आश्चर्यजनक है कि उसका अस्तित्व बना रहा।'[1]

सोमेश्वर—यह चालुक्यवंशीय विक्रमादित्य के पुत्र थे। शार्ङ्गदेव ने अपने 'संगीत रत्नाकर' में इनका उल्लेख किया है।[2] आपने ११३१ ई० में 'अभिलापार्थ

---

१. श्री भारतखण्डे—उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त एतिहासिक पर्यावलोकन, पृष्ठ ५

२. रुद्रटो नान्यभूपालो भोजभुववलभस्तथा।
परमर्दी च सोमेशो जगदेव महीपति.॥ —संगीत रत्नाकर १-१८

चिन्तामणि' और अनन्तर, संगीत रत्नावली' का निर्माण किया था। संगीत रत्नावली में जातियों से ही रागों का और रागों से भाषा, विभाषा और अन्तरभाषिका की उत्पत्ति मानी गई है। 'अभिलाषार्थ चिन्तामणि' में उन्होंने उल्लेख किया है कि देशी रागों के नाम देशों के नाम पर पड़े हैं—

देशी राग देशनाम समुद्भवाः।
प्रवर्तन्ते विनोदेषु साम्प्रतं सुमनोहराः॥
रागाः प्रवर्द्धते श्रुत्या रजयते मानसं सदा।
तेन रागाः समाख्याता नामस्तान ब्रवीम्यहं॥

अनन्तर उन्होंने रागों का वर्णन प्रस्तुत किया है।

नारद—इनका 'संगीत मकरन्द' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'नारदीय शिक्षा' के निर्माण करने वाले नारद से यह भिन्न हैं। 'संगीत मकरन्द' में राग-रागिनियों के विभेद किए गए हैं। इनको पुरुष, स्त्री और नपुंसक रागों में विभाजित किया गया है।

शार्ङ्गदेव—'संगीत रत्नाकर' आपका सर्व प्रशंसित ग्रन्थ हैं। भातखण्डे के अनुसार इसका रचनाकाल १३ वीं ईसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध काल है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में शार्ङ्गदेव ने आत्म परिचय देकर अपने ग्रन्थ के रचना-उद्देश्य का भी संकेत किया है, जिससे यह अवगत होने में कठिनाई नहीं होती कि उन्होंने संगीत-शास्त्र का व्यापक दृष्टि से विवेचन करने का प्रयास किया है।

अथ रागविवेकाख्येऽध्याये वक्ष्यामहे क्रमात्।
ग्रामरागांश्चोपरागान्रागान्भाषा विभाषिका॥
ततोऽप्यन्तरभाषाश्च रागांकाण्यखिलान्यपि।
भाषाऽङ्गाण्प्रत्युपांकानि च तत्त्वतः॥
ततः प्रकीर्णकाध्याये तृतीय कथयिष्यते।
वाग्गेयकारो गान्धर्वः स्वरादिर्गायनस्तथा॥
गायनीगुणदोषाश्च तयो शब्दभिदास्तथा।
गुणदोषाश्च शब्दस्य शारीरं तद्गुणास्तथा॥
तद्दोषा गमकः स्थाया आलप्तिर्बृन्दलक्षणम्।
ततः प्रबन्धाध्याये तु धातबोऽङ्गानि जातयः॥

संगीत रत्नाकर—१-३७-४१

रत्नाकर-कार ने उपर्युक्त के अतिरिक्त वाद्यों एवं नृत्य का भी सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है। संगीत के सम्बन्ध में यह देश का विश्वस्त और शास्त्रीय ग्रन्थ है। देश के संगीत की हिन्दुस्तानी और कर्नाटकी दोनों पद्धतियाँ इस ग्रन्थ को पूज्य मानती हैं।

ज्योतिरीश्वर—१४ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में आपने 'वर्णरत्नाकर' नाम का अपना कोष-ग्रन्थ प्रस्तुत किया था। इसमें काव्य, संगीत और नृत्य आदि के प्रसंग

हैं। लेखक ने उनके अङ्गों-प्रत्यङ्गों के नाम दिये हैं। उस समय के प्रचलित रागों के नाम भी ज्योतिरीश्वर ने अङ्कित किये हैं।

अमीर खुसरो—अलाउद्दीन खिलजी का दरबारी कवि और संगीतज्ञ था। उसमें मौलिकता के तत्व पूर्ण रूप से विद्यमान थे। कविता के क्षेत्र में जिस प्रकार उसकी मुकरियाँ प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार संगीत में भी उसने अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी थी। उसने भारतीय संगीत में कव्वाली तथा 'लिलफ' 'साजगिरी' 'सरपरदा' आदि रागों का प्रचार किया था। भारतीय वीणा में इस समय तक चार तारों की योजना थी; किन्तु अमीर खुसरो ने चार के स्थान पर तीन तार दिए। इसीसे फारसी नाम 'सहतार' से 'सितार' पड़ गया।

लोचन—यह मैथिल कवि थे। इनकी 'राग तरङ्गिणी' रागों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इन्होंने राग-रागनियों की विधाओं को प्रस्तुत करने में जयदेव और विद्यापति के गीतों को उद्धृत किया है और कहीं-कहीं स्वरचित उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। इनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। मिथिलानरेश राजा नरपति के वह समयाकालीन थे। उनकी प्रेरणा से ही रागतरङ्गिणी का सम्यक् प्रचार और प्रसार हुआ था।

उन्होंने निम्नलिखित पुरुष रागों (पुंरागों) के विवरण दिये हैं और अनन्तर स्त्री-रागों का भी वर्णन किया है—

भैरवः कौशिकश्चैव हिन्दोलो दीपकस्तथा।
श्री रागो मेघरागाश्च षडेते हनुमन्मता॥
बंगाली मधु माधवी वराड़ी भैरवीतथा।
सिन्धुरेतास्तु पंचस्युर्भैरवस्य वरस्त्रियः॥
टोडी खम्भावती गौरी ककुभागुनकर्य्यपि।
एतस्तु पंचरागिण्यः कौशिकस्य वरास्त्रीपः॥
बेलावली च देशाखो राम कर्य्यूत्तरा ललित।
पटमंजरी च पञ्चैता हिन्दोलस्य वरस्त्रियः॥
केदारा कानरा चैव देशीकामोदके तथा॥
विहागरा इतिख्याता दीपकस्यैव वल्लभाः॥
वसन्ता मालवा चैव मालस्रीच धनासिरी॥
असावरी च पञ्चैताः श्री रागस्य वरस्त्रियः॥
मलारी देशिका चैव भूपाली टङ्कके तथा॥
दक्षिणा गुर्ज्जरीचैव वारिदस्यवरस्त्रियः॥

लोचन कवि ने इस ग्रन्थ की प्रथम तरंग में पुरुष राग द्वितीय में रागिया, तृतीय में नाद-निरूपण और तिरहुति देश में विश्वस्त राग, चतुर्थ में तिरहुति देश में संकीर्ण राग और पंचम में स्वर प्रकरण, वीणावाद्यक विषय, राग-गान समय और

नायिका भेद का वर्णन प्रस्तुत किया है।

तुग़लक और लोदी काल में भारतीय संगीत की परम्परा अवश्य निभती रही ; किन्तु उल्लेखनीय संगीतज्ञों और आचार्यों का पूर्ण अभाव रहा। मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर अवश्य संगीतज्ञ और संगीत का प्रेमी था ; किन्तु वह भारत में १५२६ ई० से १५३० तक जीवित रह सका। इसके अतिरिक्त उसे विविध युद्धों में व्यस्त भी रहना पड़ा इससे संगीत की ओर उसका ध्यान जाना कठिन हो गया।

बाबर के समय में भारतीय राग-रागनियों के अतिरिक्त क़व्वाली, ग़जल और ख्याल आदि भी प्रमुखता पा रहे थे। इसी समय विजयनगर के दरबारी संगीतज्ञ कल्लिनाथ ने 'संगीत रत्नाकर' की संस्कृत में टीका की। संगीतज्ञों ने उससे पूरा लाभ उठाया और देश में शास्त्रीय संगीत का नवोन्मेष हो उठा।

ग्वालियर नरेश राजा मानसिंह—ये स्वयं बड़े संगीत प्रेमी थे। उन्होंने अपनी रानी मृगनयनी को संगीत सिखलाने के लिये बैजनाथ नामक (बैजू बावरा) को दरबार में रखा था। उन्होंने संगीत को ध्रुपद शैली के प्रचार और प्रसार में विशेष योग दिया था। राजा मानसिंह की प्रेरणा से सङ्कलित 'मान कुतूहल' का फकरउल्ला द्वारा 'राग-दर्पण' के नाम से अनुवाद हुआ था।[२]

इसके अनन्तर हम अकबर के राजत्व काल में प्रवेश करते हैं। तानसेन इस काल का श्रेष्ठ गायक़ अकबर के नौ रत्नों में से था। स्वामी हरिदास, जिनकी शिष्य परम्परा में बैजू, तानसेन आदि आते हैं, सफल गायक थे। अकबर स्वयं उनके संगीत को सुनने के लिये वृन्दावन में पधारा था।

पुण्डरीक विट्ठल—(१५९९ ई०) यह कर्नाटकी संगीत-पद्धति के आचार्य थे। इन्होंने (१) सद्रागचन्द्रोदय, (२) रागमाला (३) रागमंजरी (४) नर्तन-निर्णय ग्रन्थ लिखे थे। श्री पुण्डरीक उत्तरी भारत में संगीत का व्यवस्थित रूप देने के लिए दक्षिण से उत्तरी भारत में पधारे थे। उनके आचार्यत्व के सम्बन्ध में श्री भातखण्डे जी का निम्न कथन है।

'चन्द्रोदय में वर्णित राग दक्षिणी ग्रन्थों में भी मिलते हैं। चन्द्रोदय जिस शुद्ध सप्तक पर आधारित है, उसे मुखारी कहते हैं। जो दक्षिणी संगीतज्ञों के आधुनिक कनकाङ्गी सप्तक से मिलता है। पुण्डरीक ने रागमाला में लोक-प्रसिद्ध और परम्परागत पद्धति से हिन्दुस्तानी रागों का राग-रागिनी और पुत्र-रागों में वर्गीकरण किया है। इनका विभाजन तर्कपूर्ण और बुद्धिगामी तथ्यों पर आधारित है।'

१६०५ ई० में अकबर का देहान्त हुआ। अनन्तर जहाँगीर उसके स्थान पर

---

1. Captain Willard—'Treatise of Hindustan.
2. Sir W. Csle--Andecdotes of Indian Music.

सम्राट बना। उसने १६०५ ई० से १६२७ ई० तक देश का शासन किया। इसी के शासन काल में सं० १६८० (१६२३ ई०) में गोस्वामी तुलसीदास जी का देहान्त हुआ था। जहाँगीर के शासनकालीन एतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डालने वाले 'तुजुक' और 'इकबाल नामा' में जहाँगीर दाद, चतरखाँ, परवेजदाद, खुर्रमदाद, भाखू और हमजान आदि संगीतज्ञों के नाम मिलते हैं। १६२५ ई० के लगभग 'संगीत दर्पण' दामोदर द्वारा रचित है। इसमें लेखक ने संगीत रत्नाकर का स्वराध्याय स्थल-स्थल पर उद्धृत कर दिया है और कुछ नवीन मान्यताएँ स्वीकृत की हैं। जिनसे संगीत के अङ्गों पर प्रकाश पड़ता है।

संगीत की नवीन परिणति

हिन्दू-काल और मुसलमान-काल में संगीत की अविच्छिन्न परम्परा उपलब्ध होती है। मुसलमानी संस्कृति के समिश्रण से यह अवश्य सत्य है कि भारतीय संस्कृति और ललित कलाओं पर नवीन आघात लगे और उनका नवीन स्वरूप प्रस्फुटित हुआ। तदनुसार संगीत भी प्रभावित हुआ। जिससे संगीत के एक प्राण होते हुए भी दो शरीर हो गए। प्रथम भारतीय संगीत का विशुद्ध स्वरूप दक्षिण भारत में सुरक्षित रह सका, उसे कर्नाटकी संगीत की संज्ञा प्राप्त हुई जबकि मुसलमानों के प्रभाव के कारण द्वितीय 'हिन्दुस्थानी संगीत' कहलाया, यह संगीत उत्तरी भारत का अभिन्न अङ्ग बना, जिसमें संगीतज्ञों ने नवीन प्रयोग किये।

हिन्दुस्थानी संगीत में उसके आचार्यों द्वारा नवीन प्रयोग हो रहे थे। इनका सूत्रपात अलाउद्दीन खिलजी के समय में अमीर खुसरो द्वारा सम्पन्न हुआ था। यद्यपि कर्नाटकी संगीत के समान हिन्दुस्थानी संगीत में भी विशुद्धता का अंश विद्यमान था; किन्तु उसमें नवीनता समाहित हो उठी थी। ख्याल, ठुमरी, टप्पा, गजल, रेखता संगीत की कितनी ही शैलियाँ इस समय प्रस्फुटित हुई, जो ध्रुपद एवं धमार आदि शास्त्रीय संगीत की शैलियों के समानान्तर बह उठीं।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि हिन्दुस्थानी संगीत में शास्त्रीय और अशास्त्रीय दोनों स्वरूप एक साथ समाज की प्रकृति के अनुकूल प्रवाहित हो रहे थे। इन दोनों के दो क्षेत्र भी थे। प्रथम को आश्रय वे कलाकार दिए हुए थे जिनके लिए संगीत स्वान्तः सुखाय था। वे उसकी प्रस्तुत विधाओं के आधार पर संगीत को स्वरित कर आनन्द विभोर हो उठते थे। उसके नाद में उन्हें ब्रह्म-नाद की अनुभूति होती थी। इस कारण उनके कला-सम्पोषण में एक विशिष्ट मस्ती थी, वे अपने में पूर्ण थे उन्हें किसी की अपेक्षा ही नहीं थी। द्वितीय का क्षेत्र राजकीय प्रश्रय में सुरक्षित

---

१. श्री भातखण्डे—उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त एतिहासिक पर्यावलोकन, पृष्ठ ३०

था। उसके कलाकार वेतन-भोगी होने के कारण परमुखापेक्षी थे। उनकी कला दूसरे के सुख और मनोरंजन के लिए ही प्रस्फुटित होती थी। इस प्रकार कला का स्वान्तः सुखाय स्वरूप परान्तः सुखाय हो गया था। ऐसे कलाकार अपने आश्रयदाता के संकेत पर ही अपनी कला को जीवन-दान दिए हुए थे। ये मौलिकता को सुरक्षित न रख सके।

उपर्युक्त विवेचित तथ्यों में प्रथम में मौलिकता-संरक्षण के जो अवकाश हैं वे भला द्वितीय में कहाँ ? इस प्रकार द्वितीय क्षेत्र में कला का स्खलन होना स्वाभाविक था। सम्राट् अकबर इसको भली प्रकार समझते थे। यद्यपि तानसेन जैसे महागायक उनके दरबार में थे फिर भी स्वामी हरिदास का गायन सुनने के लिए वह आकुल हो उठे थे। वे तानसेन के साथ आकर स्वामी हरिदास के समीप गये और अंजलि बाँधे खड़े रहे। अकबर को क्या अभाव था; किन्तु तानसेन जैसे वेतन-भोगी से वह न पा सके; जिसको उसके गुरु से प्राप्त होने की सम्भावना थी। शिष्य के अशुद्ध गायन पर गुरु को आदर्श-गान करना पड़ा। अकबर को अलभ्य मिल गया, वह गद्गद् और तृप्त हो गये। उसने गान के उपलक्ष में स्वामी जी से अभिलषित माँगने के लिए कहा। वह निस्पृही भगवतभक्त थे, उन्हें चाहिए ही क्या था। अकबर को जिज्ञासा हुई कि गुरु और शिष्य के गायन में इतनी विषमता क्यों ? तद्विषयक समाधान के लिए तानसेन से प्रश्न कर उठे। तानसेन ने सम्राट् के प्रश्न के उत्तर में यही कहा कि वह स्वयं एक लौकिक सम्राट के दास हैं, जिनके संकेत पर उन्हें गान करने के लिए बाध्य होना पड़ता है इससे ध्वनि का स्वाभाविक स्वरूप नहीं निसृत हो पाता। इसके ठीक विपरीत उनके गुरु विश्व-सम्राट् के भक्त हैं, जिनकी प्रेरणा से ही उनका राग स्वरित होता है। उनके स्वरों के लिए कोई लोक-बन्धन नहीं है। इससे उनकी लय और गति अन्तरतम से सजीवता और स्वाभाविकता लेकर प्रस्फुटित होती है। इससे दोनों स्थितियों के राग में अन्तर रहना स्वाभाविक है। अकबर का इस तथ्य से समाधान हो गया। यह वृत्त संगीतकला ही क्या किसी भी कला के उदात्त अथवा अनुदात्त स्वरूप को व्यक्त करने में समर्थ है।

प्रथम के साथ मुसलमानों के आगमन पर द्वितीय सप्राण अवश्य हो उठा; किन्तु वह मुसलमानी बादशाहों और नवाबों को प्रसन्न करने के लिए ही था। ख्याल, टप्पा, ठुमरी आदि शैलियाँ तो उपयोग में भी आईं; किन्तु अन्य कितनी ही शैलियाँ अथवा मुसलमानी राग केवल नाम भर को उत्पन्न हुए और तत्काल समाप्त भी हो गए। उनकी परम्परा चली ही नहीं। यहाँ पर यह उल्लेख कर देना उचित ही होगा कि द्वितीय कोटि के संगीत का हमारी भारतीय संस्कृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। दीर्घकाल से प्रथम कोटि का सगीत ही हमारी संस्कृति को अभिप्रेरित करता चला आ रहा था और भक्तिकाल में आकर उसने ही फिर भारतीय वाणी को स्वरसता प्रदान की।

भारतीय संगीत की प्रथम पद्धति का ही भक्ति-काल की पद-शैली पर प्रभाव पड़ा। इससे उसके विवेचन और उपयोग पर विचार करना ही आवश्यक हो जाता है। वह किसी-न-किसी रूप से वेद-काल के संगीत से भी आबद्ध है। इधर काल-क्रम के कारण उसकी गति शिथिल हो उठी थी। १४वीं-१५वीं शताब्दी में उसकी इस दयनीय स्थिति में ही ग्वालियर नरेश राजा मानसिंह तोमर ने उसका पुनरुद्धार किया था। भारतीय संगीत की गति-विधि के उल्लेख में प्रायः राजा मानसिंह को ध्रुपद-शैली का प्रवर्तक कहा जाता है जो पूर्णतः अशुद्ध है। वह उक्त शैली के केवल संरक्षक ही थे। बख्शू (बैजू बावरा) तथा उनकी राजसभा के अन्य संगीतज्ञों ने उसके प्रचार और प्रसार में पूर्ण चेष्टा की थी। सौभाग्य से उन्हें सफलता भी मिली।

मुसलमानों के मिश्रण से देश की संस्कृति और विचारों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। पराधीन देश के सहृदय विचारक उसे रोकते भी कैसे; किन्तु विशुद्ध भारतीयता के उन भक्तों ने उस परिस्थिति में भी अपना मार्ग-निर्धारण कर लिया। कृष्णावत और रामावत सम्प्रदाय ऐसी भयंकर परिस्थितियों में ही उनके सत्प्रयासों के परिणाम हैं। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्त माधुर्य और मर्यादा पर आधारित थे। इससे इन सम्प्रदायों के पोषण में संगीत की विशुद्ध ध्रुपद शैली का सहयोग वेमेल नहीं लगा।

कृष्ण की लीला-भूमि ब्रज और राम की अवध रही है। कृष्णोपासना में माधुर्य और रामोपासना में मर्यादा का प्राबल्य रहा है। संगीत का प्राण माधुर्य से हा पोषित होता है। इससे कृष्ण के लीला-गान में सदैव से संगीत का उपयोग किया गया। बल्लभ के अष्टछाप के कवि, हरिदास, गौड़ी सम्प्रदाय के कवि आदि सभी में गेय पदों का प्रयोग है। इन कृष्णोपासक हिन्दी-भक्त कवियों को अभिनव जयदेव, मैथिल कोकिल विद्यापति, चण्डीदास, महाप्रभु चैतन्य आदि की संगीतपरक वाणियों की अभिप्रेरणाएँ भी पृष्ठभूमि में मिलीं। इससे कृष्णोपासना के क्षेत्र में गीति-परम्परा का अबाध प्रयोग हो उठा। इसकी देखा-देखी ही रामोपासना में भी गीत-परम्परा का ग्रहण हुआ और भक्त कवियों ने प्रभूत मात्रा में गीत रच डाले। उपर्युवत से यह समझा जा सकता है कि यह वह नवोन्मेष था, जिससे हमारी साँस्कृतिक भावनाओं को सुदृढ़ संरक्षण मिला, जिससे हम बचे रह सके।

व्रजभूमि ही कृष्ण का लीला-निकेतन होने के कारण भावुक भवत कवियों का प्रेरणा-स्थल बना। भले ही राजा मानसिंह के कारण ग्वालियर और अकबर के कारण दिल्ली संगीत के लिए प्रतिष्ठित हो उठे हों; किन्तु उनकी राज सभाओं के प्रमुख गायक बैजू बावरा और तानसेन वृन्दावन के स्वामी हरिदास के ही शिष्य थे। उन सभी के प्रेरणा स्रोत वही थे। स्वामी हरिदास के अतिरिक्त वहाँ सूरदास परमानन्ददास आदि कितने ही संगीतज्ञ भक्त कवि थे। भला इन राजकीय सभाओं

के वेतन भोगी गायक उनकी कैसे समानता कर सकते थे ? इनसे मथुरा और वृन्दावन संगीत और काव्य दोनों कलाओं के उत्कर्ष के पावन तीर्थ बन गये।

संगीत और काव्य की उपर्युक्त विवेचित गंगा-जमुनी अपने पिछले काल की लम्बी प्रगति से कहीं अधिक लुभावनी, सुहावनी और जन-प्रिय थी। संगीत और काव्य का समन्वित स्वरूप अपभ्रंश काल के सिद्ध गोरखनाथ तथा नाथ-पन्थी कबीर तथा ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्त कवियों की वाणियों में विद्यमान था; किन्तु उपर्युक्त सभी से इस युग का यह उन्मेष कहीं अधिक मधुर और श्रेयस्कर था। सिद्ध कवियों से लेकर कबीर तक यह सत्य है कि इन सभी ने राग-रागिनी समाहित गेय काव्य लिखा; किन्तु उसमें सिद्धान्तों का ही प्राधान्य है। संगीत का प्राण माधुर्य है। उसका सम्यक् प्रस्फुटन उक्त कवियों की वाणियों से न हो सका। इस सम्बन्ध में इस युग का काव्य अधिक भाग्यवान् है। इसमें संगीत काव्य से और काव्य संगीत से आगे जाना चाहता है। यहाँ पर काव्य के अभिन्न अङ्ग हो जाने के कारण संगीत दूने उत्साह से अग्रसर हुआ। हम कह सकते हैं कि यह युग काव्य का ही स्वर्ण युग न था; किन्तु संगीत का भी था।

तुलसी से पूर्व पद-काव्य का अध्ययन अगले अध्याय के लिए सुरक्षित है। वहाँ विविध सम्प्रदायों के कवियों के पदों का विवेचन प्रस्तुत किया जावेगा। फलतः यहाँ पर स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजू बावरा आदि संगीतज्ञों के संगीत पर विचार करना आवश्यक है। ये लोग भी कवि थे किन्तु इनमें संगीत के तत्त्व कवित्व से अधिक थे। इसी से संगीत की नवीन परिणति में इनका प्रमुख हाथ रहा।

स्वामी हरिदास

राजा मानसिंह ने ध्रुपद का केवल पुनरुद्धार ही किया था। वह उसे व्यापकता प्रदान न कर सके थे। हरिदास स्वामी ने अपनी भक्ति भावना के बल पर उसे व्यापक बना दिया था। इस प्रकार उसे उत्कर्ष पर पहुँचाने का श्रेय हरिदास स्वामी को है। राजा मानसिंह भारतीय संगीत के अनुरागी ही थे, ध्रुपद के प्रचार और प्रसार में नायक बख्शू, मच्छू, भानु आदि जैसे संगीतज्ञों का उन्होंने सहयोग लिया था। हरिदास स्वामी ध्रुपदों के कवि और स्वयं गायक भी थे। इससे उनकी सफलता उल्लेखनीय है।

स्वामी भी 'सखी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक थे। इससे उनकी भक्ति तथा सम्प्रदाय के आचारों में माधुर्य का विशेष हाथ रहा। "स्वामी जी के सम्प्रदाय में गायन उपासना का एक अंग है। ये वैरागी अपने गुरुमुख से ध्रुपद की गायकी की परम्परा को प्राप्त करते आए हैं। निश्चय ही उनमें से अधिकांश प्रतिभा प्राप्त नहीं होते; परन्तु साधना और अभ्यास से, वे उस परम्परा को अक्षुण्ण अवश्य बनाए हुए हैं।"[1]

---

१. श्री गोपालदत्त—'स्वामी हरिदास जी'—'हरिदास अंक'—संगीत कार्यालय हाथरस।

"नाद-विनोद' में बैजू, गोपाललाल, मदनराय, रामदास, दिवाकर, पण्डित, सोमनाथ पण्डित, तानसेन, राजा सौरसेन आदि स्वामी जी के आठ शिष्यों का उल्लेख है। इन शिष्यों ने भारतीय शास्त्रीय संगीत का देश के कोने-कोने में प्रचार कर दिया।

स्वामी जी ने भगवद्भक्तों के सहयोग से व्रज में रास-लीला का प्रचार कर राधा-कृष्ण सम्वन्धिनी भक्ति में माधुर्य का समावेश किया।

वह संगीताचार्य ही नहीं कवि भी थे। उनके स्वरचित निम्न पद दृष्टव्य हैं—

रागिनी आसावरी

देखो इन लोगन की लावनि।
बूझत नाहिं हरि चरन कमल को मिथ्या जनम गवावनि।
जब जमदूत आन घेरत तब करत आप मन भावनि।
कहि हरिदास नब ही चिरजीवौं जब कुंजबिहारी चित आवनि॥

अष्टादश सिद्धान्त के पद

राग कान्हरो

साई री सहज जोरी प्रगट भई रंग की गौर श्याम घन दामिनी जैसें।
प्रथमहूं हुती अबहूँ आगेहूँ रहिहैं न टरिहे तैसें॥
अंग अंग की उजराई सुघराई चतुराई सुन्दरता ऐसें।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा, कुँजबिहारी सम वैस वैसें॥

रागिनी गौरी

झूलत डोल श्री कुंजबिहारी।
दूसरी ओर रसिक राधावर नागर नवल दुलारी॥
राखे न रहत हसत कहि-कहि बिल बिलात पीय भारी।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कहत प्यारी अबके राखि हाहारी॥

उपर्युक्त पंक्तियाँ संगीत के अतिरिक्त काव्य में भी वड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। सखी सम्प्रदाय के सिद्धान्त कथन के अतिरिक्त इनमें मधुर भाव-व्यंजना भी समाहित हो उठी है।

स्वामी हरिदास का व्यक्तित्व देश और समाज के लिए बड़ा ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उनके सम्प्रदाय की परम्परा तो अक्षुण्ण है ही; किन्तु उनके द्वारा संगीत की नवीन परिणति होने के कारण आज भी देश के कोने-कोने से संगीत प्रेमी आकर उनकी समाधि की अर्चना और वन्दना, तथा स्तुति-गान करते हैं।

हरिराम व्यास रचित स्वामी हरिदास की प्रशस्ति देखिए—

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास।
कुंजबिहारी सेये बिन छिन न करी काहू की आस।
सेवा सावधान अति जानि, सुघर गावत दिन रस रास।
ऐसो रसिक भयो न ह्वै है भूमण्डल आकास।
देह विदेह भए जीवित ही विसरे विश्व विलास।
श्री वृन्दावन रेनु तन-मन, भजि तजि लोक-वेद की त्रास।
प्रीति रीति कीन्हीं सबही सौं, कियो न खास खवास।
अपनो व्रत यह और निबाह्यो, जौ लग कण्ठ उसास।।

बैजू बावरा—यों 'नाद विनोद' के आधार पर बैजू हरिदास स्वामी के शिष्य थे और 'निजमत सिद्धान्त' में भी महन्त श्री किशोरदास ने बैजू और तानसेन दोनों का उनसे संसर्ग प्रमाणित किया है; किन्तु बैजू और तानसेन का गुरु भाई और हरिदास का शिष्य होना बड़ा विवादास्पद है।[1] नायक बख्शू (बैजू) राजा मानसिंह की राजसभा के प्रमुख गायक थे और ध्रुपद शैली के राग-प्रचार में उन्होंने राजा को बड़ा सहयोग दिया था। उनके निर्मित ध्रुपद भी हैं। जो फकीरुल्ला कृत राग दर्पण में संग्रहीत हैं।[2]

तुव सुर विस्तार साधना (ध्रुपद)
नाम वेद अपरंपार
जग मग जग जोती तु ही साधन।। तुव सुर०।।
सप्त सुर तीन ग्राम कहत बैजू बावरे
नन्द के लाल तान मान सुख सम्पति दीनपूर।। तुव सुर०।।

—वि० ना० भातखण्डे (क्रमिक पुस्तक मालिका ४ भाग)

तानसेन—भारतीय संगीत के उन्नायकों में तानसेन का प्रमुख स्थान है। वह सुयोग्य गुरु के सुयोग्य शिष्य थे और बैजू के समान उन्होंने भी ध्रुपद शैली के संगीत की परम्परा को अग्रसर किया था।

मुकुन्दराम पाण्डेय अथवा मकरन्द पाण्डेय ने इस पुत्र-रत्न को मुहम्मद गौस नाम के एक सिद्ध साधक के आशीर्वाद से प्राप्त किया था। इनका जन्म ग्वालियर के समीप बेहट ग्राम में हुआ था। इनका बाल्यकाल का नाम तन्ना मिश्र था। उन्होंने दस वर्ष की अवस्था में ही स्वामी हरिदास से गान-विद्या सम्यक् रूप से सीख ली। इसी समय ग्वालियर नरेश राजा मानसिंह की पत्नी मृगनयनी ने अपने संगीत मन्दिर

---

१. श्री गोपालदत्त—स्वामी हरिदास जी—'हरिदास अंक, संगीत कार्यालय, हाथरस।

२. श्री प्रभुदयाल मीत्तल—भारतीय संगीत को स्वामी हरिदास की देन, संगीत कार्यालय, हाथरस।

का सफल छात्रा और गायिका—हुसेनी ब्राह्मण बालिका से उनका विवाह करा दिया। वह ग्वालियर में रहने लगे। इसी समय मुहम्मद गौस के निधनोपरान्त वह उनके संकेत पर अतुल सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हुए। तानसेन सर्वप्रथम रीवाँ नरेश राजाराम के राज सभासद थे। अनन्तर उनकी प्रेरणा से उन्हें अकबर के दरबार में जाना पड़ा। वहाँ छत्तीस गवैयों के मध्य में तानसेन का प्रथम स्थान था।

अकबर के दरबार में उनके जीवन का उत्कर्ष-काल था। हिन्दू होने के नाते उन्हें कितनी ही प्रतिस्पर्द्धाओं और प्रतियोगिताओं में से निकलना पड़ा; किन्तु वह संगीत के गुणी और सफल गायक थे। इससे उनमें सफल होते रहे और वह आजीवन अकबर के स्नेह-भाजन बने रहे।

तानसेन अपने गुरु हरिदास स्वामी के समान सङ्गीतज्ञ और कवि दोनों ही थे। उनकी सफल गायकी के समक्ष उनका कवि स्वरूप जन-जीवन की दृष्टि से ओझल ही रहा। इसी से तानसेन गायक के नाम से प्रसिद्ध हुए कवि के नाम से नहीं।

"गायक के रूप में अतुलनीय यश के अधिकारी होने के कारण कवि के रूप में तानसेन का यशोभाग्य जितना होना चाहिए था उतना नहीं हुआ। संगीतज्ञ कलावन्त तानसेन के अन्तराल में जैसे कवि और साधक तानसेन ढक गए हों। यह मानना पड़ेगा कि ध्रुपद रीति के पदों में कवि की कवित्व शक्ति के पूर्ण प्रकाश के लिए कुछ लक्षणीय बाधाएँ थीं। तो भी तानसेन एक प्रथम श्रेणी के प्रतिभावान कवि थे यह बात बन्धनों के बीच उनकी वाणी के सौन्दर्य से प्रमाणित होती है। ध्रुपद में किसी एक प्रकार का धीरोदात्त और स्निग्ध गम्भीर भाव विद्यमान है, इसकी गठन शैली होती है विराट वास्तु शिल्प की सी, परस्पर ग्रथित और सुसम्बद्ध। इस वास्तु शिल्पानुरूप गुण के कारण तानसेन के ध्रुपद गीतों में एक उच्च कोटि की महिमा एवं एक शुद्ध संयत भाव आ जाता है जो कि उनकी रचना शैली की उदारता, उसके आभिजात्य एवं उनके शब्द-चयन की शक्ति से और भी पुष्ट, और भी समृद्ध और भी उद्भासित हो उठते हैं।"[१]

ध्रुपद शैली के पदों में आस्था और भक्ति प्रकृति-वर्णन, राजाओं के महत्व आदि के तत्व रहते हैं। इन सभी भावनाओं का सम्यक् सन्निवेश उनकी पदावली में उपलब्ध है। वेद-काल से लेकर उन तक जो भक्ति-भावना का प्रवाह बहा था उसका उन्होंने अपनी पदावली में सफलता से प्रयोग किया है। इससे उनकी वाणी जन-वाणी का प्रतिनिधित्व करती है और वह लोक-जीवन से परे नहीं परिलक्षित होती है। उन्होंने भी परम्परागत व्रजभाषा को अपने काव्य में प्रयोग किया था। मुसलमानी मत के पोषक पदों में ही केवल उर्दू-फारसी शब्दों का पुट मिलता है। अन्यत्र हिन्दी-

---

१. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी—'कविवर तानसेन'—सम्मेलन पत्रिका, ज्येष्ठ आषाढ़ २००३

शब्दों का ही प्रयोग मिलता है। उनके एकाध पद दृष्टव्य हैं—

(सूर्योदय) राग ललित-भैरव (ताल चौताल)

हेम-किरीटिनी उषा देवी कनक-वरनी-सविता-गेहिनी।
उदत मधुर हास जग हसायो।
सिन्धु-वाटि उदत भानु, विमल सोह जैसे मानौं।
दिसा-नायरी कनक गागरी पानी भरि-भरि मंगल अस्नान करायौ।
विहग मधुर ललित तान गावै, भुवन नव जीवन।
आनन्द मगन सब जग-जन मंगल-गीत गायौ।
आयी उषा कँवल-नेत्री, गायत्री, जगधात्री, लैके।
अरुन-किरन-मज्जन तानसेन—मानस—तामस दूर लियौ।

राग मल्हार (ताल चौताल)

बादर आयौ री, बाल पिअ बिन लागइ डर पावन।
एक तो अँधेरी कारी, बिजुरी चवँकत उमड़-घुमड़ बरखावन।
जब तें पिया परदेस गँवन कीनौ तब तें विरह भयौ सोतन तावन।
सावन आयौ अत फर लावन, तानसेन प्रभु न आवै मन भावन।

उपर्युक्त दोनों पदों में भावनाएँ सुगठित और सुललित रूप से सगुम्फित हैं। तानसेन का कवि-स्वरूप उनसे स्वतः ही प्रस्फुटित होता है। फलतः संगीतज्ञ के समान उनका कवि-रूप भी गौरवास्पद है। यदि उनका सम्पूर्ण पद-साहित्य प्रकाश में आ सके तो भक्ति-काल की सगुण-धारा असन्दिग्ध रूप से चिर-आभारी हो उठेगी। इस प्रकार संगीत और काव्य दोनों ही तानसेन के व्यक्तित्व और सर्जना से चिर-ऋणी हैं।

संगीत का हिन्दी-काव्य पर प्रभाव

संगीत के तात्विक विवेचन और काव्य के साथ उसकी अभिन्नता पर विचार करने से वह किसी भी काव्य की गेय परम्परा के पूर्ण अनुकूल सिद्ध है। यह अवश्य सत्य है कि प्रत्येक काव्य संगीत नहीं हो सकता और प्रत्येक संगीत काव्य नहीं हो सकता; किन्तु दोनों के सम्मिश्रण से एक स्वरूप ऐसा अवश्य हो सकता है, और हुआ है जो दोनों को ग्राह्य हो अथवा जहाँ पर दोनों ललित कलाओं के एक दूसरे का उपकार करती हुई मिल जाए, यहाँ विशिष्ट स्वरूप किसी भी काव्य की गेय परम्परा है।

इस तथ्य के पोषण में ही हिन्दी-गेय परम्परा की पृष्ठभूमि में सिद्धों की मानवतावादी धार्मिक भावनाओं ने गीत काव्य का एक सुस्पष्ट स्वरूप अपभ्रंशकाल में समाज और साहित्य के समक्ष प्रस्तुत किया था। सच तो यह है कि उनका यह

प्रयोग अपूर्व और पूर्ण प्रभावोत्पादक है। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि उनकी संगीत-परम्परा, जो वेद-काल से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित थी, बड़ी प्रिय और अनुकूल लगी। उन्होंने समझ लिया कि संगीत के माधुर्य में ही सिद्धान्त की अग्राह्यता शमन की जा सकती है, फलतः वे अपने प्रयोग में सफल उतरे। इसी से उनके अनन्तर निर्गुणियाँ सम्प्रदाय में भी गोरखनाथ तथा उनकी शिष्य-परम्परा ने उसे स्वीकृत किया।

गीत की परम्परा, जिसने सिद्धों को प्रभावित किया था, आगे आलोच्य काल तक ही नहीं; किन्तु आज २०वीं शताब्दी तक प्रगतिशील है। सिद्धों के अनन्तर निर्गुणियाँ सम्प्रदाय, ज्ञानाश्रयी शाखा, राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति धाराओं में इस परम्परा का ग्रहण सिद्धों के समान प्रयोग तो अवश्य नहीं कहा जा सकेगा; किन्तु हिन्दी का उपर्युक्त इंगित शाखाओं में पद-शैली के ग्रहण में संगीत के व्यापक माधुर्य की अभिप्रेरणा मानने के लिए बाध्य होना ही पड़ेगा, अन्यथा संगीत के लोक-व्यापी प्रभाव के साथ अन्याय होने की सम्भावना है। तथ्य तो यह है कि चाहे कबीर हों, चाहे सूर हों चाहे तुलसी हों, चाहे बीसवीं शताब्दी के प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी हों, गीत का सम्मोहन भाया सभी को है, जिससे गेय काव्य की अविच्छिन्न परम्परा आज तक के हिन्दी काव्य में उपलब्ध है।

संगीत की उपर्युक्त विवेचित नवीन परिणति में हमने देखा है कि हरिदास स्वामी, बैजू बावरा और तानसेन के पद संगीत-तत्वों से युक्त होने के कारण केवल संगीत के ही गौरव नहीं हैं; किन्तु उनसे हिन्दी-काव्य भी आभारी होता है। हिन्दी का दुर्भाग्य है कि वह अपने इस अङ्ग के अध्ययन को अभी तक विस्मृत किये है। यह सत्य है कि हिन्दी के अन्तर्गत यह अंग अभी तक छूटा ही हुआ है; किन्तु इसने संगीत की आड़ में हिन्दी-काव्य को चिर-आभारी अवश्य किया है। अभी तक राग-रागनियाँ सिद्धान्त-कथन मात्र के लिए ही थीं; किन्तु अब संगीत की नवीन परिणति में यह स्पष्ट हो गया कि वे किसी भी भावना को संवहन करने में पूर्ण समर्थ हैं। इससे यदि केवल इनमें ही काव्य-रचना की जाए तो भी काव्य-पक्ष सुरक्षित रह सकता है। इस प्रकार काव्य की पद-शैली का जीवन अबाध और उन्मुक्त हो गया। फलतः राग-रागनियों का व्यापक प्रभाव काव्य-क्षेत्र में परिलक्षित हुआ। सभी सम्प्रदायों ने पद-परम्परा को काव्य के लिए प्रतिष्ठित समझा। इससे उसका अधिकाधिक प्रयोग हो उठा।

निर्गुणियाँ सम्प्रदाय तक पद-परम्परा का विवेचन प्रथम अध्याय में प्रस्तुत किया जा चुका है। मूल आलोच्य विषय तक पहुँचने के लिए ज्ञानाश्रयी, राम-भक्ति, कृष्ण-भक्ति धाराओं में भी इस परम्परा का विवेचन आवश्यक है। फलतः अगला अध्याय उपर्युक्त संगीत विषय के लिए ही सुरक्षित है।

: ४ :

तुलसी से पूर्व हिन्दी पद-साहित्य

विषय-प्रवेश—अपभ्रंश और उसकी विकसित परम्परा में सिद्ध और निर्गुणियाँ सम्प्रदायों के पद-साहित्य का विवरण प्रथम अध्याय में प्रस्तुत किया जा चुका है, जो हिन्दी साहित्य का पृष्ठभूमि में पड़ने के कारण विशेष महत्वपूर्ण है। अनन्तर हिन्दी-साहित्य उसकी परम्पराओं को ग्रहण और नवीन उद्भावनाओं का सन्निवेश करता हुआ सप्राण हो उठा। उसने पद-शैली की परम्परा को ग्रहण किया और आदि काल में वीसलदेव रासो, ढोला मारू रा दूहा और आल्हखण्ड की मौखिक गेय परम्पराओं ने उसका यथासाध्य पोषण किया। अनन्तर हिन्दी में पद की अविच्छिन्न परम्परा प्रवहमान हो उठी। गो० तुलसीदास का पद-साहित्य हमारे विशेष अध्ययन का विषय है। फलतः उनसे पूर्व पद की जो भी प्रगति रही है उस पर दृष्टिपात करना ही इस अध्याय का उद्देश्य है।

आलोच्य विषय स्पष्टतः भक्ति-काल से सम्बन्धित है, जिसमें निर्गुणोपासना के अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी तथा सगुणोपासना में राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति शाखाएँ पल्लवित हुई हैं। इनमें प्रेमाश्रयी शाखा के अतिरिक्त सभी में पद-शैली का ग्रहण है, जिसका सम्यक् विवेचन इस अध्याय में सन्निविष्ट है। हाँ राम-भक्ति शाखा के अन्तर्गत तुलसी के पद-साहित्य का अध्ययन, जो आगे के अध्यायों के लिए सुरक्षित है, यहाँ छोड़ दिया गया है। इससे तुलसी से पूर्व राम-शाखा के प्रवर्तक रामानन्द के पदों का अध्ययन यहाँ उपलब्ध है।

सामयिक गति-विधियाँ

हर्ष के राज्योपरान्त हिन्दू राजाओं में केन्द्रीय शक्ति का पूर्ण ह्रास हो गया, अनन्तर राजपूत काल (१२०० ई०) तक कोई ऐसी शक्ति इतिहास में दृष्टिगोचर नहीं होती जो अन्य राजाओं को संगठित कर देश की राष्ट्रीयता और संस्कृति का संरक्षण करती। कोरी अहंमन्यता और मान-वीरत्व के प्रयास में परस्पर लड़-झगड़ कर सभी नष्ट हो गये। यहाँ तक पृथ्वीराज जैसा अन्तिम हिन्दू-सम्राट् भी इन्हीं विकारों से विनष्ट हो गया। इन दयनीय परिस्थितियों के मध्य में यदि हिन्दू-राजे मुसलमान राजाओं से परास्त भी हुए हों तो आश्चर्य ही क्या ? हम्मीरदेव ने हिन्दुत्व-संरक्षण का अन्तिम प्रयत्न किया था; किन्तु वह निराश रहा। ऐसी स्थिति में देश में मुसलमानों के राज्य का विकसित होना स्वाभाविक था।

बाह्य शक्ति-समन्वित राजाओं के पतन से देश विशेष सङ्कट-ग्रस्त हो गया। जिससे उसकी संस्कृति की रक्षा का प्रश्न विचारणीय हो उठा। इस समय किसी ने यदि उसके संरक्षण का साहस किया भी तो मुसलमानों ने उसे 'कुफ्र' मानकर दबाने और कुचलने का प्रयत्न किया। वे महमूद ग़जनवी के समान केवल लूटमार के लिए नहीं आए थे। यदि इनकी भी वैसी ही भावना रही होती तो शायद देश आघात को सहन कर जाता और उसका घाव कुछेक वर्षों में पुर जाता। यह मुसलमान शासक और उनके सहयोगी इस्लाम-प्रचार और कुफ्र-विनाश की भावना से प्रेरित होकर अग्रसर हुए थे। इसी से उनके बस जाने से हमारे देश में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक उथल-पुथलों का सूत्रपात हो उठना स्वाभाविक हो गया।

मुसलमानी राज्य के प्रारम्भ होने पर उसकी संस्कृति के तत्त्वों का प्रभाव पड़ना भी आरम्भ हुआ। वे सब जाति-पाँति की भावना से दूर एक ही खुदा और एक ही इस्लामी ध्वजा से अनुशासित थे। परस्पर में एकता के सूत्र से बँधे थे और साथ में इस्लाम का उद्देश्य उनके हृदयों में घर किये था। इसी से उन्होंने एक-एक हिन्दू-राजा को परास्त किया और अपनी जड़ें जमा लीं। यदि हिन्दू-राजाओं में उनकी सी प्रवृत्ति का दशमांश भी रहा होता तो इतिहास हिन्दुओं की ही अविच्छिन्न परम्परा का विवरण प्रस्तुत करता; किन्तु भारतीयों के दुर्भाग्य के साथ देश का सौभाग्य फूट चुका था जिससे वह मुसलमानों से पद-दलित हुआ और अपने पतन की करुण स्थितियाँ उसे देखनी पड़ीं। मुसलमानों ने शासन के साथ धर्म प्रचार भी अपना उद्देश्य बनाया, जिसके लिए उन्होंने अत्याचार और अनाचार सभी कुछ किये और देश सभी प्रकार से पीड़ित हो उठा।

समाज ने सब देखा और सब सुना। वह अपने पौरुष या अपनी किसी बाह्य शक्ति के अभाव में निराश होकर रह गया। अनन्त-बिहारी भगवान भी अपनी अलौकिक शक्ति को लेकर देश की निष्कृति से उदासीन हो चुके थे। सोमनाथ के मन्दिर में जो यवन-आक्रान्ता का अपमान सहन कर जाये, वह अश्रु-विगलित निराश और दुःखी समाज को क्या आश्वासन दे सकता है? एक अनास्था-सी जागृति हुई और समाजगत विवशताओं ने उसे गाढ़ निराशा का रूप दे दिया।

उत्तर भारत में जब इस प्रकार के वज्रपात समाज को निराश कर रहे थे तब दक्षिण में पेरिय आलवार, आंडाल, नम्मालवार, कुलशेखरर् आदि वैष्णव और सम्बन्धर्, अप्पर्, सुन्दरर्, मणिक्कवाचकेर् आदि शैव भक्त अपने भजनों में भारतीय संस्कृति के शास्त्रीय सम्मत रूप को नव जीवन-दान दे रहे थे। इनकी भावनाओं ने उत्तर भारत को निराश नहीं होने दिया। आचार्यों के द्वारा ये भावनाएँ दक्षिण से उत्तर को पहुँचाई गईं, जिनसे उनमें भी आशापूर्ण जीवन का संचार हो उठा।

"वेदवाणी और बुद्धवाणी जो उत्तर भारत से दक्षिण भारत में पहुँची, उनका ऋण चुकाने के लिए शङ्कर, रामानुज आदि वैष्णव आचार्यों ने भक्ति का प्रवाह दक्षिण

भारत से उत्तर भारत में बहाया। उन आचार्यों को यह स्फूर्ति तमिल भाषा में गाने वाले वैष्णव और शैव सन्तों से ही मिली।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में सन्त विनोबा ने जिस भक्ति-प्रवाह को इंगित किया है, वह देश का स्वतन्त्र चिन्तन है। उसके प्रश्रय से ही उत्तर भारत का ह्रास-प्राप्त भागवत धर्म पुनः पल्लवित हो उठा, जिसमें राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति की भावनाओं को प्रमुखतः प्राप्त हुई। वस्तुतः इन सबका मूल स्रोत एक ही है।

जिस प्रकार एक ही वैदिक शास्त्रीय आधार पर वैशेषिक, न्याय, सांख्य आदि विविध दार्शनिक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए उसी प्रकार वेदान्त के विभिन्न भाष्यों के आधार पर देश के धार्मिक सम्प्रदायों ने जीवन प्राप्त किया। सच तो यह है कि वेदान्त अथवा उपनिषद और ब्रह्मसूत्र ही उनके उद्भव और प्रसार के मल अभिप्रेरक रहे हैं। ब्रह्मसूत्रों के विभिन्न भाष्य हुए हैं।

१. शङ्कर (७८८-८२० ई०)	शारीरिक भाष्य	निर्विशेषाद्वैत
२. भास्कर (१००० ई०)	भास्कर भाष्य	भेदाभेद
३. रामानुज (११५० ई०)	श्री भाष्य	विशिष्टाद्वैत
४. मध्व (१२३८ ई०)	पूर्ण प्रज्ञ	द्वैत
५. निम्बार्क (१२५० ई०)	वेदान्त पारिजात	द्वैताद्वैत
६. श्री कण्ठ (१२७० ई०)	शैव भाष्य	शैव विशिष्टाद्वैत
७. श्रीपति (१४०० ई०)	श्रीकर भाष्य	शक्ति विशिष्टाद्वैत
८. वल्लभ (१५०० ई०)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९. विज्ञानभिक्षु (१६०० ई०)	विज्ञानामृत	अविधमाद्वैत
१०. वल्देव (१७२५ ई०)	गोविन्द भाष्य	अचिन्त्य भेदाभेद[2]

उपर्युक्त सिद्धान्तों में शङ्कराचार्य और मध्वाचार्य की ही दो विरोधी आधार शिलाएँ हैं। शेष सभी ही द्वैत और अद्वैत में समाहित हैं। शङ्कराचार्य द्वैत में और मध्वाचार्य अद्वैत में विश्वास नहीं रखते हैं। साथ में यह भी ध्यान देने योग्य है कि शङ्कराचार्य और विज्ञानभिक्षु के अतिरिक्त सभी ही आचार्य मुक्ति और निर्वाण के लिये भक्ति-तत्त्व आवश्यक समझते हैं।

शङ्कराचार्य के मायावादी सिद्धान्त की प्रतिक्रिया स्वरूप निम्न वैष्णव सम्प्रदाय उत्तर भारत में प्रचलित हुए।

१. रामानन्द का रामानन्दी सम्प्रदाय (विशिष्टाद्वैत)

---

१. वियोगी हरि—'सन्त सुधासार' प्रस्तावना—विनोबा, पृष्ठ ११ (सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली)

२. श्री बल्देव उपाध्याय—शङ्कराचार्य—अद्वैत वेदान्त का इतिहास (हि० ए० प्रयाग)

२. श्री चैतन्य महाप्रभु का चैतन्य सम्प्रदाय (गौडीय सम्प्रदाय-अचिन्त भेदाभेदवादी)
३. श्री वल्लभ का पुष्टिमार्ग (शुद्धाद्वैतवादी)
४. राधावल्लभीय सम्प्रदाय
५. हरिदासी सम्प्रदाय[1]

उल्लिखित पाँच सम्प्रदायों में प्रथम द्वारा राम-भक्ति का विकास हुआ जब कि शेष चारों द्वारा कृष्ण-भक्ति धारा का। उपर्युक्त धार्मिक आन्दोलन में जब आचार्य अपने-अपने मन्थन किये हुये विचार समाज के समक्ष प्रस्तुत कर रहे थे तब सामाजिकों को नव-चेतना और भारतीय संस्कृति और धर्म के अक्षुण्ण रहने का आश्वासन मिला। जब ये विचार दक्षिण से उत्तर में पहुँच रहे थे उस समय कुछ नवीन प्रतिक्रियाएँ भी देश के सामने आ रही थीं।

मुसलमानी और भारतीय संस्कृति के समन्वय से कबीर ने एक ऐसा मिश्रण तैयार किया जो दोनों समाजों को ग्राह्य हो सके। उनकी प्रतिपादित ज्ञानाश्रयी शाखा कबीर के अदम्य साहस और उत्साह को प्रमाणित करती है। अपभ्रंश काल के सिद्धों और अनन्तर के निर्गुणियाँ सम्प्रदाय ने भारतीय साधना को जहाँ छोड़ा था कबीर ने उसी को अग्रसर करने के लिए भारत की शास्त्रीय अद्वैतवादी और उसी के मेल में मुसलमानों की एदेश्वरवादी भावना को लेकर सन्त सम्प्रदाय खड़ा कर दिया। दोनों समाजों ने कबीर-भावना को मान्यता दी। रामानन्द कबीर के दीक्षा-गुरू थे। कबीर के सन्त काव्य में भारतीयता का ही अधिक पोषण हुआ है, यह सर्वमान्य है।

हिन्दू-विधवा की कोख से जन्म प्राप्त कबीर की समन्वयवादी भावना एक हिन्दू-प्रतिनिधि का ही प्रयास कहा जावेगा, यद्यपि कबीर इस प्रकार की सङ्कीर्ण भावना से कहीं दूर और अछूते थे। कबीर के समान समन्वयवादी भावना का विशुद्ध मुसलमानी आन्दोलन भी उठा था, वह है सूफ़ियों की प्रेम-प्रधान साधना। उनके धर्म के स्थूल तत्त्व वही सूफियों के थे; किन्तु उन्होंने अपने काव्यों के लिये भारतीय परिवारों की कहानियाँ लेकर प्रेम-प्रधान इतिवृत्त प्रस्तुत किए। उनकी भावुकता और सहृदयता ऊँचे दर्जे की मानव-जनीन थी। फलस्वरूप उनकी रागात्मिकता हिन्दू-मुसलमानों के मध्य के वैषम्य के उन्मूलन में बहुत सहायक हो सकी। उनके इस आन्दोलन के फलस्वरूप हिन्दू और मुसलमान दोनों एक दूसरे के हृदयों को टटोलने में समर्थ हो सके थे। सच तो यह है कि कबीर के अपूर्ण सन्देश को सूफियों ने अपनी सद्भावना से पूर्णता प्रदान की। यदि सूफियों की यह परम्परा चलती रहती अथवा मुसलमानों के अन्य सम्प्रदाय काफिर-कुफ्र की कठोर भावना के स्थान पर जरा भी शालीन हो जाते तो देश का बड़ा उपकार हुआ होता; किन्तु वैसा न हो सकने के कारण और आए दिन

---

१. डा० दीनदयाल गुप्त—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (हि० सा० स०)

संघर्षों के फलस्वरूप विश्वास हो उठने वाला हिन्दू-हृदय अविश्वस्त हो गया। उसने सोच लिया कि विदेशी परम्परा के पीछे भटकना मृग-तृष्णा है। कबीर की वाणी भी उन्हें बेसुरी लगी। फलतः उन्होंने अपनी संस्कृति की सुरक्षा के दृष्टिकोण से दक्षिण दिशा से प्रतिध्वनित आचार्यों की भावनाओं को प्रतिष्ठा प्रदान की।

उपर्युक्त तथ्य के आधार पर ही भारतीय समाज ने राम और कृष्ण की भक्ति-भावना का विश्वास किया। मर्यादा और प्रेम के प्रतीक ये दोनों उदात्त चरित्र निराश समाज को आश्वासन और जीवन की प्रेरणा दे सके। हिन्दू-समाज पुनः नवीन चेतना से सिहर उठा। रामानुजाचार्य की भावना रामानन्द में होती हुई दो दिशाओं में मुड़ गई—प्रथम का प्रतिनिधित्व कबीर ने अपनी ज्ञानाश्रयी और द्वितीय का प्रतिनिधित्व तुलसीदास ने राम-भक्ति शाखा में किया। कृष्ण-भक्ति-शाखा के विविध स्रोत भी प्रस्फुटित हो उठे, जिन्होंने अपनी भक्ति-माधुरी से समाज को अभिसिक्त कर दिया।

१. निर्गुणधारा

ज्ञानाश्रयी शाखा और पद-परम्परा—कबीर ज्ञानाश्रयी अथवा सन्तमत के प्रवर्तक थे, हिन्दू-मुसलमानों की विचार-धाराओं को उन्होंने निस्संकोच रूपसे ग्रहण किया था इसी से दोनों सम्प्रदायों की विशेष बातें, जो उन्हें निष्कपट और आडम्बर-शून्य प्रतीत हुईं, उन्होंने सन्तमत में स्वीकृत की। सच तो यह है कि उस युग में कबीर के समान कोई भी साधक व्यापक हृदय लेकर न जन्मा था। उनके सन्तमत में सभी ही जिज्ञासाओं और प्रश्नों का समाधान था। इसी से उनका मत लोक-प्रिय हुआ। मगहर में हिन्दू-मुसलमानों का उनके शव के लिए संघर्ष करना उनकी सर्वप्रियता का ही ज्वलंत उदाहरण है।

कबीर स्वतन्त्र विचारक की प्रतिभा लेकर अवतरित हुए थे। इसी से उनका समन्वय आश्चर्यप्रद है। उनके काव्य में वैदिक सिद्धान्त, वैष्णव मत, बौद्ध धर्म, नाथ सम्प्रदाय, सूफी मत आदि सभी के विचारों का समावेश सन्निहित है, जिनके विचारों को ग्रहण करने में उन्होंने एक निष्णात पारखी का परिचय दिया है। असत्य से उन्हें घृणा और आडम्बर से चिढ़ थी। उपर्युक्त सम्प्रदायों में कर्म के सिद्धान्त के भय पर जो प्रवंचनाएँ प्रविष्ट हो चुकी थीं, कबीर ने उनका परित्याग किया। वे भावनाएँ ही उन्होंने ग्रहण कीं, जो एक विशिष्ट सम्प्रदाय की बपौती न समझी जाकर अन्यों को भी निस्संकोच रूप से ग्रहण हो जाएँ। निस्सन्देह कबीर का यह बहुत बड़ा काम था, जो उनके मौलिक व्यक्तित्व पर आधारित है।

दक्षिण से जिस प्रकार शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य ने भक्ति के स्रोत को बहाकर उत्तर की सगुण भक्ति-भावना को आभारी किया उसी प्रकार निर्गुण भावना का स्रोत भी वहाँ से प्रवाहित हुआ, जिसके पोषक और अभिप्रेरक महाराष्ट्र

के सन्त नामदेव थे। आगे चलकर त्रिलोचन, सदन और वेनी आदि सन्तों द्वारा नामदेव की भावना को प्रोत्साहन मिला[1] और वह सम्पूर्ण देश में व्यापक हो गई। नामदेव की पदावली में कर्म और वैराग्य का समन्वय, भेदभाव विहीनता, ब्रह्म की निर्गुणता, अनन्य प्रेम भावना, सर्वातमवाद और अद्वैत भावना, निर्गुण भक्ति, नाम-साधना, सेव्य सेवक भावना आदि की विचारधाराएँ उपलब्ध हैं।[2] ये विचारधाराएँ कबीर और गुरु नानक की वाणियों में स्थान ले लेती हैं। नामदेव के समान रामानन्द के व्यक्तित्व का भी उन पर विशेष प्रभाव पड़ा। जाति-पाँति की भावना का उच्छेदन, धर्म-प्रचार के लिए लोक-भाषा का ग्रहण, साकार उपासना के अतिरिक्त अद्वैतवादी भावना का सम्पोषण आदि रामानन्द की प्रमुख विचारधाराएँ थीं, जिन्होंने कबीर को उनसे गुरु-दीक्षा लेने के लिए वाध्य कर दिया था।

ज्ञानाश्रयी सिद्धान्त—कबीर के सन्तमत में निम्न भावनाएँ विशेष मान्य थीं—

ब्रह्म

कबीर की वाणियों में अद्वैतवादी भावना, जो इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद के समीप पड़ती है, प्रमुख है। इसी से ब्रह्म की अव्यक्त निर्गुण सत्ता उनके काव्य में विशेष रूप से प्रस्फुटित है। उनके इन्हीं वर्णनों में योगियों के द्वैताद्वैत विलक्षण, ज्योतिवाद, सूफियों के नूरवाद, सबदवाद, शून्यवाद आदि की भी प्रतिछाया मिल जाती है।[3] ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता के अतिरिक्त उसका व्यक्त स्वरूप भी है। यदि प्रथम ज्ञानपक्ष का साधन है तो द्वितीय भावपक्ष अथवा सगुण भावना का। कबीर ने भी भक्ति-भावना को अपनी साधना में स्थान दिया है। उनका यह तथ्य ब्रह्म के व्यक्त रूप में ही स्पष्ट हो सका है। ऐसे स्थलों पर कबीर विशेष भावुक हो उठे हैं—

ब्रह्म का व्यापक रूप

कस्तूरी कुण्डलि बसै, मृग ढूंडै बन माँहि।
ऐसैं घटि घटि राम हैं, दुनियाँ देखै नाँहि॥ —(क० ग्रं० पृष्ठ ८१)
ज्यूँ नैंनूं मैं पूतली, त्यूं खालिक घट माँहि।
मूरिख लोग न जाणहीं, बाहरि ढूंढण जाहि॥—(क० ग्रं० पृष्ठ ८२)
मैं सबनि मैं औरनि मैं हूँ सब।
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो।

---

१. डा. रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ २१९
२. डा० गोविन्द त्रिगुणायत—कबीर की विचारधारा, पृष्ठ ८६
३. डा० गोविन्द त्रिगुणायत—कबीर की विचारधारा, पृष्ठ १९५

कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो ।।टेक।।

× × ×

त्रिगुणं रहित फल रमि हम राखल, तब हमारौ नाऊँ राम राई हो ।
जग मै देखौं जग न देखै मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो ।।

—(क० ग्र० पदावली, ५०)

ब्रह्म का निर्गुण-सगुण से परे रूप

संतो धोखा कासूं कहिए ।
गुणं मैं निरगुंण निरगुणं मैं गुण है, बाट छाड़ि क्यूं बहिए । टेक ।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणां जाई ।
नाति सरूप बरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई ।।
प्यंड ब्रह्मण्ड कथै सब कोई, बाकै आदि अरु अन्त न होई ।
प्यंड ब्रह्मंड छाडि जे कथिवे, कहै कबीर हरि सोई ।।

—(क० ग्र० पदावली, १६०)

सत्त नाम है सबतें न्यारा, निर्गुन-सर्गुन सब्द पसारा ।
निर्गुन बीज सगुन फल-फूला साखा ज्ञान, नामहं मूला ।।
मूल गहे तें सब सुख पावै डाल पात में मूल गँवावै ।
साँई मिलानी सुक्ख दिलानी निर्गुन सर्गुन भेद मिटानी ।।

—(वियोगी हरि—सन्त-सुधासार, पृष्ठ १००)

वात्सल्य और माधुर्य की भावनाएँ

हरि जननीं मैं बालिक तेरा ।
काहे न औगुण बकसहु मेरा ।।टेक।।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी कै चित रहैं न तेते ।।
कर गहि केस करै जौ धाता, तऊ न हेत उतारै माता ।।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ।।

—(क० ग्र० पदावली, १११)

राग गौड़ी

दुलहनीं गावहु मंगलचार ।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ।।टेक।।
तन रत करि मैं मन रति करिहूँ, पंचतत बराती ।
रामदेव मोरै पाहुंनै आये मैं जोबन मैं माती ।।
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्म वेद उचार ।

रांमदेव संगि भांवरि लैहूँ, धंनि धंन भाग हमार ।।
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनिग्रर सहस अठ्यासी ।
कहैं कबीर हंम व्याहि चले हैं, पुरिस एक अविनासी ।।

—(क० ग्रं० पदावली, १)

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव ।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ।।टेक।।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया ।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ।।
किया स्यंगार मिलन कै तांई ।
काहे न मिलौ राजा राम गुसांई ।।
अब की बेर मिलन जो पांऊँ ।
कहै कबीर भौ-जलि नहीं आऊँ ।। —(क० ग्रं० पदावली, ११७)

ब्रह्म की व्यक्त और अव्यक्त सत्ता से जीव को मिला देने का श्रेय गुरु को है। वह ब्रह्म-परक प्रेम को जागृत कर जीव की निष्कृति में तत्पर रहता है।[1] गुरु-प्राप्ति संसार में अलभ्य सौभाग्य है अन्यथा जीवन का विनाश स्वाभाविक है—

भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हांणि ।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जाणि ।।

—(कबीर ग्रन्थावली—साखी, १९)

कबीर ने ब्रह्म और गुरु को समान माना है—

गुरू गोविन्द तौ एक हैं, दूधा यहू आकार ।
आया मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार ।।

—(क० ग्रं० साखी, २६)

जीव

जीव और ब्रह्म एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। सम्बद्ध होते हुए भी वे असम्बद्ध हो गए हैं। यह सब माया की प्रबलता है। माया के प्रभाव के कारण ही जीव के सतोगुण का ह्रास हो गया और उसके स्थान पर रजोगुण तथा तमोगुण का प्राधान्य हो उठा। इन तत्त्वों के वशीभूत होने के कारण जीव ब्रह्म से दूर जा पड़ता है। यही उसकी लौकिकता है।

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः ।
चिच्छाया लिंगदेहास्था तत्संघो जीव उच्यते ।
माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत् ।

---

१. कबीर ग्रन्थावली—पदावली १५६

विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ।।

(पंचदशी—द्वैत विवेक प्रकरण ११-१२)

उपर्युक्त भारतीय अद्वैतवाद की ही मूल भावना है। जीव को निर्विकार और निष्कलंक बनाकर ब्रह्म में उसका सायुज्य ही भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का मूलाधार है। कबीर ने भी इसी भावना को स्वीकार कर जीव की स्थिति का वर्णन किया है। उन्होंने जीवात्मा को ब्रह्म से अभिन्न मानकर उसकी विवशता का उल्लेख किया है—

तू माया रघुनाथ की खेंलण चढ़ी अहेड़ै।
चतुर चिकारे चुणि-चुणि मारे कोई न छोड्या नेड़ै ।।

—(क० ग्रं० पदावली, १८७)

ब्रह्मांश ही जीव में रहता है और जब माया के प्रभाव का उच्छेदन हो जाता है तब जीव फिर अपने पूर्व रूप को प्राप्त कर लेता है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ कथ्यो गियानी ।।

—(क० ग्रं० पृष्ठ १०५)

पाणी ही तैं हिम भया हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ ।।

—(क० ग्रं० पृष्ठ १३)

उपर्युक्त परिस्थिति में ही जीव का जीव से वैषम्य रहता है और लोक-विचार उसे सदैव घेरे रहते हैं—

जीव विलंब्या जीव सौं अलष न लखिया जाइ।
गोविंद मिलै न झल बुझै रही बुझाइ-बुझाइ ।।

—(क० ग्रं० पृष्ठ ३५)

परवर्ती जीवात्मा के ब्राह्मशक्ति समन्वित होने पर भी उसे सत्पथ पर आरुढ़ करने के लिए अन्य सन्तों के समान कबीर ने भी उसे चेतना दी है—

काहे री नलनीं तूं कुंभिलाँनी।
तेरे ही नालि सरोवर पानी ।। टेक ।।
जल में उतपति जल मैं बास, जल मैं नलनीं तोर निवास ।।
ना तल तपति न ऊपरि आगि तोर हेतु कहु कासनि लागि ।।
कहै कबीर जे उदिक समान ते नहीं मूए हंमारे जान ।।

—(क० ग्रं० पदावली ६४)

इन रहस्यात्मक पंक्तियों में कबीर ने जीव की वास्तविक स्थिति का वर्णन करके ब्रह्म से उसके सम्बन्ध की बात भी कहने की चेष्टा की है। गुरु के संकेत पर जब उसे अपने अभाव का संकेत हो जाता है तब वह उसे दूर के लिए प्रयत्नशील

हो जाता है—

गुर प्रसादि अकलि भई तोकौं नहीं तर था बेगांनां ॥
—(क० ग्रं० पदावली ८)

माया

माया का ब्रह्म से ही जन्म है। उसके प्रभाव की तो अनुभूति है; किन्तु उसके स्वरूप का कथन अनिर्वचनीय है। फलस्वरूप उसे सदसदनिर्वचनीय कहा जाता है। सृष्टि का निर्माण उसी पर आधारित है।[1] माया असत्य है; किन्तु वह विश्व में सर्वत्र अपने मनोमोहक रूप के साथ प्रतिष्ठित है। फलस्वरूप जीवात्मा उसकी छलना में आवद्ध हो जाती है—

माया महा ठगनी हम जानी।
निरगुन फांसि लिए कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।
केसव के कमला होइ बैठी सिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरत होइ बैठी, तीरथहू में पानी।
जोगी के जोगिन होइ बैठी राजा के घर रानी।
काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कौड़ी कानी।
भक्तन के भक्तिन होइ बैठी ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी।
—(सन्त सुधासार पृष्ठ, १०१)

वह बड़ी मधुर लगती है। मानव उसकी प्रवंचना में फँसा हुआ उसका दास बना रहता है।

माया का रस षाणं न पावा।
तब लग जय बिलवा ह्वै धावा ॥ टेक ॥
अनेक जतन करि गाड़ि दुराई काहू सांची काहू खाई ॥
तिल तिल करि यहु माया जोरी चलती बेर तिणाँ ज्यूँ तोरी ॥
कहै कबीर हूँ ताका दास माया माँहै रहै उदास ॥
—(क० ग्रं० पदावली १०१)

माया संसार में सम्मान, आनन्द, जप, तप, विश्व में सर्वत्र व्यापक है; किन्तु जीवात्मा को वह इस प्रकार नियंत्रण में रखती है कि वह जानता हुआ भी कि उसका अहित और अलाभ हो रहा है, उसे छोड़ नहीं पाता।

माया तजूं तजी नहीं जाइ,
फिर फिर माया मोहि लपटाइ ॥ टेक ॥

---

१. पंचदशी—पंचभूत विवेक प्रकरणम्—५६

माया आदर माया मानं, माया नहीं तहाँ ब्रह्म गियान ।
माया रस माया कर जानं, माया कारनि तजै परान ।।
माया जप तप माया जोग, माया बाँधे सब ही लोग ।।
माया जल थलि माया आकास, माया व्यापि रही चहुँ पासि ।।
माया माता माया पिता, अति माया अस्तरी सुता ।
— (क० ग्रं० पदावली ८४)

माया मारि करै व्यवहार कहै कबीर मेरे राम अधार ।।

ब्रह्म से उत्पन्न होने पर भी वह जीव को भगवान् का स्मरण और चिन्तन नहीं करने देती है ।

'हरि बिचि घालै अंतरा माया बड़ी बिसास' । —(क० ग्रं० पृष्ठ ३३)
कबीर माया पापणीं हरि सूं करै हराम ।
मुखि कड़ियाली कुपति की, कहण न देई राम ।।
—(क० ग्रं० पृष्ठ ३२)

माया में लिप्त भावना का विश्व में निरन्तर आवागमन होता रहता है किन्तु माया सदैव अजर-अमर है—

माया मुई न मन मुवा मरि मरि गया सरीर ।
आसा त्रिष्णाँ नां मुई यौं कहि गया कबीर ।।
—(क० ग्रं० पृष्ठ ३३)

रहस्य भावना

कबीर की साधना और प्रतिभा सत्यान्वेषिणी रही हैं । उन्होंने अध्यात्म क्षेत्र के विविध तत्वों के साथ आत्मा और परमात्मा के अनुभूतिपूर्ण निरूपण प्रस्तुत किये हैं । इन दोनों के आध्यात्मक गठबन्धन को जब साधक बुद्धि-तत्व से विवेचन अथवा उल्लेख करता है तब ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है और इसी को जब वह भावना और प्रेम से अप्लावित हो कथन करता है तब रहस्यवाद की उत्पत्ति हो उठती है । भावनाओं को उचित रूप से वर्णन करने के लिए साधक आत्मा और परमात्मा को विविध प्रतीकों से स्पष्ट करता है । कभी कभी वह उक्त अप्रस्तुत को प्रस्तुत उपकरणों के माध्यम से भी कह डालता है । इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के एकाकार की स्थिति की आनन्दपूर्ण अनुभूति ही रहस्यवाद है ।

'गुरु दिखाई बाट' के माध्यम से जब जीवात्मा का परमात्मा से परिचय हो उठता है तब वह जागृत हो उठती है । उस स्थिति में वह उस 'अनन्त के तेज' का अनुमान तो करती है; किन्तु उसका सम्यक् कथन कठिन है—

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान ।
कहिबे की सोभा नहीं, देख्या ही परवान ।।—(क० ग्रं० पृष्ठ १२)

लौकिक विकारों अथवा माया के व्यवधान के कारण ब्रह्म का साक्षात् निरन्तर सम्भव नहीं हो पाता उस स्थिति में विरह-पीड़ा की अनुभूति स्वाभाविक है।

अंषड़ियां झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़या, राम पुकारि पुकारि ॥

—(क० ग्रं० पृष्ठ ६)

कवीर का साधक रूप विरह से उत्पन्न मार्मिक व्यथा को राम तक पहुँचाने के लिए आतुर और आकुल है।

यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवाँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै बरसि बुझावै अग्गि।
यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ।

—(क० ग्रं० पृष्ठ ८)

विरह की परिस्थितियाँ साधक को ब्रह्म के अधिक समीप ले आने के लिये अभिप्रेरित करती रहती हैं। अन्त में जब आत्मा-परमात्मा असम्बद्ध हो उठते हैं तव वही जीवात्मा की अन्यतम सफलता कही जाती है। कबीर ने इस सम्मेलन का 'दूल्हा' और 'दुलहिन' के प्रतीकों से वर्णन किया है। इसमें आत्मा का दुलहिन और राम का दूल्हा प्रतीक है।

दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ॥ टेक ॥
तन रत करि मैं मन रति करिहूँ पंचतत बराती।
रामदेव मोरे पाँहुनैं आये मैं जोवन मैं माती ॥
सरीर सरोवर बेवी करिहूँ ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संगि भाँवरि लैहूं, धंनि धंन भाग हमार ॥
सुर तेतीसूं कौतिग आए, मुनियर सहस अठासी।
कहै कबीर हम व्याहि चले हैं पुरिष एक अविनासी ॥—(क० ग्रं० पदावली १)

दीर्घ विरह के पार्थक्य के उपरान्त यह आनन्द अलौकिक और अपूर्व होता है इसमें वह राम की ही विशिष्ट कृपा को मानता है।

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये।
भाग बड़े घरि बैठें आये ॥ टेक ॥
मंगलचार माँहि मन राखौं, राम रसाँइण रसना चाषौं।
मंदिर माहि भया उजियारा, लै सूती अपनाँ पीव पियारा ॥
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई।
कहै कबीर मैं कछु न कीन्हाँ, सखी सुहाग राम मोहि दीन्हाँ ॥

—(क० ग्रं० पदावली २)

इस सुहाग के आनन्द को चिरस्थायी बनाने के लिये साधक कबीर के ब्रह्म के प्रति किये अनुरोध में विशेष मार्मिकता है—

अब तोहि जाँन न देंहूँ रांक पियारे,
ज्यूँ भावे त्यूँ होह हमारे ॥ टेक ॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये ॥
चरननि लागि करौं बरिआई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ।
इत मन मंदिर रहौ नित चोषै, कहै कबीर परहु मति धोषै ॥

—(क० ग्रं० पदावली ३)

माधुर्य भावना के अन्तर्गत पति-पत्नि के रहस्यवादी आध्यात्मक रूपकों की चर्चा उपर्युक्त पदों में स्पष्ट है । इसी प्रकार माता-पुत्र का रूपक भी कबीर ने प्रस्तुत किया है—

हरि जननी मैं बालिक तेरा,
काहे न अवगुण बकसहु मेरा ॥ —(क० ग्रं० पदावली ११)

उपर्युक्त भावना-परक रहस्यवाद के साथ उन्होंने यौगिक रहस्यवाद का भी वर्णन किया है । इस प्रकार के कथन कबीर की उलटवासियों में प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं ।

कबीर की पद-शैली

कबीर ने अपनी वाणियाँ प्रमुखतः साखी, सबद और रमैनी द्वारा व्यक्त की हैं । साखी में दोहा का प्रयोग है, जिसकी परम्परा अपभ्रंश काल से प्रारम्भ हुई थी । अनन्तर निर्गुणियाँ सम्प्रदाय और वीर गाथा काल में भी इस छन्द को काव्य के लिये मान्यता प्राप्त हुई । रमैनी में चौपाई के अनन्तर दोहा की स्थापना है । अब रहे 'सबद' । सबदों में उनके द्वारा भिन्न-भिन्न राग-रागनियाँ अपनाई गई हैं । इस शैली का ग्रहण सिद्ध और नाथ-साहित्य में प्रभूत मात्रा में हुआ है । जिसको कबीर ने भी अपने काव्य के लिये उचित समझा और राग-रागनियों में पदों का गान किया ।

कबीर ने राग गौड़ी, राग रामकली, राग आसावरी, राग सोरठी, राग केदारौ, राग मारू, राग टोड़ी, राग भैरूं, राग बिलावल, राग ललित, राग वसन्त, राग पाली-गौड़ी, राग कल्याण, राग सारंग, राग मलार, राग धनाश्री, राग सूहो आदि राग-रागनियों को अपने काव्य के लिये चुना था । उन्होंने अपनी भावनाओं को इनके द्वारा जन-वर्ग तक पहुँचाने का प्रयत्न किया था । उनमें मस्ती, निर्भीकता, खरापन और व्यंगोक्ति की चातुरी आदि सभी विशिष्ट गुण थें । इसी से अपने इकतारा पर गाते हुए उन्होंने तथ्य का उल्लेख किया । उनकी वाणी की मार्मिक चोट ने तत्कालीन समाज को तथ्य और सत्य देख लेने की ओर इंगित किया । निस्सन्देह यह बड़ी बात थी । आगे चलकर अन्य सन्तों ने भी उनकी भावनाओं को परम्पराओं के साथ पद-

परम्परा को ग्रहण किया। आज भी उनके पद विशेष अनुराग के साथ लोक-जीवन में गाए जाते हैं जो उन जैसे सच्चे साधक की तथ्य भरी मधुर वाणी का परिचायक है।

२. रैदास

रामानन्द के शिष्यों में रैदास भी एक शिष्य थे। इससे यह कबीर के गुरु-भाई थे। यह ओछी जाति में जन्मे थे। उन्होंने स्वयं अपने सम्बन्ध में कहा है—

जाति भी ओछी करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा।
नीचै से प्रभु ऊँच कियो है कहि रैदास चमारा।।

—(सन्त-सुधासार, पृष्ठ १२७)

जाके कुटुम्ब सब ढोर ढोवंत फिरहि अजहुँ बानारसी आस पासा।
आचार सहित विप्र करहिं डंडउति तिन तनै रैदास दासानुदासा।।

—(सन्त-सुधासार, पृष्ठ १७७)

रैदास के चमार होने पर भी उनका विशेष सम्मान था। ब्राह्मण तक उन्हें प्रणाम करते थे। स्वयं कबीर ने 'सन्तनि में रविदास सन्त हैं' कहा है और मीराबाई ने भी उनके गुरुत्व को स्वीकार किया है 'गुरु मिलया रैदास जी दीन्ही ज्ञान की गुटकी'। चित्तौड़ की महारानी झालारानी ने भी उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था।

रैदास अद्वैत वेदान्ती थे। निर्गुण और निराकार ब्रह्म का उल्लेख उनकी वाणियों में है; किन्तु सन्त कवियों के समान उनकी वाणियों में कहीं भी दुर्बोधता नहीं है। स्वानुभूत वाणियाँ उनके हृदय से निकली होने के कारण सरल और प्रासादिक हैं। इससे वे श्रोता को सीधे ही मुग्ध कर लेती हैं। नाभादास ने भक्तमाल में 'सन्देह-ग्रन्थि-खण्डन-निपुन वानि विमल रैदास की' कहा है। उनमें कबीर के समान खण्डन-मण्डन की विशेषता न थी। वह सीधे-सादे सन्त भक्त थे और सीधी वाणी में उन्होंने अपनी बात कहने की चेष्टा की है।

पद-शैली

रैदास की वाणियाँ अभी तक अप्रकाशित हैं। उनके पद 'ग्रन्थ साहिब' में संगृहीत हैं। उनका एक अपूर्ण संग्रह 'रैदास की वाणी' के नाम से बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित है। उनकी रचनाएँ साखियों और पदावलियों में उपलब्ध हैं—सन्त मत की भावनाएँ उन्होंने विविध राग-रागनियों में पिरोई हैं।

संसार की निस्सारता उन्हें भी खलती थी। भगवान के स्मरण के बिना विश्व की कहानी भी व्यर्थ है। यह उनका विश्वास था—

राग सोरठ

थोथो जनि पछोरौ रे कोई।

जोई रे पछोरौ जा में निज कन होई ।।
थोथी काया थोथी माया । थोथा हरि बिन जनम गँवाया ।
थौथा पण्डित थोथी बानी । थोथी हरि बिन सबै कहानी ।।
थोथा मन्दिर भोग विलासा । थोथी आन देव की आसा ।।
साँचा सुमिरन नाम-विसासा । मन बच कर्म कहै रैदासा ।।
—(सन्त-सुधासार, पृष्ठ १६१)

माया ने जीवन में व्यवधान प्रस्तुत कर दिया है। इससे इसकी गति ही विपरीत हो उठी है—

जैतिश्री

नाथ, कछुवै न जानउ । मनु माया कै हाथि बिकानउ ।।
तुम कहियत हौ जगतगुर स्मामी । हम कहियत कलिजुग के कामी ।।
इन पंचन मेरो मन जु बिगार्‌यो । पलु पलु हरि जीते अंतरु पार्‌यो ।।
जित देखौ तित दुख की रासी । अजौं न पत्याइ निगम भये साखी ।।
इन दूतन खलु बध करि मार्‌यो । बड़ो निलाजु अजहु नहिं हार्‌यो ।।
कहि रविदास कहा कैसे कीजै । बिनु रघुनाथ सरनि काकी लीजै ।।
—(सन्त-सुधासार, रैदास १०)

सन्त कवि विशेष भक्ति-भावना से भरकर राम में ही एक निष्ठ हो जाना चाहता है। अनन्तर प्रत्येक क्षण उनसे आश्वस्त भी रहना चाहता है।[1] मति के निरन्तर चंचल रहने के कारण वह भक्ति-पथ पर चलने में विवश है। अन्ततः ब्रह्म के साकार रूप को अपने समक्ष प्रस्तुत रहने की कामना करता है—

राग रामकली

नरहरि, चंचल है मति मेरी । कैसे भगति करूं मैं तेरी ।।
तूं मोहिं देखै हौं तोहि देखूं, प्रीति परस्पर होई ।
तू मोहिं देखै तोहि न देखूं, यह मति सब बुधि खोई ।।
सब घट अन्तर रमसि निरन्तर, मैं देखन नहिं जाना ।
गुन सब तोर मोर सब औगुन, कृत उपकार न माना ।।
मैं तैं तोरि मोरि असमझि सौं, कैसे करि निस्तारा ।।
कहि रैदास कृस्न करुनामय जै जै जगत अधारा ।।
—(सन्त-सुधा-सार, रैदास १५)

अद्वैतवादियों के समान उन्होंने भी निर्गुण-निराकार ब्रह्म की व्यापक सत्ता का

१. सन्त सुधासार, रैदास २०

उल्लेख किया है।

राग मारू

सुख-सागर सुर तरु चिन्तामनि कामधेनु बसि जाके, रे।
चारि पदारथ, असर महासिधि, नवनिधि करतल ताके, रे।
हरि हरि हरि न जपसि रसना, अवर सम छाड़ि बचन रचना।।
नाना ख्यान पुरान बेद विधि चौतीस अच्छर माहीं।
व्यास विचारि कह्यो परमारथ रांम-नांम सरि नाहीं।।
सहज समाधि उपाधि-रहित होइ बड़े भागि लिव लागी।
कहि रविदास उदास दासमति जनम-मरन-भय भागी।।
—(सं० सु० सार, रैदास ५)

उपर्युक्त कतिपय उद्धृत स्थलों से यह सिद्ध है कि रैदास ने सन्त मत को विविध राग-रागनियों से जीवन्त बनाया था। उपर्युक्त राग-रागनियों के अतिरिक्त उन्होंने अपनी वाणियों और 'सबदों' में भैरव, मलार, बिलावल, राग सूहो, सूही धनाश्री, गौरी, गौरी पूरबी, राग जंगली गौड़ी, राग क़ानड़ा, राग गौड़, राग केदारा, आरती आदि रागों का भी उपयोग किया था।

३. शेख फरीद (१५५२ ई०)

शेख फरीद पाक पहन के आदि फरीद हज़रत बाबा फिरीदुद्दीन के वंशज थे। इन्हें फरीद मानी या फरीद द्वितीय भी कहते हैं। इनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि गुरु नानक ने इनसे दो बार भेंट की थी। सिक्खों के 'ग्रन्थ साहिब' में शेख फरीद के २ पदों और १३० श्लोकों (दोहों) का संग्रह है।

शेख फरीद की वाणियाँ प्रभावोत्पादक मधुर और मर्मस्पर्शी हैं। उनके काव्य में वैराग्य, ईश्वरीय प्रेम और आत्म-परिष्कृति की भावनाएं भरी हुई हैं। आध्यात्मिक प्रेरणा के लिए वह साईं को साधुवाद देते हैं।

किझु न बुझै न सुझै दुनीआ गुझी भाहि।
साईं मेरे चंगा कीता नाही त हंभी दझां आहि।।
—(सन्त-सुधासार, शेख फरीद, श्लोक २)

पद-शैली

आध्यात्मिक विरह की शेख फरीद को भी अनुभूति हुई थी। इसके लिए वह स्वयं को ही दोषी समझते हैं। ब्रह्म से विमुक्त होकर आत्मा विश्व में अकेली पड़ गई, इसका उन्हें दुःख है।

राग सूही

तपि तपि लुहि लुहि हाथ मरोरउँ। बावलि होइ सो सहु लोरउँ ॥
तैं सहि मन महि कीआ रोसु। मुझु अवगुन सह नाही दोसु ।
तैं साहिब की मैं सार न जानी। जोवनु खोइ पाछे पछतानी ॥
काली कोइल तू कित गुन काली। अपने प्रीतम के हउ विरह जाली ॥
पिरहि बिहून कतहि सुख पाए। जा होइ कृपालु ता प्रभु मिलाए ॥
विधण खूही मुंध अकेली। ना कोइ साथी ना कोइ बेली ॥
वाट हमारी खरी उडीणी। खंनिअहु तिखी बहुत पिईणी ॥
उसु ऊपरि है मारगु मेरा। सेख फरीदा पंथु सम्हारि सवेरा ॥

—(सन्त-सुधासार, ४०६)

शेख फरीद मानव-मात्र को ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ लेने का संकेत करते हैं और इसी में वह जीवन की निष्कृति समझते हैं।

रागु आसा

बोलै सेख फरीदु पिआरे अलह लगे।
इहु तनु होसी खाक निमाणी गोर धरे ॥
आजु मिलावा सेख फरीद टाकिम।
कूंजड़ीआ मनहु मचिंदड़ीआ ॥
जे जाणा मरि जाइये घुमि न आईए।
झूठी दुनिया लगि न आपु वजाईए ॥

× × ×

चले चलणहार विचारा लेइ मनो।
गंढ़ेदिआ छिअ माह तुड़ंदिआ हिकु खिनो ॥
जिमि पुछै असमान फरीदा खेवट किंनि गए।
जालण गोरा नालि उलामे जीअ सहे ॥

—(सन्त-सुधासार, पृष्ठ ४०७)

अधिक पदों का निर्माण न करने पर भी हिन्दी-पंजाबी मिश्रित भाषा में उन्होंने सन्त सम्प्रदाय में पद-परम्परा को जीवन दिया है।

४. **स्वामी दादूदयाल** (सं० १६०१-१६६०)—आप सन्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'दादू पन्थ' के प्रवर्तक हैं। कबीर के तात्विक सिद्धान्तों से आपको विशेष प्रेरणा मिली थी। आपने कबीर को अपना गुरु माना है।[1]

---

१. जो था कंत कबीर का सोई बर वरिहूँ।
मनसा वाचा कर्मना मैं और न करिहूँ ॥

"सगुण पक्ष में भक्त कवियों में जैसे तुलसी और सूर, वैसे ही निर्गुण पक्ष के कवियों में कबीर और दादू। इनकी प्रेमतत्व की व्यंजना तो बहुत ही ऊँची और गहरी है। कितने ही शब्दों की साखियों में प्रेम और विरह का निरूपण अत्यन्त निर्मल और अनुपम हुआ है। इतने ऊँचे घाट की बानी अन्यत्र बहुत ही कम देखने में आती है। दादू के शब्दों में आप अन्तर को वेधने वाली सूक्ष्म-से-सूक्ष्म दृष्टि और अमृत-रस से सींचा हुआ स्वानुभव पायेंगे।"[२]

दादू ने अपने जीवन में यात्राएँ भी की थीं। इस अवसर पर नाथपन्थी योगियों से भी उनकी भेंट हुई थी, जिससे उनकी रचनाओं पर उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। सम्वत् १६३० से वह साँभर में आकर रहने लगे, वहाँ रहकर ही उन्होंने अपने नवीन पन्थ का प्रवर्तन किया।[३]

कबीर की परम्परा में रहते हुए भी इन्होंने उनके समान खण्डन-मण्डन को अपनी वाणी का विषय नहीं बनाया। उन्होंने अपने काव्य में आध्यात्मिक चिन्तना का सीधा स्वरूप ही व्यक्त किया है।

पद-शैली

दादू ने सन्त भक्तों के समान ही साखियाँ और शबद लिखे हैं। शबदों में विभिन्न राग-रागनियों का उन्होंने उपयोग किया है। राग गौड़ी, राग माली गौड़, राग कानड़ौ, राग केदारो, राग मारू, राग रामकली, राग असावरी, राग सारंग राग टोड़ी, राग नटनारायण, राग गुंड, राग विलावल, राग भैरू, राग ललित, राग, जैतिश्री, राग धनाश्री आदि रागों के प्रयोग उनकी पदावली में उपलब्ध हैं।

दादू को 'राम' पर पूर्ण विश्वास था। जीवन का सार-तत्त्व यदि कोई कुछ है तो राम का नाम ही है। उनके समक्ष कितने ही साधकों के प्रमाण प्रस्तुत हैं, जो केवल राम-स्मरण से मुक्त हो गए हैं। इसी से उन्होंने राम-महत्ता को अपनी वाणी द्वारा जन-वर्ग तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है—

राग गौड़ी

रांम नाम जिनि छांड़ै कोई, रांम कहत जन निर्मल होई ॥
रांम कहत सुख संपति सार, रांम नांम तिरि लंघै पार ॥

सांचा सबद कबीर का मीठा लागै मोहि।
दादू सुनतां परम सुख केता आनंद होहि॥
—(सन्त-सुधासार, पृष्ठ ४२७)

२. सं० वियोगी हरि—सन्त सुधासार, पृष्ठ ४२७
३. परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृष्ठ ४१५-४१६

रांम कहत सुधि बुधि मति पाई, रांम नांम जिनि छांड़हु भाई ।।
रांम कहत जन निर्मल होइ, रांम नांम कहि कुसमल धोइ ।।
रांम कहत को को नहिं तारे, यहु तत दादू प्राण हमारे ।।
—(संत सुधासार, पृष्ठ ४२८)

ब्रह्म के सर्व-व्यापक होने से क्या यदि उनके दर्शन और साक्षात्कार का लाभ न हो। सन्त-कवि इस विचारणा को लेकर ब्रह्म-विरह से आतुर और आकुल हो उठता है।

राग गौड़ी

अजहुं न निकसैं प्राण कठोर।
दर्सन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर ।।
चारि पहर चार्‌यौं जुग बीते, रैन गंवाई भोर।
अवधि गई अजहूँ नहिं आए, कतहूँ रहे चित चोर ।।
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत तोर।
दादू ऐसैं आतुर बिरहणि, जैसे चन्द चकोर ।।
—(संत सुधासार, ४२९)

दादू ने ब्रह्म को विविध नामों की संज्ञा दी है।[1] जो विश्व में व्यापक तो है ही साथ में जीवन को कल्याणकारी भी है। ऐसे ब्रह्म अथवा राम पर वह आश्वस्त और विश्वस्त होकर बैठ गये हैं। अन्यत्र से अपना ध्यान हटाकर उन्हीं पर केन्द्रित कर दिया है। उनकी निम्न वाणी में एक सन्त का सच्चा मनोराज्य व्यक्त होता है—

राग केदारो

अरे मेरा अमर उपावणहार रे खालिक, आशिक तेरा ।।
तुम्ह सौं राता तुम्ह सौं माता तुम्ह सौं लागा रंग, रे खालिक ।।
तुम्ह सौं खेला तुम्ह सौं मेला, तुम्ह सौं प्रेम सनेह, रे खालिक ।।
तुम्ह सौं लेणा, तुम्ह सौं देणा, तुम्ह ही सौं रत होइ, रे खालिक ।।
खालिक मेरा, आशिक तेरा, दादू अनत न जाइ, रे खालिक ।।
—(सन्त सुधासार, पृष्ठ ४३४)

उपर्युक्त कतिपय स्थलों से दादू के पदों की मधुरता, प्रभाव और सन्देश को सरलता से समझा जा सकता है। उनकी वाणी ने कबीर की भावना को समाज के हृदय में पहुँचाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की। इसका बहुत अधिक श्रेय मिश्रित भाषा की मधुरिमा से अभिसंचित उनकी पदावली को है।

५. धनी धरमदास (सं० १४९०-१६००)

धरमदास कबीर के प्रधान शिष्य थे। उनके निधनोपरान्त उनकी गद्दी के वहीं

---

१. संत सुधासार, पृष्ठ ४३८

अधिकारी हुए थे। कबीर के शिष्य होने से पूर्व वह भगवान के आस्तिक भक्त थे। इससे भजन-पूजन और दान-पुण्य में इनकी पूर्ण आस्था थी। तीर्थाटन में कबीर से आपकी भेंट मथुरा और अनन्तर काशी में हुई। आपने उनके तात्विक सिद्धान्तों को ग्रहण कर लिया और शिष्य बन गए। सन्त सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो जाने पर आपने अपनी सारी सम्पदा लुटा दी।

उन्होंने अपनी पदावलियों में कबीर का नाम स्थल-स्थल पर प्रयुक्त किया है, जिससे उनके प्रति उनकी आस्था स्पष्ट व्यक्त हो जाती है—

धरमदास गुरु समरथ हो, जाको अदल अपार।
साहेब कबीर सतगुरु मिले, आवागमन निवार॥

× × ×

धरमदास एक बनियां हो, करै झूठी बाजार।
साहेब कबीर-बनजारा हो, करै सत-वैपार॥

× × ×

धरमदास की अरज गुसाँई, साहेब कबीर रहौं तुम छाहीं॥

कबीर की भावना-शैली पर आपने भी अपनी कविता की थी; किन्तु आपने उनकी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति को स्वीकार न कर आध्यात्मिक प्रेम-तत्त्वों पर ही लिखा है। उनकी वाणियाँ सरल और प्रासादिक हैं।

पद-शैली—सन्त-सम्प्रदाय के सतगुरु का स्थान बड़ा ही उच्च है। लोक-विकारों का उन्मूलन कर वह अपने शिष्य को अध्यात्म-क्षेत्र के ऐसे राज-पथ पर लाकर खड़ा कर देता है, जहाँ उसे अपने प्यारे की झाँकी सरलता से देखने को मिल जाती है। वह अपनी साधनानुभूतियों से अपने भक्त की अन्तर्ज्योति खोल देता है।

गुरु मिले अगम के बासी॥
उनके चरन कमल चित दीजे, सतगुरु मिले अविनासी॥
उनकी सीत प्रसादी बीजे, छूटि जाय चौरासी॥
अमृत बुंद झरै घट भीतर, साध-संतजन लासी॥
धरमदास बिनवै कर जोरी, सार शब्द मन बासी॥

—(सन्त सुधासार खण्ड २, पृष्ठ ४)

गुरु से अभिप्रेरित होकर जब हरि-नाम का रस-घट मिल गया तब लौकिक व्यापार में माथा-पच्ची क्यों की जाए? धरमदास ने इस रस का आनन्द लेकर एक विशेष स्वच्छन्दता का अनुभव किया—

हम सत्तनाम के बैपारी।
कोइ कोइ लादै काँसा पीतल कोइ कोइ लौंग सुपारी।
हम तौ लाद्यौ नाम धनी को पूरन खेप हमारी॥
पूंजी न टूटै नफा चौगुना, बनिज किया हम भारी।

हाट जगाती रोक न सकिहैं, निर्भय गैल हमारी ।।
मोती बुंद घटहि में उपजै, सुकिरत भरत कोठारी ।
नाम पदारथ लाद चला है, धरमदास बैपारी ।।

ब्रह्म के सामीप्य का लाभ प्राप्त हो जाने पर उसकी अलौकिक आभा ही सर्वत्र प्रदर्शित होता है। चर्म-चक्षु लौकिक पदार्थों के स्थान पर उसी को देखने लगते हैं—

साहेब, तेरी देखौं सेजरिया हो ।।
लाल महल के लाल कँगूरा, लालनि लागि किवरिया हो ।।
लाल पलंग के लाल बिछौना, लालिनि लागि झलरिया हो ।।
लाल साहेब की लालिनि मूरत, लालि लालि अनुहरिया हो ।।
धरमदास बिनवै कर जोरी, गुरु के चरन बलिहरिया हो ।।

—(सन्त सुधासार खण्ड २, पृष्ठ ८)

साधना में प्रवृत्त हो जाने पर जब प्रिय की झाँकी मिल उठती है तब आनन्द की मधुर वर्षा होने लगती है। अज्ञानान्धकार तिरोहित हो जाता है और उसके स्थान पर विशेष ज्योति उत्कीर्ण हो जाती है। धरमदास की अनुभूत वाणी विचारणीय है—

झरि लागै महलिया, गगन घहराय ।।टेक।।
खन गरजै खन बिजुली चमकै, लहर उठै सोभा बरनि न जाय ।।
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनन्द होइ साध नहाय ।।
खुली किवरिया मिटी अंधियरिया, धन सतगुरु जिन दिया है लखाय ।।
धरमदास बिनवै कर जोरी, सतगुरु चरन मैं रहत समाय ।।

—(सन्त सुधासार खण्ड २, पृष्ठ १२)

उपर्युक्त के समान उनकी पदावलियों में प्रेम, विरह, गुरु, चेतावनी, मंगल आदि ब्रह्म परक विषयों पर भी मार्मिक भावनाएँ उपलब्ध हैं। धरमदास के काव्य में पदावली की प्रमुखता है। अन्य सन्त कवियों के समान उन्होंने अपनी पदावलियों में राग-रागनियों का नाम अवश्य नहीं दिया है; किन्तु वे अपनी गेयता प्रासादिकता और मधुरता के कारण समाज में अपना स्थान अवश्य अक्षुण्ण किए हैं।

सिख सम्प्रदाय

सिख-सम्प्रदाय कबीर द्वारा प्रतिपादित ज्ञानाश्रयी शाखा का ही एक अङ्ग है। मुसलमानों के आतङ्कों का देश-व्यापी प्रभाव पड़ रहा था। ये पंजाब में सबसे प्रथम प्रतिफलित हुए क्योंकि उनके आने-जाने का मार्ग उसी प्रदेश से था। आस्तिक हिन्दू समाज अपनी आस्था को स्थायी न देख विचलित हो उठा। बहुदेववाद, मूर्ति पूजा तथा धर्म के अन्य साधन उन स्थितियों में स्थिर रहने कठिन थे। अन्ततः कबीर का सन्त मत, जो समन्वयवादी भित्ति पर आश्रित था, इस क्षुब्ध वातावरण में लोगों को

प्रिय लगा। गुरु नानकदेव ने सन्तमत की भावनाओं पर 'सिख सम्प्रदाय' खड़ा कर दिया। ईश्वर में एकनिष्ठ होना और आत्मबल संचय करना इस सम्प्रदाय के प्रमुख सिद्धान्त रहे हैं।

गुरु नानकदेव ने इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। इससे प्रथम गुरु की प्रतिष्ठा का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। अन्तिम दसवें गुरु गोविन्दसिंह थे। उनके अनन्तर सिख सम्प्रदाय में गुरु की परम्परा समाप्त हो गई और 'ग्रन्थ साहिब' के सिद्धान्तों की मान्यता की ही परिपाटी चल पड़ी।

ग्रन्थ साहिब

'आदि ग्रन्थ' या 'गुरु ग्रन्थ साहिब' सिख-सम्प्रदाय का पवित्र ग्रन्थ है। इसमें नानकदेव, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुन, तेगबहादुर आदि गुरुओं की पवित्र वाणियाँ संग्रहीत हैं। छठे, सातवें, आठवें गुरुओं ने जिनके नाम क्रमशः हरगोविन्द, हरराय, हरकृष्णराय थे। उन्होंने किसी प्रकार की रचनाएँ ही नहीं की थीं। सिखों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने जाप जी, अकाल उस्तत, वचित्तर नाटक, देवी माहात्म्य, ज्ञान परबोध, त्रिया चरित्तर और जफरनामा आदि रचनाएँ की थीं; किन्तु उनकी वाणियाँ 'ग्रन्थ साहिब' में संकलित न की जाकर अलग से पुस्तकाकार में संग्रहीत कर ली गई हैं।

इस पवित्र ग्रन्थ का संग्रह पाँचवें गुरु अर्जुनदेव के इंगित से गुरुदास ने गुरुमुखी लिपि में किया था। सम्पूर्ण ग्रन्थ महला १ से महला ६ तक विभाजित है। एक महला में एक गुरु की रचनाएँ संग्रहीत हैं। इन गुरुओं के अतिरिक्त कबीर, नामदेव, रविदास, त्रिलोचन, शेखफरीद आदि की रचनाएँ इसमें उपलब्ध हैं।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' में निम्नलिखित रागों में सभी गुरुओं तथा सिखेतर सन्तों की वाणियाँ संग्रहीत हैं—

सिरी, गउड़ी, आसा, गूजरी, देव, गंधारी, विहागड़ा, बड़हंस, सोरठि, धनासरी, टोडी, वैराड़ी, तिलंग, सूही, बिलावलु, गौंड़, रामकली, नट, नाराइन, गउड़ा, मारू, तुखारी, केदारा, भैरव, बसंत, सारंग, मलार, कानड़ा, कलिआन, प्रभाती, जैजावंती आदि।[1]

उपर्युक्त सभी राग सभी गुरुओं द्वारा पंजाबी और हिन्दी भाषा में लिखे गये हैं। गुरु नानक, अंगद और अमरदास की रचनाएँ पंजाबी में रामदास की रचनाएँ कुछ पंजाबी और हिन्दी में अर्जुन और तेगबहादुर की सम्पूर्ण रचनाएँ हिन्दी में की गई हैं।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' में गुरुओं-रचित हिन्दी की कविताओं के होने से तो हिन्दी

---

१. संत सुधासार—वियोगीहरि, पृष्ठ १९९

साहित्य में उसका मूल्य है ही; किन्तु उसने कबीर, नामदेव आदि की कविताओं को भी सुरक्षित रखा है। यह कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस भावना से प्रेरित होकर ही गोस्वामी तुलसीदास से पूर्ववर्ती गुरुओं की वाणी में पद-परम्परा को देखना है कि उन्होंने कहाँ तक इस विशिष्ट शैली का प्रयोग किया है।

सिख-धर्म के प्रथम चार गुरुओं के काव्य को ही मैंने अपने अध्ययन का विषय बनाया है। पाँचवें गुरु अर्जुनदेव का जन्म-काल १६२० वि० सं० है। गोस्वामी तुलसीदास की कृष्ण गीतावली और राम गीतावली का रचनाकाल १६२८ वि० तथा विनयपत्रिका का १६३९ वि० है। १६२८ वि० में गुरु अर्जुनदेव केवल आठ वर्ष के बालक ही थे, इससे तुलसी के पद-साहित्य के समक्ष उनके काव्य का प्रश्न ही नहीं उठता है। इससे उनके काव्य को विवेचना का विषय नहीं बनाया गया है।

१. गुरु नानक (वैशाख शुक्ल ३, १५२६ वि०—आश्विन शुक्ल १०, १५९५ वि०)—लाहौर के समीप तलवंडी (नानकाना साहब) ग्राम में जन्म हुआ था। उनके पिता कालूचन्द ने उनके अध्ययन की सुव्यवस्था की थी। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा से पंजाबी, हिन्दी, संस्कृत और फारसी का अध्ययन किया था; किन्तु बाल्य-काल से ही आत्म-चिन्तन के कारण वह एकान्त सेवी बन चुके थे। पिता ने कितने ही व्यवसायों में आपको डाला; किन्तु आप उनमें असफल सिद्ध हुए। अन्त में अपने अभिन्न साथी मर्दाना को लेकर वह यात्रा के लिए निकल पड़े। कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, काशी, कामरूप, गया, दक्षिण भारत तथा पश्चिम में मक्का मदीना की आपने यात्राएँ की थीं।

इन यात्राओं में सर्वत्र ही ईश्वर-भक्ति का आपने प्रचार किया और केवल सत्य का अनुकरण करने के लिए कहा। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य लहिणा को अपनी गद्दी का उत्तराधिकारी बनाया।

पद-शैली—गुरु नाननकदेव ने अपने जीवन में कितने ही पदों की रचना की थी, अब वे 'गुरु ग्रंथ साहिब' में विभिन्न रागों के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। उनके वे पद और श्लोक आदि मर्दाना के दबाव के स्वरों से ध्वनित भी हुए थे।[१] उनकी रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ और सिख-धर्म में सर्वमान्य उनका 'जपुजी' है, इसमें ३८ छन्द हैं और अन्त में एक श्लोक है, जिसमें उक्त आध्यात्मिक रचना का सार समाविष्ट है। द्वितीय महत्वपूर्ण रचना 'असा दी वार' है। यह ईश-स्तुति है, इसमें २४ पौड़ियाँ है। 'रहिरास' तथा 'साहिलों' के अन्तर्गत अन्य गुरुओं के साथ इनके पद का संग्रहीत है; जो क्रमशः सूर्यास्त और सोने के समय पढ़े जाते हैं। उनके पदों में ब्रह्म, माया, नाम, गुरु तथा भक्ति विषयक सामग्री उपलब्ध है।[२]

---

१. सन्त सुधासार, पृष्ठ २०५

२. उत्तर भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ २९७

अद्वैतवादी सिद्धान्त के समान ब्रह्म ही केवल सत्य है और विश्व की विविध परिस्थितियों में वह सत्य रहता है। वह अनादि और अनन्त है—

१ॐकार सति नामु करता पुरखु निरभउ।
निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरु प्रसादि।
आदि सचु जुगादि सचु है भी सचु नानक होसी भी सचु ।।

—(जपुजी, प्रथम तीन पंक्तियाँ)

जपुजी के मध्य में परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता, निरंजन स्वरूप, परमात्मा के सम्बन्ध में गुरु की महत्ता, तीर्थाटन, तप आदि की निस्सारता, धर्म, ज्ञान, कर्म आदि विषयों पर सामासिक शैली में नानकदेव ने लिखा है। उसका अन्तिम सलोक देखिए—

पवणु गुरु पाणी पिता माता धरति महतु ।।
दिवसु राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु ।।
चंगि आईआ बुरिआईआ वाचै धरमु हदूरि ।।
करमी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि ।।
जिनी नामु धिआइआ गए मसक्कति घालि ।।
नानक ते मुख उज्जले केतो छुट्टी नालि ।।

लौकिक सम्बन्धों के निर्विकारी प्रकृति के उपमान मानव-जीवन के निष्कृति के कितने बड़े साधन और अभिप्रेरक हैं, ये उसी सुधी को अनुभूति-गम्य हैं जो जीवन को अलौकिक पथ पर ले चलने के लिए जरा भी चिन्तित और व्यग्र है। राम नाम के अभ्यास से भक्त स्वयं का ही कल्याण नहीं करते; परन्तु उसके साथ अन्य भी सत्पथ पर लगते हैं।

'जपुजी' सिख-धर्मावलम्बियों की वह गीता है जिसका पाठ और गान जीवन के लिये श्रेयस्कर है।

परमात्मा के बिना जीवन में वास्तविक सुख नहीं। लौकिक विकार सभी प्रकार का अहित करने के लिए उस स्थिति में ही अवसर पा जाते हैं। उसके संयोग से ही दुःख सुख में और पीड़ा आह्लाद में परिवर्तित हो जाते हैं। निस्सन्देह परमात्म-मिलन जीवन का सबमे बड़ा संयोग है। नानक की भक्ति-भावना और विरह की अनुभूति विचारणीय है—

रागु सारंग

हरि बिनु किउ रहिए दुखु ब्यापै।
जिहवा सादु न, फीकी रस बिनु, बिनु प्रभु काल सतायै।
जब लगु दरसु न परसै प्रीतम, तब लगु भूखि पिआसी।
दरसनु देखत ही मनु मानिआ, जल रसि कमल बिगासी ।।
अनवि घनहरु गरजै बरसै, कोकिल मोर बैरागै।

तरवर बिरख बिहंग भुअ्रंगम घरि पिरु घन सोहागै ।।
कुचिल कुरूप कुनारि कुलखनी, पिर कउ सहजु न जानिआ ।
हररिस रंगि रसन नहीं तृपती, दुरमति दूख समानिआ ।।
आइ न जावै ना दुखु पावै, ना दुख दरदु सरीरे ।
नानक प्रभु ते सहज सुहेली, प्रभ देखत ही मनु धीरै।।

—(सन्त-सुधासार, पृष्ठ २४३)

सम्पूर्ण विश्व माया के वशीभूत हो चक्कर काट रहा है। नानक मन को सत्य रूप परमात्मा का भक्त होने के लिए संकेत करते हैं और उसी में जीवन की कुशलता आँकते हैं—

रागु सूही

अंतरि वसै न बाहरि जाइ। अंमृत छोड़ि काहे विखु खाइ।
ऐसा गिआन् जपहु मन मेरे। होवहु चाकर साचे केरे।।
गिआनु धिआनु समु कोई रवै। बाँधनि बाँधिआ समु जगु भवै।।
सेवा करे सु चाकर होइ। जलि थलि महीअलि रवि रहिया सोइ।।
हम नहीं चंगे बुरा नहीं कोइ। प्रणवतु नानकु तारे सोइ।।

—(सन्त सुधासार, पृष्ठ २४५)

गुरु नानक की पदावलियों में सात्विक धर्म की सीधी-सादी व्याख्या मिलती है। उन्होंने 'जपुजी' के अतिरिक्त अपनी अन्य वाणियों में आध्यात्मिक अंकों पर प्रकाश डालकर उनका ग्रहण आवश्यक बतलाया है, जिनसे केवल सिख ही नहीं हिन्दू और मुसलमान दोनों ही प्रभावित हुए हैं।

२. गुरु अंगद—(१५६१ वि०—१६०६ वि०)—नानक के यह शिष्य और भक्त लहिणा ही गुरु अंगद के नाम से प्रख्यात हुए। उन्होंने ही गुरुमुखी लिपि का प्रचलन किया और उसमें ही गुरु नानकदेव के पदों, पौड़ियों और सलोकों का संग्रह कराया था।

पद-शैली—गुरु अंगद की अधिक रचनाएँ नहीं हैं। जो हैं भी वे 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' के महला २ में संग्रहीत है। ये भिन्न-भिन्न रागों में लिखी गई हैं। इनमें माझ, सोरठ, सूही, रामकली और मलार की वारें प्रमुख हैं। सारंग नाम की रचना को उन्होंने गुरुमुखी भाषा के निर्मित हो जाने पर आनन्दपूर्वक गाया था।

आज्ञानान्धकार को मिटाने में जितना गुरु समर्थ है उतने न सौ चन्द्रमा और न हजार सूर्य। गुरु की महत्ता असन्दिग्ध रूप से अकथनीय है।

आसा की वार

जे सउ चन्दा उगवहि, सूरज चड़हि हजार।।

एते चानण होदिग्राँ गुरु बिन घोर ग्रंधार ॥

—(सन्त-सुधासार, पृष्ठ २५९)

मानव चिन्ता न करे। जब ईश्वर ने जन्म दिया है तब वह पोषण भी करेगा। वस्तुतः ग्रात्मसमर्पण की यह सच्ची कसौटी है ग्रौर भक्त के लिये ग्रपने प्रिय में ग्राश्वस्त हो जाना ग्रावश्यक ही नहीं ग्रनिवार्य भी है।

रामकली की वार

नानक चिंता मति करहु चिंता तिसही हेइ ॥
जल महि जंत उपाइग्रनु तिना भी रोजी देइ ॥
ग्रोथै हटु न चलई ना को किरस करेइ ॥
सउदा मूलि न होवई ना को लए न देइ ॥
जीग्रा का ग्राधारु जीग्र खाण एहु करेइ ॥
विचि उपाए साइरा तिना भि सार करेइ ॥
नानक चिंता मत करहु चिंता तिसही हैइ ॥

—(सन्त सुधासार, पृष्ठ २६८)

मानव में ईश्वर का विरह ग्रावश्यक है ग्रन्यथा उसका शरीर ग्रौर जीव व्यर्थ का भार है—

सिरी राग की वार

जिसु पिग्रारे सिउ नेहु तिसु ग्रागै मरि चल्लिए।
ध्रिगु जीवण संसार ताके पाछे जीवणा ॥
जो सिरु साई न निवै सो सिरु दीजै डारि ॥
नानक जिसु पिंजर महि विरह नहीं, सो पिंजर लै जारि।

—(सन्त सुधासार, पृष्ठ २७७)

गुरु ग्रंगद की प्रेम, विरह ग्रौर वैराग्य की ग्रनुभूत भावनाएँ विविध रागों की ध्वनियों से बड़ी ही हृदयस्पर्शी हैं। उनमें प्रयुक्त प्रासादिक भाषा ने तो उनके पदों को ग्रौर भी मधुर ग्रौर ग्राह्य बना दिया है।

३. गुरु ग्रमरदास (१५३६ वि०—१६३१ वि०)—गुरु ग्रंगद के ग्रनन्तर सिख-धर्म की गुरु-परम्परा ग्रग्रसर करने का श्रेय गुरु ग्रमरदास को है। वह एक निष्ठ वैष्णव थे। गुरु ग्रंगद की पुत्री बीबी ग्रमरो से नानक के पद का गायन सुनकर वह मुग्ध होगए ग्रौर ग्रनन्तर गुरु ग्रंगद का उन्होंने शिष्यत्व ग्रहण किया। यह प्रारम्भ से ही सदाचारी, सहनशील ग्रौर कर्मनिष्ठ थे। उनका स्वभाव भी बड़ा सरल मधुर था।

पद-परम्परा

गुरु ग्रमरदास के भक्ति-रस के पद सिख धर्म में बड़े ही प्रिय हैं। उन्होंने

विभिन्न रागों की वादों में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। उनकी 'आनन्दु' नाम्नी रचना बड़ी ही विख्यात है और अब भी आनन्द-समारोहों में उसका गान किया जाता है।

वह सतगुरु के प्राप्त हो जाने से सात्विक आनन्द से पूर्ण हैं। उत्तम राग और स्वर्ण की अप्सराएँ उस गुरु के गुण-गान करने के लिए प्रस्तुत हो गई हैं।

रागु रामकली

अनन्दु भइया मेरी माए सतिगुरु मैं पाईआ ।।
सतिगुरु त पाईआ सहज सेती मनि वजीआ वधाईआ ।।
राग रतन परवार परीआ सबद गावण आईआ ।।
सबदो त गावहु हरी केरा मनि जिनी वसाईआ ।।
कहै नानकु अनंदु होआ सतिगुरु मैं पाईआ ।

—(संत सुधासार, पृष्ठ २८२)

भक्त की विचित्र गति होती है वह लौकिक विकारों का परित्याग करके अपनी वासनाओं को हरि में केन्द्रित कर देता है। रामकली राग में गुरु का कथन है—

भगता की चाल निराली ।
चाल निराली भगताह केरी बिखम मारगि चालणा ।।
लबु लोभ अहंकार तजि तृसना बहुत नही बोलना ।।
खनिअहु तिखो बालहु निकी एतु मारगि जाणा ।।
गुरु परसादी जिन्ही आपु तजिआ हरि वासना समाणा ।।
कहै नानकु चाल भगता जुगहु जुगु निराली ।।

(संत सुधासार, पृष्ठ २८७)

मानव-जाति की कसौटी ब्रह्म है, जो उच्चकुल में जन्म लेने का गर्व करता है, उसे मूर्ख ही कहना चाहिए। एक ही ब्रह्म से सभी वर्णों की उत्पत्ति है, फिर ऊँच-नीच का प्रश्न क्यों उठता है? इस प्रकार का प्रश्न उठाने वाले ही विकारी हैं। कर्म का बन्धन ही जीव को घेरे है उसकी निष्कृति बिना गुरु के कठिन ही नहीं असम्भव है।

रागु भैरउ

जाति का गरब न करियहु कोइ। ब्रह्म बंदे सो ब्रह्मण होइ ।।
जाति का गरब न करि मूरख गवारा। इसु गरब ते चलहि बहुत विकारा ।।
चारै वरन आखै सब कोई। ब्रहमु-विन्दुते सम ओपति होई ।।
माटी एक सगल संसारा। बहुबिधि भांडे घड़ै कुम्हारा ।।
पंच तत्तु मिली देही आकारा। घटि वधि को करै बीचारा ।।

कहतु नानक इहि जीउ करमबंधु होई। बिनु सति गुरु भेटे मुक्त न होई ।।
—(संत सुधासार, पृष्ठ ३०४)

ब्रह्म-निष्ठा के विरोधी तत्वों और विकारों का गुरु अमरदास ने मुक्त कण्ठ से वर्णन किया है। लौकिक तत्वों को हम जितना सत्य और हितकर समझते हैं। उतने ही आध्यात्मिक पथ से हम दूर पड़ते जाते हैं। यह तथ्य ही वह तथ्य है जिसको सन्त-परम्परा के सन्तों के अतिरिक्त अन्य भक्तों ने भी समझा है। इसी को पृष्ठभूमि में करके भक्त कवि आध्यात्मिक भावना की श्रेयस्करता के सम्बन्ध में अनुकूल और कल्याणप्रद कह पाता है।

गुरु अमरदास की वाणी सरल पदावली में ही प्रस्फुटित हुई है। उन्होंने अपनी भावनाओं द्वारा सिख-धर्म के मार्ग को प्रशस्त किया है।

४. गुरु रामदास (१५९१ वि०—१६३८ वि०)—गुरु रामदास गुरु अमरदास के जामाता थे। गुरु-गद्दी पर बैठने से पूर्व उनका नाम जेठा था। उन्होंने अपने जीवन काल में अमृतसर का निर्माण कराया था और सिख धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने मसंद नियुक्त किये थे।

पद-शैली

प्रत्येक राग पर ही इनके पद मिलते हैं। इनका आसा राग का 'सो पुरख' पद बहुत लोकप्रिय और प्रख्यात है। उक्त पद के समान ही सूही राम की छंत के चार पदों का प्रयोग सिख लोग विवाह-संस्कार में करते हैं। विवाह में फेरों के समय उनका गान किया जाता है।

'सो पुरख' में निरंजन और अगम्य से भी अगम्य हरि के महात्म्य का गान किया गया है। राग के प्रारम्भिक शब्दों के आधार पर ही यह 'सो पुरख' पद कहा जाता है—

रागु आसा

सो पुरखु निरंजनु हरि पुरखु निरंजनु हरि अमया अगम अपारा ।।
सभि धिआवहि सभि धिआवहि तुधु जी हरि सच्चे सिरजणहारा ।।
सभि जीअ तुम्हारे जी तूं जीआ का दातारा ।।
हरि धिआवहु संतहु जी सभि दुख विसारण हारा ।।
हरि आपे ठाकुरु हरि आपे सेवकु जी किआ नानक जंत विचारा ।।
तू घट घट अंतरि सरब निरंतरि जी हरि एको पुरखु समाणा ।।
इकि दाते इकि भेखारी जी तेरे चोज बिडाणा ।।
—(संत सुधासार, पृष्ठ ३१)

नगर रूप शरीर में काम-क्रोध प्रभूत मात्रा में भरे हुए हैं; किन्तु संतजनों

की संगति से दोनों के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। गुरु से भेंट हो जाने के कारण ही यह जीव हरि-भक्ति में प्रवृत्त हो गया। अभवत और नास्तिक भला हरि-भक्ति-रस को क्या समझे ? आस्तिक भक्त ही ब्रह्मानन्द में डूब कर अलौकिक रस का पान करने में समर्थ होता है, अन्य नहीं—

रागु गउड़ी पूरबी

कामि करोधि नगरु बहु परिआ मिलि खंडल खंडा हे ॥
पूरबि लिखत लिखे गुरु पाइआ मनिहरि लिव मंडल चंदा हे ॥
करि साधू अंजुली पुनु वडुा हे, डंडउत पुनु वडुा हे ॥
साकत हरिरस साहु न जाणिआ तिन अंतीर हउमै कण्डा हे ॥
जिउ जिउ चलहि चुभै दुखु पावहि जमकालु सहहि सिरि डंडा हे ॥
हरिजन हरिहरि नामि समाणे दुखु जन्म मरण भव खंडा हे ॥
अविनासी पुरुखु पाइया परमेसरु बहु सोभा खंडा ब्रहमण्डा हे ॥
हम गरीब मसकीन प्रभु तेरे हरि राखुराखु बड बडुा हे ॥
जन नानक नाम अधारु टेक है हरिनामें ही सुखु मंडा हे ॥

—(स० सुधा सार, पृष्ठ ३२०)

रागु सूही-छन्त के प्रथम चार पदों में आध्यात्मिक विवाह की व्यवस्था प्रस्तुत की गई है। प्रथम पद के प्रथम फेरे में परमात्मा ने प्रवृत्ति कर्म को दृढ़ किया है ; द्वितीय पद के द्वितीय फेरे में उसने सदगुरु से भेंट करा दी है ; तृतीय पद के तृतीय फेरे में उसने आनन्द-उत्साह और वैराग्य की परम्परा को प्रस्फुटित किया है और अनन्तर चतुर्थ पद के चतुर्थ फेरे में अविनाशी प्रभु का प्राप्ति और ज्ञान के प्रकाश का मन में प्रसार किया है। चतुर्थ पद दृष्टव्य है—

रागु सूही छंत

हरि चउथड़ी लावँ मनि सहजु भइआ हरि पाइआ बलि राम जी ॥
गुरमुखि सिलिआ सुभाइ हरि मनि तनि मीठा लाइआ बलि रामजी ॥
हरि मीठा लाइआ मेरे प्रभु आइआ अनदिनु हरि लिव लाई।
मन चिंदिआ फलु पाइया सुआमी हरि नामि बजी बाधाई ॥
हरि प्रभि ठाकुर काजु रचाइआ धन हिरदे नामि बिगामी।
जनु नानकु बोले चउथी लावें हरि पाइआ प्रभु अविनासी ॥

—(संत सुधासार, पृष्ठ ३३२)

सिख-धर्म के पूर्व गुरुओं की भावनाओं की परम्पारा का पालन गुरु रामदास की वाणी से हुआ है। अध्यात्मिक अंगों के विस्तृत वर्णन के साथ उनका पदावली में प्रेम और विषय बड़ा मार्मिकता से स्पष्ट हुआ है।

२. सगुणधारा

अ—राम-भक्ति-शाखा और पद—हिन्दी काव्य में राम-भक्ति का मूल स्रोत अपने तत्त्वों के लिए रामानुजीय सम्प्रदाय का आभारी है। उसके तात्विक सिद्धान्त रामानन्द के द्वारा स्वीकृत किए गए। अनन्तर उनकी कुछ मौलिक विचारणाओं के साथ रामानुजीय सम्प्रदाय का एक नवीन संस्करण रामानन्दी सम्प्रदाय के रूप में प्रस्फुटित हुआ। इस प्रकार रामानुज का 'विशिष्टाद्वैत' ही एक प्रकार से रामानन्द और उनके अनन्तर के राम-भक्ति के तुलसीदास तथा अन्य कवियों की दार्शनिक भावनाओं का पोषक रहा।

प्रस्तुत अध्याय का आलोच्य विषय तुलसी से पूर्व की गीति-परम्परा का विवेचन है। वस्तुतः तुलसी से पूर्व हिन्दी में रामानन्द के अतिरिक्त इस शाखा में अन्य कवि हुआ ही नहीं है। इससे रामानन्द के पदों का विवेचन ही इस स्थल पर उपयुक्त है। रामानन्द पर रामानुज का प्रभाव है और अनन्तर के कवियों पर रामानन्द का। फलस्वरूप रामनुज और रामानन्द की दार्शनिक विचारधाराओं का उल्लेख आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो जाता है।

रामानुज—आचार्य रामानुज का विशिष्टाद्वैत वेदान्त का धर्म और भक्ति-परक सम्प्रदाय है। इसके माध्यम से वह वेदान्त के सिद्धान्तों को जन-वर्ग में व्यवहार करने योग्य बना सके, यही आचार्य रामानुज की मौलिकता है।

आचार्य शङ्कर का अद्वैत केवल निर्गुण ब्रह्म को ही प्रमुखता प्रदान करता है। उसके अन्तर्गत ईश्वर, जीव और प्रकृति आदि का निजी अस्तित्व नहीं है। वे सब अनिर्वचनीय माया के आधीन ब्रह्म के केवल विवर्तमात्र हैं। इसके विपरीत आचार्य रामानुज ने उन सभी की सत्ता स्वीकार की और साथ में निर्गुण ब्रह्म और ईश्वर की अभेदता को प्रमाणित कर उसके सगुण स्वरूप को प्रतिपादित किया। जीव और प्रकृति में चेतन ब्रह्म की चेतना के समावेश से वे ब्रह्म के ही शरीरी भाव अथवा अंशी हैं। इन विशेषताओं के अतिरिक्त आचार्य रामानुज ने भक्ति योग को आत्मज्ञान और मोक्ष का साधन सिद्ध किया। इस प्रकार वेदान्त के सम्बन्ध में उनकी निजी मान्यताएँ थीं। उनकी इन विशिष्टताओं ने ही वस्तुतः अद्वैतवाद के आलोचकों और भक्ति-मार्ग के प्रचारक मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य और रामानन्द आदि को विशेष रूप से प्रभावित किया।[१]

ब्रह्म और विशिष्टाद्वैत—रामानुज का विशिष्टाद्वैत भी अद्वैत की कक्षा का ही समर्थन करता है; वह अद्वैत होता हुआ भी विशिष्ट है। इससे पहले उसकी विशिष्ट-

---

१. डा० देवराज—भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास—'विशिष्टाद्वैत अथवा रामानुज दर्शन' (एकेडमी)

ताओं पर ही विचार करना उचित है। अनन्तर आचार्य के तात्विक सिद्धान्तों के विवेचन में सुविधा होगी।

चित् (जीव, चेतन और आत्मा) और अचित् (जड़, प्रकृति और माया)—ये दोनों ही तत्त्व ब्रह्म (ईश्वर, परमात्मा, परमेश्वर, भगवान, श्रीराम आदि) में व्याप्त है।[1] इन दोनों तत्त्वों का यह विशेष स्वरूप ही ब्रह्म के साथ अभेदता अथवा अपृथकत्व का परिचायक है। इसका यह गुण इनकी विशेषता को प्रकट करने के कारण ही 'विशेषण' है और ब्रह्म से अभेदता के कारण उनमें ब्रह्मांश का होना स्वयंसिद्ध है। इस प्रकार ब्रह्मांशी होकर ये 'विशेष्य' भी हैं। ब्रह्म अजर, अमर और नित्य है। फलस्वरूप चित् और अचित् भी इन्हीं विशिष्ट गुणों के अधिकारी हुए।[2]

चित् और अचित् की भी दो परिस्थितियाँ हैं। दोनों सूक्ष्म और स्थूल होते हैं। चित् तो सूक्ष्म ही रहता है, किन्तु जब उसका संसर्ग स्थूल से हो जाता है तब चित् की भी स्थूल में ही गणना होने लगती है। सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व अचित् की स्थिति सूक्ष्म ही थी; किन्तु सृष्टि के उपरान्त वह स्थूल हो गई है और स्थूल के अन्तर्गत ही उसकी गणना होती है।

चित् और अचित् ब्रह्म के भी सूक्ष्म और स्थूल दो भेद हुए। इन्हीं के आधार पर ब्रह्म को 'सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' और 'स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' कहते हैं।

इस प्रकार की प्रतिपादित विशेषताओं से संयुक्त होने के कारण ही रामानुज का ब्रह्म विशिष्ट है और चित्-अचित् के उसमें ही व्याप्त होने के कारण वह अद्वैत भी है। इसीसे उनके सम्प्रदाय का नाम विशिष्टाद्वैत पड़ा।

जीव

आचार्य रामानुज ने जीवात्मा की निम्न परिभाषा दी है—'जीवात्मा वह स्वरूप है जो देवता और मनुष्य आदि के मध्य में प्रकृति के परिणाम द्वारा प्रस्तुत अन्तर रहित ज्ञान और आनन्द से युक्त हो। जब देवता और मनुष्य का अन्तर, जो कर्म के कारण

---

१. 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यांजगत'—ईशावास्योपनिषद

२. ब्रह्मैवमवस्थितामित्यत्रैवशब्दार्थभूतप्रकारतयैव विचित्रचेतनाचेतनात्मक प्रपञ्चस्य स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च सदभावः। तथा च बहुस्यां प्रजायेयेत्ययमर्थः सम्पन्नो भवति तस्यैवेश्वरस्य कार्यतया कारणतया च नानासंस्थानसंस्थितस्य संस्थानतया चिदचिद्वस्तुजातपस्थितमिति।

—(रामानुजाचार्य—वेदार्थसंग्रह—६६)

"चिदचिद्वस्तुतो शरीरतयाऽपृथक्सिद्धत्वेन प्रकारत्वम् तद्विशिष्टतस्य ब्रह्मणश्च शरिरित्वेन प्रकारित्वं शाश्वतिकमेव"

ब्रह्मसूत्र—आनन्द भाष्य १-१-१

उत्पन्न होता है, नष्ट हो जाता है तब उनका वास्तविक अन्तर रह जाता है जो वाणी से अकथ्य है और जिसको स्वयं आत्मा ही जान सकती है। इस प्रकार आत्मा ज्ञान-स्वरूप है और वह सभी में समान है।'[1]

इस प्रकार आत्मा का स्वरूप बड़ा ही पवित्र और विशुद्ध होता है। वे प्राणी, जो छल और कपट रहित होते हैं, समदर्शी होते हैं। किसी के प्रति उनके हृदय में उपेक्षा और घृणा की भावना नहीं होती।[2]

इस त्रिगुणात्मक विश्व में आकर जीवात्मा में विकारों का समाहित हो जाना स्वाभाविक है। उस दशा में वह भटक उटती है; किन्तु ब्रह्म तब भी सहयोगी रहता है। ब्रह्म के निर्विकार होने से संसार के त्रिगुण उसको प्रभावित नहीं कर पाते। इससे भगवान् को जीव के आत्मसमर्पण में ही उसकी निष्कृति है। फलतः आत्मसमर्पण ही भक्ति की वर्णमाला का प्रथम वर्ण है।

जीव की स्वाभाविक स्थितियाँ निम्न हैं—(१) वह कर्म पर आश्रित रहता है (२) दुःख से पीड़ित रहता है (३) सर्व-ज्ञान नहीं होता (४) उसका निर्वाण भक्ति पर आधारित रहता है।[3]

ईश्वर

"ईश्वर संसार के निवर्तन (स्थिरता) का हेतु है जबकि चित् और अचित् उद्भव, स्थिति और प्रलय के प्रपंच से युक्त हैं। समस्त अवगुणों से रहित और अनन्त कल्याणों से युक्त वह, जो स्वयं अन्य वस्तुओं से विलक्षण है और जिसमें अतिशय असंख्य कल्याण के गुण भरे हैं, वेदान्त में सर्वात्म, परब्रह्म, पर ज्योति, पर तत्व, परमात्म, सत् आदि शब्द-भेद से अन्तर्यामी पुरुषोत्तम भगवन्नारायण के लय से अवगत होता है। चित् और अचित् वस्तुओं की अन्तरात्माओं का नियमन करने वाले उसके वैभव का श्रुतियाँ 'तच्छक्ति' 'तदश' 'तद्विभूति' 'तद्रूप' 'तच्छरीर' 'तत्तनु' आदि

---

१. जीवात्मनः स्वरूपं देवमनुष्यादि प्रकृति परिणामविशेषरूपनानाविध भेद रहितं ज्ञानानन्दैकगुणं, तस्यैतस्य कर्मकृतदेवादिभेदेऽपध्वस्ते स्वरूपभेदो वाचामगोचरः स्वसंवेद्य ज्ञानस्वरूपमित्येतावदेव निर्देश्यम्। तच्च सर्वेषामात्मानां समानम्।

—(रामानुजाचार्य—वेदार्थसंग्रह—५)

२. विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

—(गीता ५-१८)

३. सम्पादक—वी कृष्णमाचार्य—'वेदान्त सार', पृष्ठ १४ (अदयार लाइब्रेरी)

शब्दों और समानाधिकरण से प्रतिपादन करती है।[1]

ईश्वर अपने विशुद्ध स्वरूप में ज्ञान और आनन्द की निधि है। उसमें अनन्त गुण हैं। वह इन्हीं गुणों के कारण चेतन और अचेतन पर शासन करता है। ब्रह्म का 'परमं पदं' जो विष्णु का पूर्ण स्वरूप है, कर्मों के आधीन होने के कारण मानव प्राप्त नहीं कर पाता। जब वह कर्म से मुक्त हो जाता है और सत्कर्म तथा पुण्य-बल से जब उसे आवागमन की वाध्यता नहीं रहती तभी उसे विष्णु का वह स्वरूप उपलब्ध हो जाता है।

ईश्वर की निम्न स्थितियाँ होती हैं—(१) निर्विकार रहता है (२) सर्वज्ञ होता है (३) सत्य संकल्प होता है (४) सर्वेश्वर अथवा परमात्मा होता है।[2]

प्रकृति (माया)

आत्मा और प्रकृति के मध्य के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए वायुपुराण का यह कथन है—"आत्मा, आनन्द और पवित्रता-युक्त होती है जबकि प्रकृति दुःख, अज्ञान और कलङ्क-युक्त होती है।"[3]

प्रकृति अचेतन है इससे उसमें जड़ता का अंश स्वाभाविक है। प्रकृति के साथ सचेतन जीव का संसर्ग होने के कारण जीव के समान प्रकृति भी ब्रह्म की अंशी होती है, जैसा पहले कहा जा चुका है। प्रकृति (माया) अपने स्थूल स्वरूप से जीव के चिदंश को विनष्ट कर देती है उस स्थिति में उसमें लौकिक विकार प्रभूत मात्रा में समाविष्ट हो जाते हैं, किन्तु उसके सत्कर्म और पुण्यों से तथा ईश्वर की जीव की निष्कृति-भावना से उसका माया-तत्व तिरोहित हो जाता है। अनन्तर वह भगवान् के कल्याण-पद आध्यात्मक पथ में सचेष्ट हो उठता है।

---

१. एवं विधचिरचिदात्मकप्रपंचस्योद्भवस्थितिप्रलयसंसारनिवर्तनैकहेतुभूतः समस्तहेय प्रत्यनीकतयानन्त कल्याणतया [च स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षण-स्वरूपोऽनवधिकातिशया संख्येयकल्याणगुणगुणः सर्वात्मपरब्रह्मपरज्योतिः परतत्त्व परमात्म सदादिशब्दभेदैर्निखिलवेदान्तवेद्यो भगवन्नारायणः पुरुषोत्तम इत्यन्तर्यामिस्वरूपम्। अस्य च वैभवप्रतिपादन पराः श्रुतयः स्वेतर-समस्तचिदचिद्वस्तुजातान्तरात्मतया निखिलनियमनं तच्छक्तिततदंशताद्वि-भूतितद्रूपतच्छरीरतत्तनु प्रभृतिभिः शब्दैस्तत्समानाधिकरण्येन च प्रति पादयन्ति। —(रामानुजाचार्य— वेदार्थ संग्रह-६)

२. सं० वी० कृष्णायाचार्य—'वेदान्त सार', पृष्ठ १४-१५

३. निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः।
दुःखाज्ञानमला धर्मा प्रकृतेस्ते न चात्मनः। —(वायुपुराण ६-७-२२)

भक्ति और मुक्ति

'भक्ति' शब्द प्रीति का समानार्थी है। किसी के प्रति प्रीति का सृजन उसके सम्यक् ज्ञान पर आधारित होता है। ब्रह्म सर्वशक्तिमान निर्विकारी होने के कारण भक्ति का अभीष्ट स्वरूप बन जाता है। आचार्य रामानुज का सिद्धान्त है कि शास्त्रों के अध्ययन से तत्व ज्ञान का अर्जन कर जो भक्त स्वकर्मों को पूर्ण करता हुआ ब्रह्म के प्रति अपनी निष्ठा रखता है, वही भक्ति है। प्रेम से आनन्द की उपलब्धि होती है और वह आनन्द जो ज्ञान पर आधारित होता है वह कुछ विशेष ही होता है।[1]

आनन्द स्वरूप ब्रह्म के ज्ञान में लगने का आशय ही है कि ब्रह्म में लीन हो जाना। इस प्रकार भक्त का अहंकार धीरे-धीरे पलायन कर उठता है। अन्त में अहंकार के विनष्ट हो जाने से वह ब्रह्म के समीप पहुँचकर निर्वाण का अधिकारी बनता है।

त्रिगुणात्मक विश्व में मानव का पाप-पङ्क से कलङ्कित हो जाना स्वाभाविक है। उसको दूर करने के लिए सत्कर्म करने की परम आवश्यकता है। इन सत्कर्मों की प्रेरणा ब्रह्म के एक मात्र आश्रय में ही जाने से उपलब्ध होती है। यह भी वस्तुतः भक्ति का एक सूत्र है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्तया लभ्यस्त्वनन्यया।
भक्तन्या त्वनन्यया शक्योऽहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं दृष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टु च परंतप॥—(गीता १८-५५)

भक्ति ज्ञान है। यह सभी को आत्मसात कर लेती है। जिस व्यक्ति ने यह ज्ञान प्राप्त कर लिया उसे ब्रह्म स्वयं अङ्गीकृत कर लेता है। फलस्वरूप उसका ब्रह्म से एकाकार हो जाना स्वाभाविक है।

वृहदरण्यक उपनिषद में जीव की अपूर्णता और ब्रह्म की अपनी आत्मा के समान उपासना करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन है।[2] 'वेदान्तसार' के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में आचार्य रामानुज ने 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्'[3] उपदेश दिया है कि जो सत् (ब्रह्म) के प्रति निष्ठा रखता है उसे मुक्ति मिलती है।

---

१. ब्रह्मप्राप्त्युपायश्च शास्त्राधिगततत्त्वज्ञानपूर्वक स्वकर्मानुगृहीतभक्तिनिष्ठा-साध्यानवधिकातिशय प्रियविशदतम प्रत्यक्षतापन्नानुध्यानरूपपरभक्तिरेव-त्युक्तम्। भक्ति शब्दश्च प्रीतिविशेषे वर्तते। प्रीतिश्च ज्ञान विशेष एव। ननु च सुखं प्रीतिरित्यनर्थान्तिरम्। सुखं च ज्ञानविशेषसाध्यं पदार्थान्तिर-मिति हि लौकिकाः। नैवम। येन ज्ञान विशेषेण तत्साध्यमित्युच्यते स एवं ज्ञान विशेषः सुखम्। —(रामानुजाचार्य वेदार्थ संग्रह १४१)

२. अकृत्स्नों ह्येषः आत्मेत्येवोपासीत—वृहदरण्यक उपनिषद १-४-७

३. वेदान्तसार—१-१-७

रामानन्द

रामानुजाचार्य के अनन्तर रामानन्द के व्यक्तित्व ने विशिष्टाद्वैत को एक नवीन दिशा की ओर मोड़ा। उन्होंने उनके प्रतिपादित सिद्धान्तों को व्यापक बनाया और व्यावहारिकता प्रदान की। परम्परागत विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों में उन्होंने अपनी कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी सम्मिलित कीं, इससे रामानन्दी सम्प्रदाय के लोग उन्हें उसकी सीमा से बाहर भी मानने लगे हैं; किन्तु यह सम्प्रदायगत पक्षपात की विचारणा है, निष्पक्ष भावना नहीं। विशिष्टाद्वैत के विचारों में रामानन्द ने समयानुसार जो परिवर्तन और परिवर्द्धन किए वह उनकी मौलिकता अवश्य है; किन्तु वह परम्परागत सम्प्रदाय को नवीन दिशा देने के लिए ही है स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रमाणित करने के लिए नहीं।

रामानन्द सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने प्रवर्त्तक के जीवन का बड़ा ही अतिरंजनापूर्ण वर्णन किया है। रामानन्द को राम का अवतार कहा गया है। उनके जन्म से पूर्व ही देवताओं का आकर प्रसूतिगृह का निर्माण, प्रादुर्भाव हो जाने पर देवी-देवताओं का आगमन रामानन्द के समीप आकर सरस्वती का विलाप आदि के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हैं।[1]

रामानन्द के जीवन के सम्बन्ध में इतना ही कहना उचित है कि श्री पुण्यसदन और सुशीला उनके पिता-माता का नाम है। प्रयाग में उनका जन्म हुआ था। विशिष्टाद्वैती राघवानन्द उनके गुरु थे और उन्हीं की अनुमति से उन्होंने अपना अलग से रामानन्दी सम्प्रदाय चलाया था। उन्होंने सम्पूर्ण देश की यात्रा की और अपने सम्प्रदाय को व्यापक बनाया।

सिद्धान्त

रामानन्द के 'रामार्चन पद्धति' और 'वैष्णवमताब्जभास्कर' दो सिद्धान्त ग्रन्थ हैं। प्रथम ग्रन्थ राम की अर्चना के वाह्य स्वरूपों का विचार करने वाला कर्मकाण्डी ग्रन्थ है जबकि द्वितीय सिद्धान्तों पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इस ग्रन्थ में श्री सुरसरानन्द ने रामानन्द से (१) तत्त्व क्या है? (२) क्या जपना चाहिए? (३) किसका ध्यान करना चाहिए? (४) मुक्ति का साधन क्या है? (५) श्रेष्ठ धर्म क्या है? (६) वैष्णव कितने प्रकार के हैं? (७) उनके लक्षण क्या हैं? (८) वे कैसे कालक्षेप करें? (९) उनका प्राप्य क्या है? और (१०) उन्हें कहाँ निवास करना चाहिए? दस प्रश्न पूछे हैं। रामानन्द ने उनके उत्तर दिए हैं, जिन पर उनका रामानन्दी

---

१. भगवदाचार्य—रामानन्द दिग्विजय, अध्याय १, ३, ४, १० आदि।
—(श्री रामानन्द साहित्य मन्दिर, अलवर)

सम्प्रदाय स्थिर है ?[१]

(१) केवल ब्रह्म ही एक तत्व है। अचित् (प्रकृति, माया आदि) चित् (जीव) और ईश्वर उसके तीन भेद हैं। अचित् (माया) विकार रहित, सम्पूर्ण विश्व का कारण, अनेक वर्णों से युक्त त्रिगुणात्मक, भगवत्परतंत्र, शुभी, परार्था तथा महत्तव और अहङ्कार आदि की उत्पादिका है।[२] चित् (जीव), बद्ध, नित्य, मुक्त तीन प्रकार हैं। वह नित्य, अज्ञ, ईश्वराश्रित और अणु परिमाण हैं। कर्म और योगों पर अभियान करता है।[३] ईश्वर, समस्त विश्व का आधार, सर्वशक्तिमान, संसार का कर्ता-धर्ता, अविनाशी है। अपने धाम में स्थित केवल श्रीराम ही ईश्वर पद के अधिकारी हैं।[४]

अचित् और चित् दोनों ही ईश्वर के आश्रित होने से सत्स्वरूप हैं। माया ईश्वर से अभिप्रेरित हो सृष्टि का कारण है। इस प्रकार ब्रह्म के ये तीनों तत्त्व अपने स्वरूपों में रामानुज के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन करते हैं।

(२) इस सम्प्रदाय में तीन मन्त्र जपने का विधान है—प्रथम 'श्रीराममंत्रे 'रां रामाय नमः' इसमें 'रां' ॐ से भी उच्च है, जो जगत का आधार है। यह जगत का प्रकाशक, उत्पादक एवं अभिव्यंजक ; नाम, रूप, यश, गुण स्वरूप एवं मन्त्र आदि इसमें समाहित महाशक्तिशाली विश्व का कारण स्वरूप है। इन विशेषणों से युक्त राम को नमस्कार का विधान है। द्वितीय मन्त्र 'द्वय मंत्र' कहा जाता है इसके दो भाग हैं 'श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये। श्रीमते रामचन्द्राय नमः।' इसमें सीता और रामचन्द्र दोनों के चरणों के शरण की अभिव्यंजना है और उन्हीं को नमस्कार

---

१. तत्त्वं किं किंच जप्यं किमथ शुभकरं वैष्णवैर्ध्यानमिष्टं, मुक्तेः किं साधनं सत्सुमतिमतिमतो धर्म एकोस्ति कश्च। धर्माणां वैष्णवास्ते गुरुवर कतिधा लक्षणं किं च तेषां, कालक्षेपः किमाप्यं कथमुरुशुभदं कुत्र कार्यो निवासः॥
—(वैष्णवमताब्जभास्कर—४)

२. नित्याज्ञाचेतना सा प्रकृतिरविकृतिर्विश्वयोनिः शुभैका। नानावर्णात्मिकाजा त्रिगुणसुनिलयाव्यक्तशब्दाभिधेया, निर्व्यापारा परार्था महदहमितिसुरुच्यते तत्वविद्भिः।
(वही—६)

३. अल्पज्ञश्चेतनोजः सततपरवशः सूक्ष्मतोत्यन्तसूक्ष्मो, भिन्नोबद्धादिभेदैः प्रतिकुणपमसौ नैकधा सूरिवर्यैः। श्री शाक्रान्तालयस्थो निजकृतिफलभुक्तसहायोभिमानी, जीवोसौ प्रोच्यते श्री हरिचरणरेत तत्त्वजिज्ञासुभेद्यः।
(वही—७)

४. विश्वं जातं यतोऽदस्तदवति निखिलं यश्च लीनाति यस्मिन्, सूर्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येत देषः। यद्भीत्या वाति वातोवनिरपि सुतलं याति नैवेश्वरोसौ, साक्षी कूटस्थ एको निखिलशुभगुणः सर्वगः सर्ववेदी।
(वही—८)

है। तृतीय मन्त्र 'चरण मंत्र' है—'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्योददाम्येतद्व्रतं मम।' यह मन्त्र भगवान की प्रसन्नता का सम्पादन और भगवान पर ही हमारा कल्याण निर्भर है, यह विश्वास जाग्रत करता है।

(३) अवतारि रूप दो भुजाओं से युक्त राम का ध्यान करना ही इष्ट है। (४) मुक्ति के साधनों में भक्त को पंच संस्कार रखना आवश्यक है—धनुष-वाण की तप्तमुद्रा, ऊर्ध्वपुण्ड्र, वैष्णवतासूचक नामकरण, श्रीराममंत्रोपदेश ग्रहण और तुलसी कण्ठाधारण। इन संस्कारों से युक्त हो भगवान की रामभक्ति करे। श्री रामनवमी, श्री जानकी नवमी, श्री हनुमज्जन्म, नृसिंह जयन्ती, श्री कृष्ण जन्माष्टमी, वामनद्वादशीव्रत आदि समारोहों को सम्पन्न करे। इन सभी के मध्य में भगवान की कृपा होती है जबकि उससे जीव का कल्याण होता है। (५) श्रेष्ठ धर्म में अहिंसा को प्रमुखता प्राप्त है और उसके साथ राम की अर्चना करना और भक्ति की कामना करना श्रेष्ठ धर्म है। (६) चारों वर्णों के लोग जिन्हें मुक्ति की कामना है वैष्णव हैं। भगवान में दया और वात्सल्य गुण है इससे उनकी दृष्टि में जाति-बन्धन नहीं है। (७) जो पंचसंस्कारी है और राम-कथा कहता और सुनता है—यही वैष्णव के लक्षण हैं। (८) त्रिकाल सम्यक् ध्यान और भगवत्पूजन करके भक्त को समय बिताना चाहिए। तीर्थों में भी साधु-सङ्गीत करके समय व्यतीत करना चाहिए। (९) सीता सहित राम की मुमुक्षुओं को प्राप्य हैं। (१०) वैष्णवों के आवास के सम्बन्ध में रामानन्द के ये संकेत हैं कि विरक्त वैष्णव भक्त अयोध्या, नन्दिग्राम, जनकपुर, चित्रकूट और काशी में निवास करें। गृहस्थ वैष्णव वहीं रहें जहाँ उनके पिता पितामह रहते हैं। यों वह कहीं भी रहें किन्तु सर्वत्र राम की ही पूजा करें आदि।

रामानन्द की विशेषताएँ

रामानन्द ने 'राम' की उपासना पर बल दिया जबकि रामानुजीय सम्प्रदाय में 'श्री विष्णु' की उपासना प्रचलित है। उनके 'ॐ नमो नारायणाम' मंत्र के स्थान पर रामानन्दी सम्प्रदाय में 'रां रामायनमः' का प्रचार हुआ। इनके अतिरिक्त साम्प्रदायिक उपासना में अवश्य अन्तर है। 'श्री भाष्य' होते हुए भी रामानन्द ने ब्रह्मसूत्रों का 'आनन्दभाष्य' किया। ब्रह्म, जीव और प्रकृति के सम्बन्ध में एक ही भावना है। सबसे अधिक उल्लेखनीय बात रामानन्दी सम्प्रदाय में उच्च और नीच वर्णों की समानता है। भक्ति भावना के क्षेत्र में दोनों समान हैं।

पञ्चायुधाङ्का भुवि वैष्णवा ये द्विजागग्रक्षत्रियवैश्यशुद्राः। स्त्रियस्तथान्येपि च विष्णुरूपजगत्पत्रप्रपा वित्रधीशाः॥ (श्री वैष्णवमताब्जभास्कर १५०)

रामानन्द की 'रामरक्षा' 'ग्यान लीला' 'योग चिन्तामणि' 'ज्ञान तिलक' आदि ग्रन्थ रचनाएँ भी हैं, जिनमें उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों का उल्लेख है। इनमें तन और मन के योग तथा गुरु की महत्ता पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

रामानन्द के पद

रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में उनकी पदावलियाँ भी उपलब्ध हैं। इन पदों में ईश्वर की सत्यता और व्यापकता, जग की असारता, आत्मबोधन के तत्व भरे हुए हैं।

भगवान् के बिना जीवन व्यर्थ है। भले ही लौकिक वैभवों से मानव सुशोभित हो ; किन्तु यम का त्रास उसको पीड़ित करेगा ही।

हरि बिन जन्म वृथा षोयो रे।
कहा भयो अति मान बड़ाई, धन मद अंध मति सोयो रे।
अति उतंग तरु देषि सुहायो, सैबल कुसुम सुवा सेयो रे॥
सोई फल पुत्र कलत्र विषै सुष, अति सीस धुनि धुनि रोयौ रे।
सुमिरन भजन साध की संगति, अंतरि मन मैल न धोयौ रे॥
रामानन्द रतन जम त्रासैं, श्रीपति पद काहे न जोयौं रे॥

—(रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, पद १)

संसार की असारता भी बड़ी ही दुखद है। उसके आकर्षण और प्रलोभन मन को मुग्ध करते हैं; किन्तु जाग्रतावस्था में उनमें कोई सार-तत्व न प्राप्त कर आत्मा का आकुल होना स्वाभाविक है। इससे राम ही जीव का प्रमुख आश्रय है।

तातैं कछु रे संसार।
मेरे रांम को नांव अधारा॥ टेक॥
गुड़ चींटा गुड़ षाई। गुड़ मांहि रही लपटाई॥
गुड़ रती एक मीठा होई। पाछे दुष पावै सोई॥
सुपनांतर राजा होइए। नाना विधि के सुष लहिए॥
ऐसा सुष क्यों सुष होई। जाग्या थैं झूठा सोई॥
मैं मेरी ग्यान नसावै। तातैं आत्म समाधि न पावै॥
रामानँद गुरु गमि गावै। तातै भिन भिन समझावै॥

—(रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, पद ३)

लौकिक गुण तो काल-प्राप्त कर नाश हो जावेंगे जबकि भक्ति ही स्थिर रह जावेगी। जप और उपासना के विधान से ही भक्त को स्वामी का सामीप्य प्राप्त करना चाहिए और ब्रह्मानन्द का आनन्द तो ऐसा अनन्त है जिसका पान करके भी जीव अनुमान नहीं लगा सकता—

सहजैं सहजैं सब गुन जाइला। भगवंत भगता एक थिर थाइला॥
मुक्ति भईला जाप जपीला। यों सेवग स्वामी संग रहीला॥
अमृत सुध-निधि अंत न पाइला। पीवत प्रान न कहे अघाइला॥
रामानँद मिलि संग रहैला। जब लग रस तब लग पीवैला॥

—(रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, पद ४)

रामानन्द की भावनाओं में भक्ति-तत्त्व प्रधान ईश्वर की अनन्यता तथा अद्वै-

तता पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। उनकी इन्हीं भावनाओं से अभिप्रेरित होकर कबीर और तुलसी ने अपने-अपने मार्ग पर अग्रसर होकर उनकी भावनाओं को व्यापक बनाया। उनके उदार तथा व्यावहारिक सिद्धांतों को लेकर कबीर चले जिससे साधारण जन-जीवन में अकृत्रिम आध्यात्मिकता के लिए अनुराग बढ़ा। उनके सांस्कृतिक तत्त्वों को लेकर तुलसी ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित-गान किया, जिससे भारतीयता अक्षुण्ण रह सकी। यद्यपि कबीर और तुलसी में अपने-अपने निजी तत्त्व भी थे; किन्तु मूलतः रामानन्द तत्त्व ही उन्हें अग्रसर होने के लिए इङ्गित करते रहे।

कृष्णभक्ति-शाखा और गीत

इस धारा को प्रवाहित करने का श्रेय गौडीय, पुष्टि मार्गीय, राधावल्लभीय और हरिदासी सम्प्रदायों को है। इन सम्प्रदायों में राधा-कृष्ण की भक्तिपूर्वक अर्चना और उपासना होती है। सभी में माधुर्य भाव का स्वरूप विद्यमान है।

श्री वल्लभाचार्य और शुद्धाद्वैत

वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर बैठकर शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय को नवीन जीवन दिया था। इनका सम्प्रदाय प्रेम और माधुर्य भावना के आश्रित है। भगवान के प्रति प्रेम और माधुर्य प्रधान भक्ति उसी स्थिति में जागृत होती है, जब उनका अनुग्रह हो। भगवान का यह अनुग्रह[1] ही शुद्धाद्वैत के मार्ग का पोषण करता है। इसी से इस सम्प्रदाय को पुष्टिमार्गीय कहा जाता है।

शुद्धाद्वैत में माया विमुक्त ब्रह्म ही जगत का कर्त्ता-धर्त्ता है। उससे युक्त वह जगत का कार्य और कारण कुछ नहीं है। माया-विमुक्त ब्रह्म ही 'शुद्ध' है। इसी कारण उसे शुद्धाद्वैत की संज्ञा दी जाती है। पुष्टिमार्ग पर प्रकाश डालने के लिये ब्रह्म, जीव, जगत, माया और मुक्ति आदि तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक है।

ब्रह्म

आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त से केवल ब्रह्म ही सत्य है जबकि जीव और जगत असत्य है। आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म की सत्यता के साथ इनको भी सत्य माना है। पुष्टिमार्ग में अद्वैत भावना का यही आधार है।

अचेतन तत्त्वों से रहित, सच्चिदानन्द गुणों से युक्त, सर्वव्यापक, सभी प्रकार की शक्तियों में स्वतन्त्र और सर्वज्ञ ही ब्रह्म है।[2] इन विशेषताओं से युक्त होने के

---

१. पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैक साध्यः—अणुभाष्य

२. सच्चिदानन्दरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्।
सर्वशक्तिस्वतंन्त्रंच सर्वज्ञ गुण विवर्जिते ॥ (तत्व दीप निबन्ध)

कारण ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है।

उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त केवल श्रीकृष्ण ही सच्चिदानन्द रूप हैं। वह नित्य हैं, इससे उनकी लीलाएँ भी नित्य हैं। वह अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के साथ गोलोक में निवास करते हैं। अपने अवतार में केवल कृष्ण ने जन्म ही नहीं लिया, किन्तु उनके साथ सम्पूर्ण आह्लादिनी शक्तियों ने भी स्वरूप प्राप्त किए। गोलोक ही गोकुल के नाम से प्रतिष्ठित हुआ।

जीव

आचार्य वल्लभ के सिद्धांतों से जीव में सत् और चित् दोनों तत्त्वों का समावेश है। ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप के केवल आनन्द तत्त्व के अभाव के कारण वह दु:खी होकर भटकता रहता है। भगवान के आनन्द तत्त्व के वल्लभ ने ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री ज्ञान और वैराग्य गुण माने हैं। इनके अभाव से जीव, दीनता, हीनता, आपत्ति, अहंकार, विषयाशक्ति आदि में निमग्न रहता है।

आनन्द-प्राप्ति के लिए जीव के लिए भगवान का भजन करना आवश्यक है। उस स्थिति में ही वह भगवदनुग्रह का अधिकारी होकर पुष्ट जीव हो जाता है और मुक्ति का अधिकारी होता है।

जगत

जड़ जगत भी ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण सत्य है; किन्तु उसमें चित् और आनन्द का तिरोभाव रहता है। वल्लभ सम्प्रदाय में जिस प्रकार जीव नित्य है उसी प्रकार जगत भी नित्य है। उसका आविर्भाव और तिरोभाव भले ही हो; किन्तु उसका नाश नहीं हो सकता है। ब्रह्म के सदंश समाहित रहने के कारण जगत में ब्रह्म का स्वरूप ही भासमान होता है।

माया

भगवान की शक्ति माया के (१) विद्या माया और (२) अविद्या माया दो रूप हैं।[1] माया भगवान के वशवर्तिनी है। वह उनको प्रभावित न कर जीव को प्रभावित करती है। प्रथम के द्वारा संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है जबकि द्वितीय जीव को लौकिक विकारों में ग्रस्त रखती है। उसमें विविध दोष उत्पन्न होते हैं और वह भगवान से दूर रहता है।

जीव जब अविद्या माया के प्रभाव को समझकर उससे मुक्त होने का विचार करता है तब विद्या माया का समावेश होता है। कहने का आशय यही है कि जीव में

---

१. विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते ॥ तत्त्व दीप निबन्ध

सद्भावना का विकार केवल विद्या माया पर आधारित है। यह स्थिति भगवत्कृष्ण अथवा पुष्टि पर आधारित है।

मोक्ष

संसार के दुःखों का नाश और ब्रह्मानन्द की अनुभूति ही जीव का मोक्ष है। वेद-शास्त्रों के विधानों द्वारा भगवान का सायुज्य अवश्य मिलता है, किन्तु वह साधारण और सरल व्यक्तियों के लिए दुस्साध्य है इसी से आचार्य वल्लभ ने जीव को सरल स्वभाव के आधार पर भक्ति करना आवश्यक बतलाया है। उस स्थिति में भगवान की पुष्टि मिलना स्वाभाविक है। इस पुष्टि भक्ति के आश्रय से जीव ब्रह्म की गोलोक लीला के आनन्द का लाभ प्राप्त करता है।

उपर्युक्त विवेचित तात्विक सिद्धान्तों का प्रयोग वल्लभाचार्य की शिष्य-प्रशिष्य परम्परा में आज भी विद्यमान है। अष्टछाप कवियों तथा अन्य कृष्णभक्त कवियों ने प्रेम लक्षणा भक्ति को मूर्त्त करने के लिए कृष्ण-लीलाओं का बड़ी सहृदयता से गान किया, जिससे उन्होंने मधुर पद-शैली को अपने काव्य का आधार बनाया।

इस गीति-शैली के प्रारम्भ होने से पूर्व राधा-कृष्ण की लीलाओं का स्वच्छन्द गान भी देश के वातावरण को मधुर बनाए हुए था। वल्लभाचार्य द्वारा सम्मोहित गेय परम्परा के विवेचन से पूर्व उक्त इङ्गित भावना पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त रूप से इसने हिन्दी की ही नहीं; किन्तु देश में प्रचलित कृष्ण-भावना को अभिप्रेरित किया है।

वल्लभाचार्य से पूर्व कृष्ण-लीला-गान

वल्लभ से पूर्व राधा-कृष्ण की लीलाओं का गान आध्यात्मिक न था। उनके शुद्धाद्वैत के प्रतिपादन में ही राधा-कृष्ण विशिष्ट अलौकिक शक्ति-सम्पन्न कहे गये हैं। निम्बार्क और विष्णुस्वामी सम्प्रदायों में राधा का स्वरूप प्रमुखता प्राप्त किए है, अनन्तर वल्लभ ने, जो विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर बैठे थे, राधा को कृष्ण (ब्रह्म) की अभिन्न शक्ति कहा है।

राधा-कृष्ण विषयक विचार किस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुए, इसका पूर्व रूप जयदेव का गीत गोविन्द प्रस्तुत करता है। उनके राधा-कृष्ण ईश्वरीय सम्बन्ध से न गुंथे होकर शृंगार के लौकिक रूप को प्रस्फुटित करते हैं। इसी परम्परा को विद्यापति ने अपनी पदावली द्वारा व्यापक बनाया है।

निम्बार्क सम्प्रदाय से जयदेव को कृष्ण और राधा के अभिन्न सम्बन्ध की प्रेरणा मिली। प्रणय के वशीभूत हो वे किस प्रकार एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं, इसका स्थूल रूप उससे सिद्ध हो जाने के कारण जयदेव ने उनकी लीलाओं को शृंगार परक ही वर्णित किया है। नायक और नायिका के अनुकूल चरित्र मिल जाने पर भी

जयदेव से पूर्व पूर्वीय प्रान्तों में सिद्ध और निर्गुणीय सम्प्रदायों के साधक विविध राग-रागनियों में आत्मा-परमात्मा के गान गा ही चुके थे, इससे उनको उनकी गेय परम्परा की शैली ग्रहण करने में कठिनाई नहीं हुई।

गीति-काव्य की परम्परा पूर्व में ही विद्यमान न थी; किन्तु पश्चिम में भी व्यवहृत थी। काश्मीर के कवि क्षेमेन्द्र ने भी कृष्ण विषयक गीतों का निर्माण किया था।[1] इस प्रकार पूर्व और पश्चिम की कृष्ण-राधा विषयक परम्पराएँ सूरदास जैसे व्रजभाषा के प्रथम कवि को आश्चर्यस्वरूप प्राप्त हुईं। उन्हें आचार्य वल्लभ की शिक्षाओं को राग-रागनियों की शैली में पिरोने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

जयदेव की गीत गोविन्द की परम्परा को मिथिला के विद्यापति और बंगाल के चण्डीदास ने अपनी-अपनी पदावलियों में प्रतिष्ठा दी। महाप्रभु चैतन्य इन तीनों की पदावलियों में ब्रह्मानन्द की अनुभूति करते थे।

विद्यापति चण्डीदास श्री गीत गोविन्द।
एइ तीन गीते कराय प्रभुर आनन्द॥[2]

जयदेव—गीतगोविन्द और गीति-शैली

जयदेव का जन्म केन्दुविल्व ग्राम में हुआ था।[3] भोज पिता और वामा माँ थी। उन्होंने पराशर आदि जैसे वन्धु के गाने के लिए गीतगोविन्द के काव्य का निर्माण किया था।[4] उमापति धर, शरण, आचार्य गोवर्धन, धोयी आदि कवियों के वह समकालीन थे।[5] इनके साथ वह भी राजा लक्ष्मणसेन के राजकवि थे। लक्ष्मणसेन का

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १६९

२. हंसकुमार तिवारी – बंगला और उसका साहित्य, पृष्ठ ६० (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)

३. वर्णितं जयदेवकेन हरेरिदं प्रवणेन।
केन्दुविल्वसमुद्रसामवरोहिणी रमणेन।—(गीतगोविन्द, तृतीय सर्ग)

४. श्री भोजदेवप्रभवस्य वामा—
देवीसुतस्य श्री जयदेवकस्य
पराशरादि प्रियवन्धुकण्ठे
श्री गीतगोविन्दकवित्वमस्तु।—(गीतगोविन्द, द्वादश सर्ग)

५. वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धि गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुते।
शृंगारोत्तरसत्प्रमेय रचनैराचार्य्यवर्धन
स्पर्द्धी कोऽपिनविश्रुतस्त्रिभुवने धोयी कविः क्षमापति॥
—(गीतगोविन्द, प्रथम सर्ग)

राज्यारोहण १११६ ई० है। इससे इस समय के उपरान्त ही उनका राजाश्रय में आना प्रमाणित है।

जयदेव ने गीतगोविन्द के अन्तिम सर्ग में कहा है कि 'संगीतकला में निपुणता, वैष्णवभावना का प्राबल्य, शृंगार तत्वों का परिज्ञान, काव्य का चमत्कार यह सभी गुण सज्जनों को एक ही जगह कृष्णभक्त कवि जयदेव के 'गीतगोविन्द' में मिलेंगे।[1] उपर्युक्त गुणों में 'संगीत कला में निपुणता' और 'काव्य का चमप्कार' ये काव्य के कला पक्ष से तथा 'वैष्णव भावना का प्राबल्य' और 'शृंगार तत्वों का परिज्ञान' ये काव्य के भाव-पक्ष से सम्बन्धित हैं।

काव्य के उपर्युक्त दोनों अङ्गों पर विचार करने से जयदेव की विचारधारा पर प्रकाश पड़ सकेगा। जयदेव जगन्नाथ की-भगवान की-प्रतिमा के समक्ष गीत गाया करते थे। विवाहोपरान्त अपनी पत्नी पद्मावती के साथ वह इस कार्य को करने लगे। इस प्रकार 'गीतगोविन्द' गोविन्द के लिए गाए हुए गीतों का संग्रह है। गीत-गोविन्द के प्रभाव के सम्बन्ध में कितनी ही किंवदन्तियाँ हैं। यदि हम उनको छोड़ दें तो भी काव्य का अन्तस्साक्षय कवि की वैष्णव भावना को प्रमाणित करता है।

जयदेव ने काव्य के प्रथम सर्ग में भगवान के दशावतार की वन्दना की है। वन्दना की अन्तिम पंक्तियाँ देखिये—

श्री जयदेवकवेरिदमुदितमुदारं
शृणु सुखदं शुभदं भवसारं
केशव धृतदशविधरूप
जय जगदीश हरे !

अनन्तर कवि ने एक श्लोक में दशावतारी कृष्ण को पुनः नमस्कार किया है—

वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलि छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते
पौलस्त्यं जहते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

इसी भावना के साथ उनकी वे आस्था प्रधान पंक्तियाँ रखी जा सकती हैं जिनको कवि ने गीतों के अन्त में कल्याण भावना से अभिप्रेरित हो लिखा है।

गोपीनां निभृतंनिरीक्ष्य गमिताकांक्षश्चिरं चिन्तयन्
अन्तर्मुग्धमनोहरं हरतु वः क्लेशं नवः केशवः

---

१. यद् गान्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं च यद वैष्णवं
यत् शृंगारविवेकतत्वमपि यत् काव्येषु लीलायितं
तत् सर्वं जयदेवपंडित्क्वेः कृष्णैकतानात्मनः
सानन्दा परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः—(गीतगोविन्द, १२ सर्ग)

सम्मुग्धं मधुसूदनस्य मधुरे राधामुखेन्दौ मृदु—
स्पन्द कन्दलिताच्चिरं दधतु वः क्षेमं कटाक्षोर्मयः ।

जयदेव की वैष्णव भावना के समान उसमें शृंगार-तत्त्वों का समावेश भी पूर्ण प्रकार से है । लौकिक शृंगार का प्रत्येक अङ्ग उसमें प्रस्तुत है । राधा-कृष्ण की काम-केलि, परिरंभन, विलास आदि सभी कुछ कवि द्वारा वर्णित किया गया है ।[१] इन शृंगार-तत्वों के कारण विवेचक उसे अश्लील और नग्न-वर्णन कहते हैं । इसी से इसे वैष्णव भावना का काव्य न मानकर वे शृंगार-काव्य मानते हैं ।

इस स्थल पर निष्कर्ष रूप से हमें यह कहना है कि शृंगार तत्वों के कारण हम इस काव्य को वैष्णव भावना से दूर नहीं ले जा सकते । यह निर्णय हमारा न होकर स्वयं कवि का है । डा० ग्रियर्सन तथा काव्य के अन्य समर्थकों के समान राधा-कृष्ण को आत्मा-परमात्मा का प्रतीक मानना विशेष बौद्धिक प्रतीत होता है । हम उससे सहमत नहीं हैं । यह सम्भव है कि कवि के रचना-काल में आध्यात्मिक भावनाओं के साथ इस प्रकार की भावनाओं का वर्णन अनुचित और अश्लील न समझा जाता हो ।

अब काव्य के कलापक्ष पर विचार करना है । जहाँ तक काव्य के चमत्कार का प्रश्न है उसमें यमक और अनुप्रास की सुन्दर और ललित छटा विद्यमान है । मधुर और प्रासादिक शब्दों की योजना करने में कवि बड़ा ही निष्णात है । द्वित्व शब्द विरहित गीतगोविन्द की रसासिक्त पंक्तियाँ बड़ी ही मधुर और प्रिय लगती हैं । अब रहा काव्य में संगीत का पक्ष । वह भी इसमें पूर्ण रूप से सरल उतरा है । कवि ने अपने से पूर्व सिद्धों और निर्गुणियों की गीति-शैली को अपनाकर राधा-कृष्ण के वियोग और संयोग के गीत विविध राग-रागनियों में बद्ध किए हैं ।

गीतगोविन्द में मालव-गौड़, गुर्जरी, वसन्त, रामकिरी, कर्णाट, देशाग, देशी वराड़ी, गोंडकिरी, मालव, देश वराड़ी, भैरवी, वराड़ी, विलास आदि राग-रागनियाँ एवं रूपक, नि:सार, यति, एक ताल, एक ताली, अष्ट आदि तालों का प्रयोग किया गया है ।

वसन्त के दिन थे । राधाकृष्ण को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते हार गई ; किन्तु कृष्ण के न प्राप्त होने पर वह हार खाकर बैठ गई । काम-ज्वर पीड़िता राधिका से सखी सरस शैली में वसन्त-सौन्दर्य का वर्णन कर रही है—

वसन्त राग-यति ताल

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमल मलय समीरे
मधुकरनिकरकराम्बितकोकिलकूजिताकुञ्जकुटीरे
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते

---

१. जयदेव—गीतगोविन्द, षष्ठ सर्ग, द्वादश सर्ग आदि

नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते
उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे
अलिकुलसंकुलकुसुमसमूहनिराकुलवकुलकलापे
मृगमदसौरभरभसवशम्वदनवदलसमालतमाले
युवजन हृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुक जाले
मदनमहीमतिकनकदंडरुचिकेशरकुसुम विकासे
मिलितशिलीमुखपाटलि पटलकृतस्मरतूण विलासे
विगलितलज्जितजगदवलोकनतरुणकरुणकृतहासे
विरहिनिकृन्तनकुन्तमुखाकृतिकेतकिदन्तुरिताशे
माधविकापरिमलललिते नवमालिकयातिसुगन्धौं
मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ
स्फुरदतिमुक्तलतापरिरम्भणपुलकित मुकुलित चूते
वृन्दावन विपिने परिसरपरिगतयमुनाजलपूते
श्री जयवेवभणितमिदमुदयति हरिचरणस्मृतिसारं
सरसवसन्तसमयवनवर्णनमनुगतमदनविकारं ॥

कृष्ण के विरह का वर्णन सखी राधा से कहती है—

देशी वराड़ी राग—रूपक ताल

वहतिमलयसमीरे मदनमुपनिधाय
स्फुटति कुसुमनिकरे विरहिहृदयदलनाय
सखि हे, सीदति तव विरहे वनमाली
दहति शिशिरमयूखे मरणमनुकरोति
पतति मदनविशिखे विलपति विकलतरोऽति
ध्वनित मधुपसमूहे श्रवणमपिधाति
मनसि वलितविरहे निशि निशि रुजमुपयाति
वसति विपिनविताने त्यजति ललितमपि धाम
लुठति धरणिशयने बहु विलपति तवा नाम
भणति कवि जयदेवे हरिविरहविलासितेन
मनसि रभसविभवे हरिरुदयतु सुकृतेन ।

काव्य-सौष्ठव से परिपूर्ण जयदेव की यह गीति-शैली भारतीय साहित्य और धर्म को अपूर्व देन है । उनके गीतगोविन्द से ही राधा-कृष्ण के सम्मिलित स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई । उनके काव्य में समाहित मधुर भावनाओं के अनुकरण पर राधा-कृष्ण की लीलाओं का गान सम्पूर्ण देश में हो उठा और उनके द्वारा प्रतिपादित गीति-शैली कृष्ण-काव्य का एक प्रमुख अङ्ग मान ली गई । इस भाव और शैलीगत विशेषताओं

के कारण जयदेव का भारतीय संस्कृति पर बहुत बड़ा आभार है।

विद्यापति-पदावली

विद्यापति ने अपनी पदावली की रचना से जयदेव के गीतगोविन्द में राधा-कृष्ण की व्यवहृत परम्परा को व्यापक बनाया। पदावली की लोकप्रियता के कारण मिथिला के होते हुए भी बंगाल ने उन्हें अपना सफल कवि कहा और हिन्दी-भाषी उत्तर प्रदेश ने उन पर अपना अधिकार सिद्ध किया। सच तो यह है कि पदावली में समाहित अप्रतिम मधुरता के कारण वह एक विशेष प्रान्त के होते हुए भी सम्पूर्ण राष्ट्र के हैं।

उनकी पारिवारिक परम्परा मिथिला के राज-वंश से सम्बन्धित थी। वह स्वयं राजाश्रय में रहते थे; किन्तु हिन्दी की वीरगाथा और रीतिकाल के कवियों के समान उनके काव्य में अधिपतियों की चाटुकारिता में वाणी निष्फल नहीं हुई। इसी से उनके काव्य में सार्वजनीन भावना का उत्कर्ष प्राप्त होता है।

'कीर्तिलता', 'कीर्तिपताका', 'भूपरिक्रमा', 'पुरुष परीक्षा', 'लिखनावली', 'शैव-सर्वस्वसार', 'गङ्गावाक्यावलि', 'दानवाक्यावली', 'विभागसार', 'वर्षकृत्य', 'गयापत्तन' आदि उनकी विविध प्रकार की रचनाएँ हैं। यों तो इन सभी रचनाओं की अपनी महत्ता है; किन्तु उनका दिग-दिगन्त तक व्यापक यश केवल उनकी पदावलियों पर ही आधारित है।

राधा-कृष्ण के प्रेम-गान के लिए विद्यापति असन्दिग्ध रूप से जयदेव के आभारी हैं; किन्तु उन्होंने अपनी कोकिल-वाणी से प्रेम की नवीन उद्‌भावनाओं को देश के कोने-कोने तक में ध्वनित कर दिया, इसका श्रेय उन्हीं को है। उनकी राधा-भावना जगत की अपूर्व सृष्टि हैं। उनकी पदावली की मधुरिमा को बंगाल में चण्डीदास ने व्यापकता दी।[1] महाप्रभु चैतन्य ने उसको अपना कीर्तन-गान का आधार बनाया। उनके द्वारा पदावली की यह प्रतिष्ठा हिन्दी के अष्टछाप के कवियों को भी मान्य हुई। सच तो यह है कि उनकी इन पदावलियों ने देश को विशेष रूप से रसाप्लावित कर दिया।

विद्यापति की पदावली के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि उसके दो भाव हैं—(१) शृंगारी पद और (२) भक्ति-पद। प्रथम प्रकार के पदों में राधा-कृष्ण के संयोग-वियोग के अमर पद हैं, जिनमें मानवीय प्रेम का उद्दाम स्वरूप है। इन्हीं पदावलियों को जयदेव की शृङ्गारिक रति-भावना को अग्रसर करने का श्रेय है। राधा-कृष्ण की इन प्रेम-लीलाओं में आत्मा-परमात्मा का रूपक बाँधना, पदावलियों के साथ अन्याय है। इन पदावलियों में वैष्णव भावना ढूंढ़ने वाले सहृदय कह सकते

---

१. हंसकुमार तिवारी—बंगला और उसका साहित्य, पृष्ठ ५८-५९

हैं कि यह तो एक महाकवि की भावनाओं की उपेक्षा है। इस स्थल पर उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि विद्यापति वैष्णव न होकर शैव थे। उनकी आस्था का स्वरूप उनके द्वितीय प्रकार के पदों में विद्यमान है। इस भाग में शिव, दुर्गा, गङ्गा आदि की स्तुतियाँ आती हैं। प्रथम प्रकार के गीत यदि मनोरंजनों और विवाहोत्सवों में गाए जाते हैं तो द्वितीय प्रकार के गीत धार्मिक कृत्यों के अवसर पर।

अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
अपने गुन लुबुधाई ।

यदि उपर्युक्त पंक्तियों में शृंगार का सार्थक स्वरूप विद्यमान है तो—

करवन हरब दुख मोर
हे भोलानाथ ।
दुखहि जनम मेल दुखहि गमाएब
सुख सपनहु नहिं मेल, हे भोलानाथ ।

इन सर्व सुलभ पंक्तियों से आज भी मैथिल अपने जीवन के पापों और अभावों का प्रक्षालन कर डालना चाहता है।

इन पदावलियों में सच तो यह है कि मानवीय भावनाओं का एक ताना-बाना बुना हुआ है, जिससे उनमें सभी श्रेणी के व्यक्तियों के लिए आकर्षण है।

विद्यापति कवि ही न होकर एक सफल संगीतज्ञ भी थे। इसी से उनके दोनों स्वरूप उनकी पदावलियों में स्पष्ट हो उठे हैं। उन्होंने अपनी पदावलियों में मालव, धनछी, आसावरी, मलारी, मालवी, सामरी, अहिरानी, केदार, कानल, कोलार, सारङ्गी, गुंजरी, वरली, ललित, नट, विभास, वसन्त आदि आदि राग-रागनियों को प्रयुक्त किया है।

कृष्ण (नायक) राधा (नायिका) को छोड़कर किसी अन्य स्त्री में अनुरक्त हो गये हैं। इस दशा में दूती नायिका को धैर्य-धारण का सन्देश प्रदान करती है—

मालव रागे

पुरुब जत अपुरुब भेला समय
वसे सेहजो दूर गेला ॥ १ ॥
काहि निवेदजो कुगत पहू
परम हो पर-रत ओ लहू ॥ २ ॥ ध्रुवं ॥
तोहँहु मानवि ओ अभिमानी
परजना ओ वड भय हानी ॥ ३ ॥
हृदय-वेदन राखिअ गोए

जे किछु करिअ भुजिअ सोए ॥ ४ ॥
सवहि साजनि धैरज सार
नीरस कह कवि कण्ठहार ॥ ५ ॥[1]

कवि ने उपर्यक्त गीत में अपने लय के स्थान पर अपनी उपाधि 'कण्ठहार' का उपयोग किया है।

दूती राधिका को संकेत करती है कि चरणों के नूपुरों और मुखरित मेखला की ध्वनि को बन्द करके काले वस्त्र से शरीर को आवृत कर अन्धकार के मार्ग पर चल। शीघ्र ही चल अन्यथा चकोर रूपी 'पिसुन-लोचन' तुझे देख लेंगे। अलकों और अङ्गों की साज-सज्जा मत कर, ये सब तुझे वाधक हो उठेंगी। तू प्रेमिका है वह प्रेमी है फिर भूषणों की आवश्यकता क्यों? प्रिय-मिलन के लिये उत्सुका अभि-सारिका राधा की दूती का कथन देखिये—

कानल रागे

चरण नुपूर उपर सारी मुखर मेखल करे निवारी ॥१॥
अम्बरे समरि देह झपाई चलहि तिमिर तिमिर पथ(हि) समाई ॥२॥ध्रुवं॥
समुद-कुमुद-रभस-रसी अबहि उगत कुगत ससी ॥३॥
आएल चाहिअ सुमुखि तोरा पिसुन-लोचन भम(ए) चकोरा ॥४॥
अलक-तिलक न करब राधे आङ्ग-विलेपन करहि बाधे ॥५॥
तजे अनुरागिणि ओ अनुरागी दूषण लागत भूषण लागी ॥६॥
भने विद्यापति सरस-कवि नृपति-कुल-सरोरूह-रवि ॥७॥[2]

रति की सफलता के लिए विद्यापति ने राधा-कृष्ण के संयोग-वियोग के विविध चित्रण अपनी पदावली के द्वारा चित्रित किए हैं। मैथिली भाषा का सुलभ माधुर्य प्रेम की भावनाओं को सजीव कर देने में सफल हो उठा है। संगीतात्मकता, प्रासादि-कता, मधुरता और काव्य सौष्ठव से युक्त उनकी पदावलियाँ मिथिला की प्रादेशिक सीमा में ही न बँधकर सार्वदेशिक हो गई हैं।

१. शुद्धाद्वैती पुष्टि सम्प्रदाय में पद

सूरदास—जयदेव और विद्यापति में कृष्ण-राधा के शृङ्गारिक लीला-मात्र के स्रोत को देखकर जब सूर-विरचित सूरसागर पर दृष्टि जाती है तब अवाक् रह जाना पड़ता है। वह कितनी प्रतिभा लेकर जन्मे थे, सहसा सोच सकना कठिन है।

---

१. डा० सुभद्र झा—विद्यापति-गीत-संग्रह १६८२
२. डा० सुभद्र झा—विद्यापति-गीत-संग्रह ३०

माना, राधा-कृष्ण की काव्य परम्परा जयदेव और विद्यापति से उन्हें मिली थी; माना, दार्शनिक दृष्टिकोण उन्हें आचार्य वल्लभ से सुलभ हुए थे; माना, व्रजभाषा का आदर्श उन्हें पूर्ववर्ती कवियों से धरोहर स्वरूप मिला था; किन्तु ये सब सूर की भावना से कहीं पीछे छूट गए हैं। उन्होंने अपनी सरसता, मधुरता और भावुकता से इनको इतना सुन्दर बना दिया है कि व्रजभाषा में सभी लिखे जाने पर भी वह न लिखा गया जो सूर की वाणी के समकक्ष रखा जा सके।

सूर के पास कहने को अधिक नहीं था; किन्तु उन्होंने जो कहा—इतनी विविधता से कहा कि मानव उसका अन्य स्वरूप सोच ही नहीं सकता। उस विविधता को माधुर्य से रसासिक्त कर इस विश्वास और निष्कपटता से कहा कि सामाजिक को जरा भी पुनरुक्ति अखरती नहीं। आलंकारिक कवियों के समान शैली के सम्मोहन के लिए अलंकारों की कृत्रिम लड़ियाँ उन्होंने कहीं प्रस्तुत नहीं की। यों उनके पद उपमा, रूपक, उत्पेक्षा आदि से अलंकृत हैं, किन्तु वे कवि की भाव-धारा के साथ स्वयं आकर उसके आभारी हो उठे हैं। कवि के पास प्यारे की लीलाओं की मधुरता ही क्या कम थी, जो अलंकारों की ओर देखकर परमुखापेक्षी होता। फलतः श्रीनाथ के स्वरूप की सेवा में उनके नित्य और नैमित्तिक आचरणों में सम्मिलित होकर आस्था और भक्ति में निमग्न हो उन्होंने जो हरिलीला के गान किए उनका संग्रह ही सूरसागर के नाम से हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। उनके गीतों की सजीवता भी अद्वितीय है; उन्हें जन्मान्ध कहा जाता है। यदि वह जन्मान्ध होते तो हरिलीला में वैविध्य प्रस्तुत करने में उन्हें कठिनाई होती। चित्रण कहीं-न-कहीं खण्डित हो जाते और उस स्थिति में गीतों में रंगों की व्यवस्था देना सदैव अनुकूल न रहता। वह अन्धे तो थे; किन्तु जन्मान्ध न थे। जब अन्धे हुए तब उनको अन्तर्ज्योति मिल चुकी थी, यही समीचीन लगता है। इसी से सजीवता गीतों की चिरसंगिनी रही है।

पुष्टि मार्गीय भक्त कृष्ण के अनुग्रह से आभारी, और उसकी लीलाओं के माधुर्य में डूबा रहता है। इसके फलस्वरूप ही पुष्टिमार्ग में कृष्ण के जीवन के वात्सल्य और शृंगार की विशेष मान्यता है। प्रेम लक्षणा भक्ति होने के कारण जीवन के इन दो अंगों से माधुर्य की विशिष्ट अनुभूति हो सकती है, अन्यों से नहीं। इसी से सम्पूर्ण अष्टछाप के कवियों में इन्हीं दो अंकों के वर्णन पर विशेष बल दिया गया है। यों भक्त होने के नाते विनय की पदावलियों में दास्य और सख्य भाव की भावनाएँ भी मिलती हैं, उस दशा में भी इन भावनाओं को वह त्याग नहीं पाता है।

उनके सूरसागर में यों भागवत की पूर्ण कथा ही निबद्ध है; किन्तु कृष्ण के वात्सल्य और शृंगार के चित्रणों में ही सूरदास की अभिरुचि का परिचय मिलता है। अन्य स्थल तो कवि ने कथा की सम्बद्धता की आवश्यकता से लिख कर दिए हैं। वात्सल्य में कृष्ण के बाल जीवन के किसी भी चित्रण की उपेक्षा नहीं है। उसी प्रकार शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों को उन्होंने सफलता से अंकित किया

है। सभी ही वर्णन और विवरण मनमोहक और मर्मस्पर्शी हैं।

उपर्युक्त मधुर विषयों के साथ सूर ही क्या अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने भी गीति-शैली को ही हरि-लीला-गान का आधार बनाया है। इससे लीलाओं के माधुर्य की अभिव्यंजना द्विगुणित हो उठी है। गीति-शैली में विविध राग-रागनियों का ग्रहण किया गया है। सूरसागर में निम्न राग-रागनियों का प्रयोग मिलता है—

राग विलावल, कान्हरौ, मारू, धनाश्री, रामकली, नट, सारंग, केदारौ, मलार, परज, विहागरौ, गौरी, सौरठ, आसावरी, देवगंधार, टोड़ी, झिझौटी, विहाग, जैतश्री, अहीरी, नटनारायण, मुलतानी धनाश्री तिताला, मुलतानी तिताला, कल्यान, गूजरी, विभास, भैरो, भोपाली, वसंत, गौड़ी मलार, नायकी, गान्धार, काफी, जैजैवन्ती, रागिनी श्री हठी, सूहौ विलावल, सूहौ, ललित, नट नारायणी, गुंड मलार, गौड़, पूर्वी, सूही, गौड़ मलार, सुधरई, मेघ मलार, सूही विलावल, अड़ाना, परासी, मलार कमोद, विलावल रामकली, अड़ानौ, हमीर, गुन सारंग, पुरिया, गुनकली, राज्ञी हठीली, विलावल अलहिया, गुंड, देवसारव, ईमन, गंधारी, अलहिया, संकराभरन, कुरंग, कर्नाटी, वैराटी, मालकोस, सानुत, राज्ञी मलार, राज्ञी श्रीहठी, होरी, श्राहठी, श्री मलार, रागिनी टोड़ी, वसंती, रामगिरी, देसकार, धमार, देवगिरि, षटपटी आदि आदि।[1]

इनमें दो-चार राग ही ऐसे हैं जिनका न्यून प्रयोग हुआ है, अन्यथा सभी का प्रभूत मात्रा में उपयोग किया गया है। ये सब उनके महाकवित्व के साथ उनके प्रवीण संगीतज्ञ के स्वरूप को स्वतः सिद्ध करते हैं। हिन्दी काव्य में आज तक सूरदास के अतिरिक्त इतनी राग-रागनियों में कोई भी कवि गीत रचना नहीं कर सका है। राग-रागनियों के साथ वह भावनाओं को भी प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल हुए हैं। कुछेक स्थल दृष्टव्य हैं—

भक्त कवि भगवान् की सामर्थ्य की अनुभूति कर आश्वस्त हो जाता है। सोच लेता है, जीवन की निष्कृति अवश्यम्भावी है, फिर इतस्ततः भटकना कहाँ की बुद्धिमानी होगी। वह चिर-आत्म समर्पण कर देता है और उस स्थिति में विश्वास के साथ अपने पापों और लौकिक विकारों का मुक्त कण्ठ से उल्लेख कर भगवान् की कृपा की कामना करता है। सूर के 'विनय' से लिया हुआ आत्मनिवेदन का यह पद देखिए—

राग धनाश्री

माधौ जू, जौ जन तैं बिगरै।
तउ कृपाल, करुनामय केसव, प्रभु नहि जीय धरै।

---

१. सूरसागर, नागरी प्रचारिणा सभा संस्करण।

जैसे जननि-जठर-अन्तरगत सुत अपराध करै ।
तौउ जतन करै अरू पोषै निकसैं अंक भरै ।
जद्यपि मलय-वृच्छ जड़ काटै, कर कुठार पकरै ।
तउ सुभाव न सीतल छाँड़ै, रिपु-तन-ताप हरै ।
धर विधंसि नल करत किरषि हल, बारि, बीज विथरै ।
सहि सन्मुख तउ सीत-उष्न कौं, सोई सुफल करै ।
रसना द्विज दलि दुखित होति बहु तउ रिस कहा करै ।
छमि सब छोभ जु छाँड़ि, छवौ रस लै समीप सँचरै ।
कारन-करन, दयालु, दयानिधि, निज मय दीन डरै ।
इहिं कलिकाल-व्याल-मुख-ग्रासित सूर सरन उबरै ।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ११७

जीवात्मा अविद्या माया के प्रभाव से भटक उठी है ।

राग नट

आपुनपौ आपुन ही बिसर्‌यो ।
जैसै स्वान काँच-मंदिर मैं, भ्रमि-भ्रमि भूकि पर्‌यौ ।
ज्यौं सौरभ मृग-नाभि वसत है, द्रुम-तृन सूंघि फिर्‌यौ ।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ, तसकर अरि पकर्‌यौ ।
ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै, आपनु कूप पर्‌यौ ।
जैसें गज लखि फटिक सिला मैं, दसननि जाइ अर्‌यौ ।
मर्कट मूठि छाँड़ि नहिं दीनी, घर-घर-द्वार फिर्‌यौ ।
सूरदास नलिनी कौ सुबटा, कहि कौनैं पकर्‌यौ ।।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३६९

कृष्ण के लीला-गीतों में से एक सजीव गीतों की योजना की गई है । कृष्ण घुटनों के बल चलने लगे हैं । अपने प्रतिबिम्ब को पकड़ने के लिए दौड़ने में उनका ब्रह्मत्व छिप गया है—

राग बिलावल

बाल बिनोद खरो जिय भावत ।
मुख प्रतिबिंब पकरिबे कारन हुलसी घुटरुवनि धावत ।
अखिल ब्रह्मंड-खंड की महिमा, सिसुता माँहि दुरावत ।
सब्द जोरि बोल्यौ चाहत हैं, प्रगट बचन नहिं आवत ।
कमल नैन माखन माँगत हैं, करि-करि सैन बतावत ।
सूरदास स्वामी सुख-सागर, जसुमति-प्रीति बढ़ावत ।। —(वही—पद ७२०)

कृष्ण बड़े होने पर गोपियों के घर में घुसकर कभी किसी का मक्खन खाते हैं कभी उसे फेंक ही देते हैं। विविध प्रकार के उत्पातों से वे खीझ उठी हैं। अन्त में एक दिन वह पकड़ ही लिए गए। गोपियों से कृष्ण की करतूत सुनकर यशोदा उन्हें दण्डित करने के लिए अग्रसर होती हैं। कृष्ण की व्युत्पन्नमति का प्रमाण देखिए। पद में अभिनयात्मक तत्त्व कूट-कूट भर दिए गए हैं—

राग-रामकली

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचें धरि लटकायौ।
हाँ जु कहत नान्हे कर अपनें मैं कैसै करि पायौ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।
बाल-बिनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति प्रताप दिखायौ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख, सिव बिरंचि नहिं पायौ।।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ९५२

कृष्ण इन बाल-केलियों के मध्य में बड़े हो गए हैं। उनकी रूप-माधुरी अपना प्रभाव छोड़ने लगी है। गोपियाँ उनकी मुख-छवि के दर्शन के बिना आकुल हो उठती हैं। उनके रूप-सौंदर्य के समक्ष एक गोपी की विवशता देखिए—

राग अड़ानौ

मेरो मन गोपाल हर्‌यो री।
चितवत ही उर पैठि नैन-मग, ना जानौं धौं कहा कर्‌यौ री।।
मातु-पिता-पति-बंधु सजन जन, सखि आंगन सब भवन भर्‌यौ री।
लोक-वेद प्रतिहार, पहरुआ, तिनहूँ पै राख्यौ न पर्‌यौ री।।
धर्म धीर, कुलकानि कुंजी करि, तिहि तारौ दै, दूरि धर्‌यौ री।
पलक-कपट कठिन उर अंतर, इतेहुँ जतन कछुवै न सर्‌यौ री।।
बुधि-बिवेक-बल-सहित सँच्यौ पचि, सु धन अटल कबहूँ न टर्‌यौ री।
लियौ चुराइ चितै चित सजनी, सूर सोच तनु जात जर्‌यौ री।।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २४९०

पुष्टिमार्गीय भक्ति में वेद-विहित सिद्धान्त और लोक-मर्यादाएँ भक्त के लिए कोई व्यवधान प्रस्तुत नहीं कर सकतीं। भक्त भगवान के समक्ष खिंचा चला जाता है। इसी रूप माधुरी की अवस्था में सूर ने मुरली-माधुरी का भी उल्लेख किया है।

गोपियों ने सपत्नी-भावना में भरकर उसे बहुत कुछ उपालंभ दिए हैं।

कृष्ण जब घूमने-फिरने लगे हैं तभी उनका राधा से परिचय हो जाता है। राधा भी कम सुन्दरी नहीं है। दोनों प्रेम में आबद्ध हो जाते हैं। यह प्रेम का स्वाभाविक विकास ही कृष्ण-भक्ति की मधुरतम निधि है।

क्रीड़ा के लिए निकले कृष्ण ने एक दिन राधा को देख लिया। नेत्र गौर वर्ण की राधा की तन-छवि देखकर मुग्ध हो गए। साहस करके कृष्ण पूछ ही बैठे—

राग टोड़ी

> बूझत स्याम कौन तू गोरी।
> कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी॥
> काहे कौं हम ब्रज-तन आवतिं, खेलति रहति आपनी पौरी।
> सुनत रहतिं स्रवननि नँद-ढोटा, करत फिरत माखन-दधि-चोरी॥
> तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
> सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी॥

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १२९१

अब राधा कृष्ण के घर भी आने-जाने लगी है। यशोदा उनकी माँग-चोटी करती हैं, खाने को 'तिल, चाँवरी, बतासे, मेवा' देती हैं और कृष्ण के साथ खेलने की अनुमति भी देती हैं—

> खेलौं जाइ स्याम सँग राधा
> यह सुनि कुंवरि हरष मन कीन्हौं, मिटि गई अंतर-बाधा।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १३२३

अब राधा की यह स्थिति है—

> चित्त चंचल कुंवरि राधा, खान पान भुलाई।
> × × ×
> कबहुँ बिहँसति कबहुँ बिलपति सकुच रहति लजाइ।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १२९६

राधा जननी उसकी इस विचित्र स्थिति को देखकर उससे कह उठती है—

> लरिकिनी सबनि घर, तोसी नहि कोउ निडर,
> चलति नभ चितै नहिं तकति धरनी।
> लिखी मेटै कौन, करै करता जौन,
> सोइ ह्वैहै जु होनहारि करनी॥

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १३१९

संयोग के अनन्तर वियोग के क्षण घटित होते हैं। यह भी बड़ा मर्मस्पर्शी चित्रित किया गया है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर ब्रज की जो स्थिति है

वह वर्णनातीत है। सम्पूर्ण भ्रमर-गीत कृष्ण-विरह के सम्बन्ध में व्रज की वियोग गाथा है—

राग सोरठ

पिय बिन नागिनि कारी रात।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात॥
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिनु बिकली बिरहिनी, मुरि मुरि लहरैं खात॥

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३८९०

ऊधौ के पधारने पर ज्ञान का सन्देश प्राप्त कर गोपियाँ उत्तर-प्रत्युत्तर में उनसे बहुत कुछ कहती हैं। उनका प्रेम वस्तुतः ऊधौ के ज्ञान पर विजयी है। यह सब यद्यपि अव्यक्त रूप से पुष्टि सम्प्रदायी भक्ति की ज्ञान-योग पर सर्वोपरिता ही सिद्ध करने का प्रयत्न है; किन्तु उसमें गोपियों ने बड़ी विनम्रता और धैर्य के साथ ऊधौ जैसे ब्रह्म-ज्ञानी को निरुत्तर किया है। ऊधौ जहाँ अपना सिद्धान्त मनवाने के लिए आए थे, वहाँ गोपियों के अटूट प्रेम के भक्त होकर कृष्ण के समीप लौटते हैं। उनके चलने लगने पर राधा के अतिरिक्त सभी ने कृष्ण के लिए सन्देश भेजे हैं। राधा साहस ही न जुटा सकीं, जो अपने प्राण-प्रिय के लिए अपनी बात कह पातीं। यशोदा के सन्देश में वात्सल्य के सजीव चित्र हैं—

राग विलावल

जद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे, मोहन के मुख जोग।
प्रातकाल उठि माखन-रोटी को बिनु माँगें देहैं।
को मेरे वा कान्ह कुवर कौं, छिनु छिनु अंकम लैहैं॥
कहियौ पथिक जाइ, घर आवहु, राम कृष्ण दोउ भैया।
सूर स्याम कत होत दुखारी, जिनके मो सी मैया॥

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३७९१

दूसरा गीत भी दृष्टव्य है—

राग सारंग

सँदेसौं देवकी सौं कहियौ।
हौं तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ॥
जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतैं, माखन रोटी भावै॥

तेल उबटनो अरु तातो जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती, क्रम क्रम करिकै न्हाते।।
सूर पथिक सुनि मोहिं रैनि दिन, बढ़्यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन, ह्वैहै करत सँकोच।।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३७९३

कृष्ण के समीप पहुँचने पर ऊधौ ने ब्रज की दशा का उल्लेख किया। कहे हुए सन्देश भी कह दिए; किन्तु राधा का सन्देश न प्राप्त कर आकुलता से उनका हृदय छटपटा उठा। राधा जो सबसे अधिक उनके समीप थी, वही अपना सन्देश न भेज सकी। कृष्ण किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गए। ऊधौ कहें तो क्या कहें। सन्देश के स्थल पर वह राधा की वस्तुस्थिति का वर्णन कर उठे—

राग केदारौ

चित्त दै सुनौ स्याम प्रवीन।
हरि तुम्हारैं बिरह राधा, मैं जु देखी छीन।।
तज्यौ तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर रहत नाहीं, टाड़ भुज गहि लीन।।
जब संदेशौ कहन सुन्दरि, गवन मो तन कीन।
छुटी छुद्रावलि चरन अरुझी गिरी बल हीन।।
कंठ वचन न बोलि आवै, हृदय परिहस भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनौ, ग्रसित आपद दीन।।
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यौं परम साहस कीन।
सूर हरि के दरस कारन, रही आसा लीन।।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ४७२५

राधा का पूरा चित्र सूर ने उतार कर रख दिया है। 'नैन जल भरि रोइ दीनौ ग्रसित आपद दीन' —विवश हो वह दुःख के घूँट पीकर रह गई हैं। यों कृष्ण को कहने के लिए क्या उनके हृदय में भावनाएँ न थीं ? थीं, हृदय ही वियोग से उद्वेलित था फिर सन्देश क्यों न होते ? भावावेग ने उन्हें विवश कर दिया; फलतः सन्देश के स्थान पर अपने प्राण प्रिय के लिए अश्रु-बिन्दुओं की मूक भेंट ही भेजने में वह समर्थ हो सकीं। वस्तुतः राधा का चरित्र भारतीय ललना का प्रतीक बनकर प्रस्तुत हो सका है, जो अपनी तुलना में अद्वितीय है।

वस्तुतः राधा का चरित्र स्वयं में पूर्ण है। उसकी पूर्णता के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं है। वह संयोगपक्ष में पूर्ण संयोगिनी है और वियोग में पूर्ण वियोगिनी। कुरुक्षेत्र के युद्ध में अनन्तर कृष्ण और राधा का एक बार फिर मिलन हुआ है—

राग धनाश्री

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥
माधव राधा के रँग रांचे, राधा माधव रँग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर रसना करि सो कहि न गई॥
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अन्तर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज बिहार नित नई-नई॥

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ४९१०

कृष्ण आए, राधा से मिलन भी हुआ; किन्तु उनके चले जाने पर राधा के हृदय की विवशता उसके अन्तरतम को फिर कचौट उठी है—

राग धनाश्री

करत कछु नाहीं आजु बनी।
हरि आए हौं रही ठगी सी, जैसैं चित्र धनी॥
आसन हरषि हृदय नहिं दीन्हौं, कमल कुटी अपनी।
न्यौछावर उर, अरघ न नैननि जलधारा जु बनी॥
कंचुकी तैं कुच कलस प्रगट ह्वै, टूटि न तरकि तनी।
अब उपजी अति लाज मनहिं मन, समुझत निज करनी॥
मुख देखत न्यारी सी रहि गई, बिनु बुधि मति सजनी।
तदपि सूर मेरी यह जड़ता, मंगल माहिं गनी॥

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ४९११

राधा का चित्र वस्तुतः बड़ा ही मधुर और आनन्दपूर्ण है।

सूर के गीतों तथा अन्य कृष्ण भक्ति काव्य का आनन्द लेने के लिए यह समझ रखना आवश्यक है कि भगवान का गोलोक ही गोकुल है। गोपियाँ कृष्ण के आनन्द तत्व को व्यापक बनाने वाली शक्तियाँ हैं और राधा आनन्द की सिद्ध शक्ति है। इसी से कृष्ण सब रस-शक्तियों के मध्य में आनन्द की सिद्ध शक्ति राधा के वश में रहते हैं। यह तथ्य समझे बिना सूर अथवा अन्य वैष्णव भक्त के काव्य का यदि हम आनन्द लेना चाहेंगे तो कवि के साथ अन्याय हो जाने की आशंका है।

सूर ने कृष्ण की लीलाओं के गान में लोक-जीवन का कहीं भी परित्याग नहीं किया है। इसी विशेषता के कारण उनके चित्रण चिर-परिचित से प्रतीत होते हैं। इसके साथ ही अपनी सरलता और प्रासादिकता के कारण वे किसी भी सहृदय को आकर्षित करने में समर्थ हैं। इन सभी सफलताओं के प्रमुख आधारों में एक आधार उनकी गीति-शैली का है। भक्ति से सिक्त उनका हृदय कृष्ण की मधुर लीलाओं का

श्रीनाथ के स्वरूप के समक्ष स्वच्छन्दता से गान करता हुआ अपनी अर्चना और वन्दना करता चला है । चर्म चक्षु जा ही चुके थे, भगवान ने अन्तर्ज्योति दे ही दी थी, फिर उनके लिए अभाव हो क्या था ? इसी से अपने पदों के द्वारा वह जो दे सके हैं वह हृदय को गुदगुदा देता है । वस्तुतः उनका गीति-साहित्य हिन्दी की अपूर्व निधि है ।

नन्ददास

बिट्ठलनाथ इनके दीक्षा गुरु थे । पुष्टि सम्प्रदाय में अष्टछाप कवियों के मध्य में सूरदास के अनन्तर इन्हीं का नाम प्रतिष्ठित है । 'वार्ता' के आधार पर यह तुलसीदास के छोटे भाई थे, किन्तु इसका साहित्यिक अथवा ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है । यह अवश्य सत्य है कि यह सूरदास और तुलसीदास के समकालीन थे । सूर और तुलसी को समान सिन्धुनद ग्राम की खत्रानी पर आसक्त होने की एक प्रेम-कथा इनसे भी सम्बन्धित है ।

इनमें मौलिक काव्य रचने की पूर्ण प्रतिभा थी । इसी से 'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया' कहा जाता है । रासपंचाध्यायी, अनेकार्थमंजरी, भँवरगीत, अनेकार्थ-माला आदि इनके प्रमुख काव्य हैं । इनके लिखे हुए कुछ पद भी मिले हैं ।

'रास पंचाध्यायी' में भागवत के २९ से ३३ वें अध्याय तक के पाँच अध्यायों के आधार पर रास-लीला का वर्णन प्रस्तुत किया गया है । अनुप्रास युक्त जयदेव की 'गीतगोविन्द' शैली पर इसकी रचना हुई है । रोला छन्द के साथ कहीं-कहीं दोहा का भी प्रयोग हुआ है ।

"माधुर्य की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में रास-पंचाध्यायी सर्वश्रेष्ठ है । यदि तुलसी की कविता भागीरथी सी और सूर की पदावली यमुना के सदृश है तो नन्ददास की मधुर कविता सरस्वती के समान होकर कविता-त्रिवेणी की पूर्ति करती है ।"[१]

'भँवरगीत' इनकी द्वितीय महत्वपूर्ण रचना है । यह सूरदास की 'भ्रमरगीत' परम्परा में लिखा हुआ गीत-काव्य है । नन्ददास ने रोला और दोहा दोनों छन्दों को समन्वित कर दस मात्रा की पंक्ति जोड़कर पंक्तियों का प्रवाह सुखद कर दिया है । डा० रामकुमार वर्मा ने रोला और दोहा के समन्वित छन्द को सूरदास के भ्रमरगीत से लिया सिद्ध किया है और दस मात्रा की पंक्ति को नन्ददास की मौलिक उद्भावना कहा है ;[२] किन्तु यह असंगत है । सूरदास के काव्य में इसी छन्द में दान-लीला के संघर्ष का एक सजीव और सुरुचिपूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया गया है ।[३] सूरसागर के उक्त चित्रण में राधा और कृष्ण का परस्पर का संवाद है । भ्रमरगीत में भी गोपियों और

१. डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५५९
२. डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५६१
३. सूरसागर (ना० प्र० सभा संस्करण) पद २२३६

उद्धव के मध्य में वार्तालाप की योजना है। इसी से नन्ददास ने उसको अपने भँवर-गीत के लिए उपयुक्त समझा है। सूरसागर के इस पद के राग का नाम 'राग राज्ञी हठीली' अंकित है। फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि नन्ददास का 'भँवरगीत' भी उक्त राग में लिखा हुआ गीति-काव्य है।

हठ छाँड़ौ नन्दलाल, दान तुमको नहिं देहैं।
बिना कहैं ब्रज-लोग, कहा काहूँ पतिऐहैं ॥
लाज नहीं तुम आवई, बोलत हौ सतराई।
कहूँ कंस सुनि पाइहै, गहत फिरौगे पाइ ॥ कहति ब्रजनागरी ॥
सुनत हँसे नंदलाल, ग्वारि जिप तामस मान्यौ ॥
सींच्यौ अमृत बैन, कोप करषत नहीं जान्यौ ॥
कहाँ बसित हौ नागरि, सो पुर मुग्ध गँवार।
ब्रज-बासी कह जानहीं, तामस कौ व्यवहार ॥ कहत नँदलाडिले ॥

सूर-सागर (सभा संस्करण) पद २२३६

नन्ददास का भँवरगीत असन्दिग्ध रूप से एक सफल रचना है। सूरदास के भ्रमर-गीत से इसकी अलग विशिष्टता सिद्ध है। सूरदास की गोपियाँ और राधा अपने प्रेम के बल से ऊधौ को निरुत्तर करती हैं जब नन्ददास की गोपियाँ तर्क और युक्ति के बल पर। सच तो यह है कि नन्ददास की गोपियाँ मुखर हो गई हैं। आलोच्य भँवर-गीत में बिना किसी भूमिका के ऊधौ अपना सन्देश कहना प्रारम्भ कर देते हैं और गोपियाँ उत्तर देने लगती हैं। संवाद अभिनयात्मक हैं।

जो उनके गुन होंए वेद क्यौं नेति बखानैं ?
निरगुन सगुन आत्म रचि ऊपर सुख मानैं।
वेद पुराननि खोजिकै, पायो कितहुँ न एक।
गुन ही के गुन होहि ते, कहौ अकासहि टेक ॥ सुनो ब्रजनागरी ॥
जो उनके गुन नाहिं, और गुन भए कहाँ तें।
बीज बिना तरु जमैं, मोहि तुम कहौ कहां तें।
वा गुन की परछाँह री, माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भए, अमल बारि मिलि कीच ॥
सखा सुन स्याम के ॥

इसी प्रकार ऊधौ और गोपियों में उत्तर-प्रत्युत्तर चलता है। एक पक्ष ज्ञान पर डटा है तो दूसरा ज्ञान की युक्ति को काटकर कृष्ण के प्रति अपने अनन्य प्रेम की सर्वोपरिता सिद्ध करता है। पुष्टिमार्गीय दर्शन से जीवात्मा की कल्पना के लिए भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। यह सिद्धान्त ही इस भँवरगीत में प्रमाणित किया गया है।

नन्ददास ने पद-शैली में भी रचनाएँ की हैं। राम-कृष्ण के सम्मिलित नामों के स्मरण का कवि का आग्रह देखिए—

राग भैरव

राम कृष्ण कहि! उठि भोर।
वे अवधेश धनुष कर धारे, यह ब्रज-माखन-चोर ।।
उनके छत्र, चँवर, सिंहासन, भरत, सत्रुहन, लछमन जोर ।।
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर, नित गायन सँग नँदकिसोर ।।
उन सागर में सिला तराई, इन राख्यौ गिरि नख की कोर ।।
नंददास प्रभु सब तजि भजिए, जैसे निरतत चंद चकोर ।।

ब्रजरत्नदास—नन्ददास ग्रन्थावली, पदावली २

कृष्ण और गोप-ग्वालों के कारण नन्द-ग्राम की विशिष्ट शोभा है। वहाँ कृष्ण सभी को सुलभ हैं इसीसे देव और महामुनि भी अपना आवास बनाए हैं। ब्रज-महिमा का उल्लेख देखिए—

राग बिलावल

नँद-गाउँ नीकौ लागत री।
प्रात समे दधि मथत ग्वालिनी, विपुल मधुर धुनि मन जागत री ।।
धन गोपी, धन ग्वाल सँग ब्रज के, जिनके मोहन उर लागत री ।।
हलधर संग सखा सब राजत, गिरिधर लै दधि माँगत री ।।
जहाँ बसत सुर, देव, महामुनि, एको पल नहिं त्यागत री।
'नंददास' प्रभु कृपा का ईहिफल, गिरिधर देख मन जागत री ।। वही—२१

गोवर्द्धन लीला के अन्तर्गत निम्न गीत बड़ा ही भावुकतापूर्ण है। गोवर्द्धन को हाथ पर धारण किया होने में कृष्ण को बहुत विलम्ब हो गया। सखी में संवेदना जागृति हुई। फलस्वरूप कृष्ण को भी परिहास सूझ उठा—

राग अड़ानो

अब नैंकुं हमहिं देहु कान्ह, गिरिबर।
तुम्हें लयैं बड़ि बार भई है, दूखि उठे ह्वै हैं कोमल कर ।।
मति डिग परै दबै सब ब्रज जन भयो है हाथ पै अति भर।
तब कैसें इहि बदन देखिहैं तातैं जिय में बड़ो यही डर ।।
जानि सखनि कौ हेत सु मोहन दयो नवाय नैंकु अपनो कर।
'नंददास' प्रभु भुजा लटक गईं तबै हँस नागर नगधर वर ।।

—वही—११७

दोलोत्सव में राधा-कृष्ण को गोपियाँ भुला रही हैं। वह दृश्य बड़ा ही मधुर है।

राग सारंग

ब्रज की नारी डोल झुलावैं।

सुख निरखत मन में सचु पावैं, मधुर मधुर कल गावैं ॥
रतन खचित सिंहासन सोभित मनौ काम की डोरि ।
बैठे स्यामा स्याम झुलत हैं नील-कमल पिय राधा गोरी ॥
सूरत मूरत दोउ रसीली उपमा नहिं सम तोल ।
नंददास प्रभु को सुख निरखत दंपति झूलत डोल ॥

—वही—१६५

नन्ददास ने भी सूरदास के समान कृष्ण सम्बन्धी लीलाओं का पदों में गान किया है। इसके लिए उन्होंने परम्परागत राग-रागनियों की मधुर शैली ही ग्रहण की थी। उनकी पदावलियों में निम्न राग-रागनियों का प्रयोग हुआ है—

राग भैरव, विभास, रामकली, सारंग, हमीर, देवगंधार, बिलावल, मारू, धनाश्री, मलार, आसावरी, काफी, जैजैवंती, रायसौ, पुरबी, टोड़ी, ईमन, केदारो, कल्याण, अड़ानो, केदार, चौताल, नट, विहाग, गौरी, गौड़ी, पंचम, ललित, ध्रुव-पद, मालकोस, सारंग, नायकी, विहागडो, कान्हरा, मल्हार, वसन्त आदि आदि।

कृष्णदास (सं० १५६० वि०—१६६५ वि०)

कृष्णदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। अष्टछाप के कवियों में आपका सूरदास और नन्ददास के अनन्तर नाम आता है। आप शूद्र जाति के थे। 'जुगलभान-चरित्र', 'भ्रमरगीत' और 'तत्व निरूपण' आपके काव्य हैं। आपने राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगारपरक पदों की रचना की है।

भगवान् की' पुष्टि प्राप्त कर भक्त कवि की माया का उन्मूलन हो गया है और वेद-विहित मार्ग सुदृढ़ हो गया है।

देवगंधार

जब तें स्याम-सरन हौं पायो।
तब तें भेंट भई श्री वल्लभ, निज पति नाम बतायो ॥
और अविद्या छाँड़ि मलिन मति, स्तुतिपथ आइ दृढ़ायो।
'कृष्णदास' जन चहुँ जग खोजत, अब निहचै मन आयो ॥

—(व्रजमाधुरी सार-कृष्णदास—१)

कृष्ण की व्यापक रूप-माधुरी ने उन्हें अपना अनन्य बना लिया है अब वह कहीं अन्यत्र देखना भी नहीं चाहते हैं।

गौरी

मो मन गिरिधर-छवि पै अटक्यौ।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकैं, चिबुक चारु गड़ि षटक्यौ ॥

सजल स्यामघन-वरन लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यौ।
'कृष्णदास' किए प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यौ ॥
—(व्रजमाधुरी सार, कृष्णदास—७)

रास-क्रीड़ा का चित्र भी कवि ने बड़ी सरस भाषा में प्रस्तुत किया है—

विभास

रास-रस गोविंद करत बिहार।
सूर-सुता के पुलिन रम्य महँ फूले कुंद-मँदार ॥
अद्भुत सतदल विकसित कोमल, मुकुलित कुमुद कल्हार।
मलय पवन वह सारदि पूरनचन्द्र, मधुप झंकार ॥
सुघरराय संगीत-कलानिधि, मोहन नन्द कुमार।
व्रजभामिनि-सँग प्रमुदित नाचत, तन चरचित घनसार ॥
—(व्रजमाधुरी सार, कृष्णदास—३)

इन कतिपय उदाहरणों से स्वतः प्रमाणित है कि कृष्णदास ने पद-शैली की परम्परा को कृष्ण-भक्ति-काव्य में अग्रसर किया है।

परमानन्ददास (रचनाकाल—१६०६ वि०)

श्री वल्लभाचार्य के बड़े कृपा-पात्र शिष्य थे। यह कन्नौज निवासी थे। इनका 'परमानन्द सागर' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें ८३५ पद हैं। 'परमानन्द जी का पद' 'दानलीला' और 'ध्रुवचरित्र' इनके अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हुए हैं। इन्होंने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का वर्णन किया है। इनके पद बड़े ही सरस और भावपूर्ण है।

निम्न पद में भक्त का सच्चा मनोराज्य विचारणीय है। व्रज के मनोरम वातावरण के समक्ष उन्हें वैकुण्ठ भी उपेक्षणीय है—

कहा करौं वैकुण्ठहि जाय।
जहँ नहि नंद जहाँ न जसोदा, जहँ नहि गोपी ग्वाल न गाय ॥
जहँ नहि जल जमुना कौ निरमल, और नहीं कदमन की छाय।
परमानंद प्रभु चतुर ग्वालिनी, व्रजरज तजि मेरी जाय बलाय ॥
—(व्रजमाधुरी सार, परमानन्ददास—१)

कृष्ण के विरह के कारण यशोदा तथा व्रज की बड़ी करुण दशा है। पद की स्वाभाविक मार्मिकता प्रभावोत्पादक है—

व्रज के विरही लोग बिचारे।
बिनु गोपाल ठगे से ठाढ़े, अति दुर्बल तन हारे ॥
मात जसोदा पंथ निहारत, निरखत साँझ-सकारे।

जो कोई कान्ह-कान्ह कहि बोलत, अँखियन बहत पनारे।
यह मथुरा काजर की रेखा, जे निकसे ते कारे।
परमानंद स्वामी बिनु ऐसे, ज्यों चंदा बिनु तारे ।।

—(परमानन्ददास, २)

कवि के भक्ति-निष्ठ हृदय से अनुभूत भावनाएँ पदों के द्वारा स्वाभाविक मधुरता से प्रवाहित हो उठी हैं। इनके पद वैष्णव भक्त प्रायः गाते हैं।

कुंभनदास (रचनाकाल—१६०६ वि०)

ये वल्लभाचार्य के शिष्य परमानन्ददास के समकालीन थे। आपकी कविता बड़ी ही रसीली और भावपूर्ण है। आप स्वयं अच्छे गायक भी थे।

'वार्ता' के आधार पर यह प्रमाणित है कि एक बार अकबर ने इनको फतहपुर सीकरी बुलाया था। आप वहाँ गए अवश्य; किन्तु आपको इसका आजन्म पश्चात्ताप रहा—

संतन कौ कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पन्हैयाँ टूटी, बिसार गयौ हरि-नाम।
जाकौ मुख देखैं दुख लागै, ताकों करिबै परी सलाम।
'कुंभनदास' लाल गिरधर बिन, और सबै बेकाम ।।

—(ब्रजमाधुरी सार-कुंभनदास, ५)

कृष्ण की रूप-माधुरी के प्रभाव का एक गोपी कथन कर रही है—

आवत मोहन मन जु हर्यौ है।
हौं गृह अपने सचु सों बैठी, निरखि बदन सर्बसु बिसर्यौ है ।।
रूप-निधान, रसिक नँदनंदन, उमंग्यौ हिय धीरजन धर्यौ है।
'कुंभनदास' प्रभु गोवर्द्धनधर, अंग अंग प्रेम-पीयूष भर्यौ है ।।

—(कुंभनदास, ३)

चतुर्भुजदास—गोसाईं विट्ठलनाथ के आप शिष्य थे। 'द्वादशयश' 'भक्ति प्रताप', 'हितजू को मंगल' आपकी रचनाएँ हैं।

जसौदा ! कहा कहौं हौ बात ?
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहि जात ।।
भाजन फोरि, ढारि सब गोरस, लै माखन दधि खात।
जौ बरजौं तो आँखि दिखावै, रंचहु नाहि सकात ।।
और अटपटी कहँ लौं बरनौं, छुवत पानि सों गात।
दास चतुर्भुज गिरधर गुन हौं कहति कहति सकुचात ।।

—(रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १७९)

छीतस्वामी—(रचनाकाल-१६१२ वि०)—आप विट्ठलनाथ के शिष्य थे।

आपके पदों में भक्ति के तत्त्व पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। इनके रचित पदों में संगीतात्मकता पूर्ण रूप से सुरक्षित है—

राधिका स्याम सुन्दर को प्यारी।
नख सिख अंग अनूप बिराजत कोटि चंद दुति बारी।
एक छिन संग न छांड़त मोहन निरखि निरखि बलिहारी।
छीत स्वामी गिरिधर, बस जाके सो वृषभानु दुलारी॥
मेरी अंखियन देखो गिरिधर भावे।
कहा कहौं तोसों सुनि सजनी उतही को उठि धावे॥
मोर मुकुट कानन कुंडल ललि तन गति सब बिसरावे।
बाजूबंद कुंठ मणि भूषण निरखि निरखि सचु पावे॥
'छीत स्वामी, कटि छुद्र घंटिका नुपुर पद ही सुनावे।
इह छवि बसत सदा विठ्ठल उर मो मन मोद बढ़ावे॥

—(सोमनाथ गुप्त—अष्टछाप पदावली)

गोविन्द स्वामी (रचनाकाल १६००-१६२५ वि० के मध्य)—आप श्री विट्ठल नाथ के शिष्य थे और अच्छे संगीतज्ञ थे। तानसेन जैसे संगीतज्ञ भी कभी-कभी आपके गान सुनने के लिए आया करते थे। आपने स्फुट पदों की रचना की है।

कहा करें बैकुंठहि जाय।
जहँ नहीं कुंज लता अलि कोकिल मंद सुगंध न वायु बहाय॥
नहीं वहाँ सुनियत बंसी धुन, कृष्ण न मुरत अधर लगाय।
सारस हंस मोर नहि बोलत तहँ को बसिबो कौन सुहाय॥
नहीं वहाँ ब्रज वृन्दावन वीथन, गोपी नंद जसोदा माय।
गोविन्द प्रभु गोपी चरनन की ब्रजरज तजि वहाँ जाय बलाय॥

कवि की इन पंक्तियों में भक्ति का सच्चा मनोराज्य है। आराध्य से सम्बद्ध होने के नाते ब्रज का वातावरण उसे इतना प्रिय है कि वह वैकुण्ठ की भी कामना नहीं करता है।

अहो दधि मथति घोष की रानी।
दिव्य चीर पहरे दक्षिण को कटि किंकिनी रुनझुन बानी॥
सुत के करम गावति आनन्द भरि बाल चरित जानि जानी।
श्रम जल राजे बदन कमल पर मनहुँ सरद बरषानी॥
पुत्र सनेह चुचात पयोधर प्रमुदित अति हरसानी।
गोविन्द प्रभु घुटुरुनि चलि आए पकरी रई मथानी॥

यशोदा के वात्सल्य के साथ कृष्ण के बाल-रूप का मधुर और सजीव चित्रण कवि द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय

हितहरिवंश (रचनाकाल १६००-१.४० वि०)—आप मध्वानुयायी श्री गोपाल भट्ट के अनुयायी थे; किन्तु स्वप्न में श्रीराधिकाजी से मंत्र प्राप्त कर आप उन्हीं के भक्त होगए और अनन्तर आपने 'राधावल्लभीय सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया।

आप संस्कृत के अच्छे कवि थे। 'राधासुधा निधि' आपका संस्कृत का काव्य बड़ा ही मधुर है। आपने ब्रजभाषा में मधुर पद भी लिखे हैं, जिनका संग्रह 'हित-चौरासी' के नाम से प्रसिद्ध है।

आपने अपने सम्प्रदाय में कर्म और ज्ञान का खण्डन कर प्रेम-परक भक्ति पर ही विशेष बल दिया है। यों तो इस सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण दोनों की ही उपासना होती है; किन्तु राधा की उपासना शीघ्र ही फलदायिनी है, यह आपका विश्वास था। आपने अपने सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण की संयोग की लीलाओं का ही आश्रय लेने का संकेत किया है, वियोग की भावनाएँ इस सम्प्रदाय में मान्य नहीं हैं।

प्रेम भावना प्रधान होने के कारण आपके गीत बड़े ही सरस और मधुर हैं—

गौरी

(जैश्री) 'हित हरिवंश', प्रपंच वंच सब काल व्याल कौ खायौ।
यह जिय जानि स्याम स्यामा पद कमल संग सिर नायौ।।

—(ब्रजमाधुरी सार—हितहरिवंश-१)

राधिका से युक्त ब्रज युवतियाँ कृष्ण से मिलने जाती हैं—

सारंग

आजु नीकी बनी राधिका नागरी।
ब्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुरई।
सील सिंगार गुन सबनि तें आगरी।।
कमल दच्छिन भुजा बाम भुजा अंसु सखि।
गावतीं सरस मिलि मधुर सुर राग री।।
सकल विद्या विहित रहसि हरिवंस हित।
मिलत नव कुंज वर स्याम बड़ भाग री।

—(हितहरिवंश, १७)

प्रेम-मार्ग में लौकिक मर्यादाएँ स्वतः स्खलित हो जाती हैं। इसी भावना से भर कर वह अपने अपनत्व को केवल श्रीकृष्ण के अनुराग में ही समर्पित करना चाहते हैं—

विहाग

प्रीत न काहु कि कानि विचारै ।।
मारग अपमारग विथकित मन, को अनुसरत निवारै ।।
ज्यौं पावस सलिता जल उमगति सनमुख सिंधु सिधारै ।
ज्यौं नादहिं मन दिये कुरंगनि, प्रगट पारधी मारै ।।
(जै श्री) हित हरिवंसहि लग सारंग ज्यौं सलय सरीरहिं जारै ।
नाइक निपुन नवल मोहन विनु कौन अपनपौ हारै ।।
—(हितहरिवंश, २०)

बंशी और रूपमाधुरी की सम्मिलित छटा-प्रधान निम्न पद भी बड़ा मनोरम है—

मोहन बेनु बजावे । इहि रव नारि बुलावै ।।
आईं ब्रजनारि सुनि बंसी-रव गृह पति बंधु विसारे ।
दरसन मदन गुपाल मनोहर मनसिज ताप निवारे ।
हरषित बदन बंक अवलोकनि सरस मधुर धुनि गावै ।
मधुमय स्याम समान अधर धरे मोहन बेनु बजावै ।
—(हितहरिवंश, २३)

इस प्रकार राधा कृष्ण प्रेम माधुरी प्रधान हितहरिवंश के गीत बड़े ही सरस और भावपूर्ण है । हितहरिवंश और इस सम्प्रदाय के अन्य भक्त कवियों के शृंगार प्रधान पदों का प्रभाव वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय पर भी पड़ा है । इसी से शृंगारिक तत्त्वों का समावेश अष्टछाप के कवियों में भी उपलब्ध है ।

गौड़ीय सम्प्रदाय

गदाधर भट्ट (रचनाकाल १५८०-१६०० वि०)—आप श्री चैतन्य द्वारा प्रवर्तित 'गौड़ीय सम्प्रदाय' के भक्त कवि थे । आपने चैतन्य महाप्रभु से गुरु दीक्षा ली थी । आप भागवत चैतन्य को सुनाया करते थे । संस्कृत के पण्डित होने के कारण आपकी पदावली पर संस्कृत का पूर्ण प्रभाव है । चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति के लिए माधुर्य भावना पर विशेष बल दिया था । इसी से भट्ट जी के गीतों में मधुरता की अनुभूति है—

विभास

दिन दूलह मेरो कुंवर कन्हैया ।
नित प्रति सखा सिंगार सँवारत, नित आरती उतारति मैया ।।
नित प्रति गीत वाद्य मंगल धुनि, नित सुर-मुनिवर विरद-कहैया ।।

सिर पर श्री ब्रजराज राजवित, तैसे ही ढिग बलनिधि बलमैया ।।
नित प्रति रासविलास ब्याह बिधि, नित सुरतिय सुमननि बरसैया ।
नित नव-नव आनंद बारिनिधि, नित ही गदाधर लेत बलैया ।।
—(ब्रजमाधुरी सार—गदाधर भट्ट, १)

झूला का सजीव चित्र निम्न गीत में प्रस्तुत किया गया है—

हिंडोल

झूलत नागरि नागर लाल ।
मंद मंद सब सखी झुलावति, गावति गीत रसाल ।।
फरहराति पटपीत नील के, अचंल चंचल, चाल ।
मनहुँ परस्पर उमँगि ध्यान-छवि, प्रगट भई तिहिं काल ।।
सिलसिलात अति प्रिया-सीस तें, लटकत बेनी नाल ।
जनु पिय-मुकुट-वरहि भ्रमवस तहँ व्याली बिकल बिहाल ।।
स्यामल गौर परस्पर प्रति छवि, सोभा बिसद बिसाल ।
निरखि 'गदाधर' रसिक कुँवरि-मन, पर्‌यौ सुरस जंजाल ।।
—(ब्रजमाधुरी सार, गदाधर भट्ट—१८)

सूरदास मदनमोहन (रचनाकाल १५९०—१६०० वि. के मध्य)—आप चैतन्य के गौड़ीय सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। आपके स्फुट पद मिलते हैं।

अकबर के समय में आप संडीला (हरदोई) के अमीन थे। आपने एक बार सरकारी कोष का सभी रुपया साधु-सन्तों को खिला दिया था। जब अकबर को यह ज्ञात हुआ तब उसने इन्हें क्षमा कर दिया; किन्तु उस समय आप साधु-जीवन स्वीकार कर चुके थे।

आपके पद बड़े ही सरल हैं—

ललित

पाछे ललिता, आगे स्यामा प्यारी,
ता आगे पिय मारग फूल बिछावत जात ।
कठिन कली बीन-बीन न्यारी करत,
प्यारी के चरन कोमल जानि सकुचत जिय, गड़िवेऊ उरात ।।
दीर्घ लता करसों निरवारत पाछे,
गहे डारि सीस नाहिं परसत पल्लव पात ।
'सूरदास मदनमोहन' पिय की अधिन ताई,
देखत मेरी रे नैन सिरात ।।
—(ब्रजमाधुरी सार—श्री सूरदास मदनमोहन, १)

मलार

गौर गोविंद नवल किसोर सखी चित चोर,
ठाड़े हैं द्रुम की छहियाँ ।
अधर धरे मुरली ऊँचे सुर लीयें सुनि तोहि बुलावत हैं,
माई री, तू कत कहति नहियाँ ।।
बिन ही अंजन खंजन से नैना पिय-मन-रंजन,
रहै तिरछी ह्वै पिय मन महियाँ ।
'सूरदास मदनमोहन' के ध्यान तेरो निसि वासर,
सखी कौन प्रकृति तो पहियाँ ।।

—(सूरदास मदनमोहन—७)

श्रीभट्ट—(रचनाकाल १६२५ वि.) श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के केशव काशमीरी के शिष्य थे। 'आदिवानी' और 'युगल शतक' आपके दो काव्य हैं। 'युगल शतक' में आपके १०० पद संग्रहीत हैं। आपके पद बड़े ही सरल और मधुर हैं। अपने पद गाते समय इनको भगवान् के तत्काल ही दर्शन हो जाते थे। आपके पदों का माधुर्य देखिए—

मदनगुपाल, सरन तेरी आयो ।
चरनकमल की सरन दीजिए, चेरौ करि राखौ घर जायो ।।
धनि धनि मात पिता सुत बंधू, धनि जननी जिन खेल खिलायो ।
धनि धनि चरन चलत तीरथ को, धनि गुरुजन हरिनाम सुनायो ।।
जे नर बिमुख भए गोविंद सों, जनम अनेक महादुख पायो ।
'श्रीभट्ट' के प्रभु दियौ अभय-पद, जम डर्‌यौ जब दास कहायौ ।।

—(ब्रजमाधुरी सार, श्रीभट्ट—१)

जुगलकिसोर हमारे ठाकुर ।
सदा सर्वदा हम जिनके हैं, जनम जनम घर जाए चाकर ।।
चूक परै परिहरै न कबहूँ, सबहीं भाँति दया के आकर ।
जै 'श्रीभट्ट' प्रगट त्रिभुवन में प्रवतनि पोषत परम सुधाकर ।।

—(ब्रजमाधुरी सार, श्री भट्ट—६)

हरिदासी (टट्टी) सम्प्रदाय

स्वामी हरिदास (रचनाकाल १६००— १६१० वि०)—निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत हरिदास ने टट्टी सम्प्रदाय की स्थापना की थी। आपने इस सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण की युगल उपासना में केवल सखी भाव पर विशेष बल दिया था।

आप तानसेन के इतिहास प्रसिद्ध गुरु थे। स्वयं अकबर आपके संगीत को

सुनने के लिए साधारण व्यक्ति के भेष में आपके पास आया था। अकबर ने उन्हें पुरस्कृत भी करना चाहा; किन्तु आपने कुछ भी ग्रहण नहीं किया। आप एक त्यागी और भजनानन्दी संत थे। संगीत कला के दृष्टिकोण से आपके पद बड़े ही सफल हैं। आपने सिद्धान्त और शृंगारपरक बहुत से पद लिखे हैं। 'हरिदास के ग्रन्थ', 'स्वामी हरिदास जी के पद', 'हरिदास जी की बानी' इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनकी रस-माधुरी निम्न पदों में दृष्टव्य है—

कल्याण

हरि कौ ऐसोई सब खेल।
मृगतृस्ना जग व्यापि रही है, कहूँ बिजोरो न बेल॥
धन-मद जोवन-पद और राजमद ज्यों पंछिन में डेल।
कहि 'हरिदास' यहै जिय जानौ, तीरथ कौ सो मेल॥

—(ब्रजमाधुर सार-हरिदास—७)

राधा-कृष्ण की एक-रूपता विषयक यह पद देखिए—

कान्हरा

प्यारी, जैसे तेरी आंखिन में हौं अपनपौ,
देखत, तैसे तुम देखति हौ किधौं नाहीं?
हौं तोसौं कहौं प्यारे, आँख मूँदि,
रहौं, लाल निकसि कहाँ जाहीं॥
मोकों निकसिबे को ठौर बताओ,
साँची कहौं, बलि जाउँ, लागौं पाहीं।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा,
तुमहि देख्यौ चाहत और सुख लागत नाहीं॥

—(ब्रजमाधुरी सार—हरिदास—११)

केदारा

झूलत डोल दुलहिनी दूलह।
उड़त अबीर कुमकुमा छिरकत, खेल परस्पर भूलहु॥
बाजत ताल रबाब और बहु तरनि तनैया कूतहु।
(श्री हरिदास के)स्वामी स्यामा कुंजबिहारी को अंतै नहि फूलहु॥

—(ब्रजमाधुरी सार-हरिदास—१६)

मीराबाई (१५५५-१६३० वि०)—मीराबाई मेड़ता के राठौड़वंश के रत्नसिंह की पुत्री और राव दूदाजी की पौत्री थीं। उनका विवाह इतिहास प्रसिद्ध वीर

राणा साँगा के पुत्र राणा भोजराज से हुआ था। मीरा की माता का देहान्त उनकी छोटी अवस्था में ही हो जाने के कारण राव दूदाजी ने उनको मेड़ता ही बुलवा लिया था। दूदा भी स्वयं वैष्णव थे। इससे उनकी वैष्णव भावना का अमिट प्रभाव उनके हृदय में बचपन में घर कर गया था। इसी अवस्था में बाबा के समीप पधारे एक वैष्णव साधु से उन्होंने कृष्ण की मूर्ति साग्रह प्राप्त की थी। यह मूर्ति आजीवन उनकी चिर-संगिनी और निराशाओं में भी एक आशा रही।

मीरा का वैवाहिक जीवन सुखी न रहा। दस वर्ष के बाद पति का देहान्त हो गया। अनन्तर श्वसुर कुल में उनकी भक्ति-भावना, साधु-संगति आदि पर भ्रान्तियाँ प्रसारित की गईं जिनके फलस्वरूप उनको कितनी ही यातनाएँ सहन करनी पड़ीं। इन लौकिक विपदाओं के मध्य में भी कृष्ण-भक्ति-भावना का अंकुर उनसे चिर-पोषित रहा और वह इन सभी को अपने प्यारे की मधुर झाँकी देखती हुई सहन कर गईं। श्वसुर-कुल का परित्याग किया, पितृ-गृह छोड़ा, तीर्थयात्रा को निकल पड़ी, वृन्दावन पहुँची; अनन्तर द्वारिकाधाम के भी दर्शन किए। चित्तौड़ के राणा विक्रमादित्य ने उन्हें फिर बुलाया; किन्तु वह न गईं और द्वारिका में ही उनका शरीरांत हो गया।

मीरा ने संत रैदास को अपना गुरु बनाया था। श्वसुर कुल के संघर्षों में ही उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास को पत्र लिखा था, जिसके उत्तर में गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका का यह पद लिख भेजा था।

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिय ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

यों मीरा के जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है, फिर भी उपर्युक्त सर्वमान्य हैं; किन्तु भक्ति-भावना और कृष्ण के प्रति उनकी अनन्यता में किसी की दो राएँ नहीं हैं। नाभादास ने अपने भक्तमाल में उनके सम्बन्ध में यह छप्पय लिखा है—

सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलियुगहिं दिखायो।
निर अंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो।
× × ×
भक्ति निशान बजाय कैं, काहू ते नाहिन लजी।
लोक लाज कुल शृंखला तजि मीरां गिरिधर भजी॥

मीरा की भक्ति माधुर्य-भाव की थी। वह कृष्ण की पति रूप में उपासना किया करती थी। इस भावना में अभेदता के कारण भक्त उन्मुक्त और स्वच्छन्द हृदय से सभी कुछ कहता है। इसी से मीरा के पदों में अपूर्व स्वाभाविकता और प्रासादिकता है। उनके पदों में समाहित इन विशिष्टताओं की तुलना में हिन्दी का कोई कवि खड़ा नहीं हो सकता, न तुलसी, न सूर।

मीरा की सम्पूर्ण रचना गेय है। लौकिक सम्बन्धों से विहीन 'अपने प्रभु

गिरिधर नागर' के समक्ष उन्होंने विरहिणी हृदय से नृत्य करते हुए क्या नहीं गाया है ? इसी से उनके पद-साहित्य में वियोग, खीझ और आत्मसमर्पण के सभी तत्त्व सरलता से मिल जाते हैं । ब्रजभाषा के कृष्ण भक्त कवियों के समान उन्होंने कृष्ण के लीला-गान नहीं किए ; किन्तु अपने प्रिय में तन्मय और निमग्न होकर भावावेग में जो वाणी से निसृत हो गया वही उनका सर्वस्व है । इसके लिए उन्होंने छन्द और अलंकारों की कभी अपेक्षा ही नहीं की, प्रिय की मधुर भावनाओं में वे स्वयं प्रवाहित हो उठी हैं । भले ही छन्दशास्त्र के आधार पर उनके पदों में दोष हों ; किन्तु गेयता और संगीतात्मक तत्त्व उनमें शत प्रतिशत हैं ।

मीरा के पद राजस्थानी, ब्रजभाषा एवं गुजराती में उपलब्ध है । कहीं-कहीं इन पदों में इन भाषाओं का अपूर्व समिश्रण हो उठा है । यह सब मीरा के पदों की लोकप्रियता और गेय परम्परा में आबद्ध होने के कारण हुआ है । यों वह राजस्थान के बाहर ब्रज और गुजरात में रहीं भी हैं, इससे भी यह असम्भावित सा नहीं लगता । मीरा के विप्रलंभ की अनुभूति बड़ी मार्मिक है—

तैं दरद नहिं जान्यूं, सुनि रै वैद अनारी ।
तू जा वैद घर आपणै रे, तुझै खबर मोरी नाहीं ।
मोरे दरद का तू मरम नहिं जाणै, करक कलेजा रे माहीं ।
प्राण जांण का सोंच नहिं मोहि, नाथ दरस द्यौ आरी ।
तुम दरसन विन जिव यूं तरसै ज्यूं जल विन पनवारी ।
कहा कहूँ कछु कहत न आवे, सुणि ज्यौ आप मुरारी ।
मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे, जनम जनम की मैं थारी ।

—(मीराँ वृहद पद-संग्रह ३९)

जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध होते हुए भी कृष्ण की उपेक्षा है इससे विरहिणी मीरा रहे तो कैसे रहे ।

पिय बिन रह्यौइ न जाइ ।
तन मन मेरा पिया पर बारुँ, बार बार बलि जाइ ।
निस दिन जोऊँ बाट पिया की कबरे मिलोगे आइ ।
मीराँ के प्रभु आस तुम्हारी, लीजो कण्ठ लगाइ ।

(पद्मावती शबनम—मीराँ वृहद पद-संग्रह ४१)

इस विरह-दशा में पपीहा को दिया हुआ मीरा का यह उपालम्भ भी विचारणीय है—

रे पपइया प्यारे कब को बैर चितार्यो ।
मैं सूती छी अपने भवन में, प्रिय पिय करत पुकारयो ।
दाध्या ऊपर लूण लगायो, हिवड़ो करवत सारयो ।
उठि बैठो वृच्छ की डाली, बोल बोल कंठ सारयो

मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, हरि चरणाँ चित धारयौ ।
—(पद्मावती शबनम—मीराँ वृहद पद-संग्रह ४२)

मीरा को पारिवारिक जीवन में संघर्षों से साक्षात्कार करना पड़ा ; किन्तु वह अपने विश्वास, आस्था और दृढ़ता से सभी पर विजय प्राप्त कर गईं ।

राणा जी म्हारे गिरधर प्रीतम प्यारे हो,
राणा जी म्हारे गिरधर प्रीतम प्यारे ।
व्यापक होय रह्यो घट घट में, है सब ही से न्यारे ।
सबको सरजण हारो, अन्तर घट की सब ही जांणै ।
आप तो भेज्यो विषरो प्याला दे मीराँ ने मारो ।
कर चरणामृत पी गई जी, गिरिधर संकट टारो ।
जनम जनम रो पति परमेश्वर राणी जी कोन विचारो ।।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर सांचो बंसरी वारो ।
—(पद्मावती शबनम—मीराँ वृहद पद-संग्रह १६२)

विरह के अनन्तर मीरा ने मिलन (संयोग) के गीत भी गाए हैं—

सहेलियाँ साजन घर आयो हो ।
बहोत दिना की जोवती, बिरहिन पिव पाया हो ।
रतन करूं नेछावरी, ले आरती साजूं हो ।
पिया का दिया सनेसड़ा, ताहि बहोत निवाजूं हो ।
पाँच सखी इकट्ठी भई, मिलि मंगल गावै हो ।
पिय की रली बधावणां आणंद अंगि न पावै हो ।
हरि सागर सू नेहरो, नैणा बांध्यो सनेह हो ।
मीराँ सखि के आंगणै, दूधां बूढां मेह हो ।।
—(पद्मावती शबनम—मीराँ वृहद पद-संग्रह २१६)

उपर्युक्त उद्धरण वस्तुतः मीरा की आत्माभिव्यक्ति के सफल प्रतीक हैं । उनके सम्पूर्ण पदों में प्रिय विषयक मधुर भावना पिरोई हुई है जो सभी को आकर्षित करने में समर्थ है । उनके गीतों ने भक्ति-तत्त्वों को प्रदान कर आध्यात्मिकता को तो आभारी किया ही है ; किन्तु हिन्दी भी उनसे चिर-ऋणी है । मीरा के मधुर पदों का अपूर्व निधि से वह वस्तुतः गौरवशालिनी हो उठी है ।

पद-विकास पर विहंगम दृष्टि

इस अध्याय के द्वारा पद-परम्परा के विकास का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है । भक्ति-काल में सभी सम्प्रदायों के भक्तों ने पद-शैली के माधुर्य पर मुग्ध होकर उसे निस्संकोच रूप से ग्रहण किया था । धार्मिक सिद्धान्तों और स्थापनाओं के उल्लेख के सम्बन्ध में वे सहजयानी सिद्ध और निर्गुणियाँ सन्तों की सफलता देख ही चुके थे ।

इससे उसके ग्रहण में उन्होंने आगा-पीछा नहीं किया। इस सम्बन्ध में यदि कोई सम्प्रदाय उदासीन रहा तो सूफी प्रेमाश्रयी शाखा के कवि ही। मूलतः इसका एकमात्र कारण यह था कि प्रेमाख्यानों में अविच्छेद्य समग्र जीवन की कथा प्रस्तुत करने में वर्णनात्मक शैली ही स्फुट शैली से अधिक उपयोगी थी। स्फुट शैली से प्रेम-तत्त्व की रसात्मकता में बाधा पड़ती, इससे सूफी सन्तों ने उसका परित्याग ही उचित समझा। सन्त रामावत् और कृष्णावत सम्प्रदायों में तो सम्यक् प्रयोग हुआ ही है।

सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के प्रतिपादन और उपदेशों के लिए ही अभी तक पदों का प्रयोग चला आ रहा था ; किन्तु कृष्णावत सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने सर्वप्रथम कृष्ण-चरित के वर्णन के लिए पदों को स्वीकार किया। प्रेम-माधुरी की उपासना के कारण भक्त कवियों की दृष्टि मुख्यतः कृष्ण के बाल और युवा जीवन पर ही टिकती थी। कथा-वृत्त कम होने के कारण वे एक-एक घटना के लिए पदों में पुनरुक्ति भी कर जाते रहे हैं ; किन्तु रसासिक्त के कारण वह पद्धति अखरती नहीं है। कृष्ण-चरित में स्फुट-शैली क्षम्य है जबकि सूफी-सन्तों के प्रेमाख्यानों में नहीं। इसका कारण यह है कि कृष्ण चरित की कथा भागवत से उद्धृत है, जो लोक-विश्रुत है जबकि प्रेमाख्यानों का इस प्रकार का कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। उनकी कहानियाँ लोक-जीवन के प्रत्येक स्तर की हो सकती थीं, इससे प्रेम-तत्त्व के माध्यम से सूफी दार्शनिकता स्पष्ट करने के लिए वर्णनात्मक शैली ही अधिक उपयोगी थी। राम-चरित के लिए पद-शैली का प्रयोग सर्वप्रथम तुलसीदास द्वारा 'गीतावली' में किया गया।

पद-शैली के विकास का उत्कर्ष कृष्णावत सम्प्रदायों में ही प्राप्त हैं। पुष्टि, राधावल्लभीय, गौड़ीय, हरिदासी आदि सभी सम्प्रदायों ने काव्य में मात्र पद-शैली का प्रयोग किया। इनमें कृष्ण और राधा की अर्चना-वन्दना के लिए संगीत की पूर्ण व्यवस्था आवश्यक समझी जाती रही है, इससे उनमें गेय पदों का ही रचा जाना आवश्यक रहा है।

रस-तत्त्व

कबीर और उनके सम्प्रदाय के सन्त जीवन से विरक्त थे। इससे उनकी वाणियों में निर्वेद स्थायीभाव के कारण शान्त रस का ही प्राधान्य है। निष्कृति के लिए मानव-मात्र को जीवन की अस्थिरता, विश्व के सुख-विलास की असारता, माया की प्रबलता का उल्लेख कर वे ब्रह्म-सायुज्य के लिए जीवन में सात्विकी वृत्तियों के समावेश की अभिप्रेरणा देते थे। इसके लिए शान्त रस के अतिरिक्त कोई अन्य रस उपयोगी न था। कबीर अपने काव्य में 'हरि जननी मैं बालिक तोरा' और 'हरि की बहुरिया' भी बने हैं। ऐसे स्थलों पर वात्सल्य और शृंगार रसों का आभास होता है ; किन्तु पद की समाप्ति तक निर्वेद भाव का आ जाना अवश्यम्भावी रहा है। सिख गुरुओं की पदावली में भी अद्वैती ब्रह्म के लिए शान्त रस का ही प्रयोग है।

रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में भी शान्त रस ही प्रधान है। कृष्णावत सम्प्रदायों के भक्त कवियों ने कृष्ण चरित्र के अतिरिक्त विनय के पद भी लिखे हैं। इन पदों में निर्वेद स्थायीभाव ही है। कृष्ण-काव्य में वात्सल्य और शृंगार की ही अपूर्व छटा विद्यमान रही है। वात्सल्य से शृंगार का 'संयोग पक्ष' जुड़ जाता है, अनन्तर कृष्ण के प्रवास में चले जाने पर यशोदा, नन्द, गोप, गोपियाँ सभी के लिए 'वियोग पक्ष' भी घटित हो जाता है। अवतारी कृष्ण के वात्सल्य तथा शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में इन भक्त कवियों की जो भाव-धारा प्रस्फुटित हुई है वह भारतीय साहित्य में बेजोड़ है। माधुर्य भाव के ऐसे स्थलों के मध्य में यत्र-तत्र एकाध पदों में अन्य रसों का स्वरूप भी उपलब्ध है; किन्तु उनमें कवि-हृदय की वृत्ति रमती नहीं है। प्राधान्य वात्सल्य और शृंगार का ही रहा है।

भाषा-तत्त्व

कबीर की भाषा-शैली में राजस्थानी भाषा के अधिक शब्द हैं। यत्र-तत्र भ्रमण करते रहने के कारण विविध भाषाओं के शब्दों का प्रयोग उनकी पदावलियों में मिलता है। शेख फरीद तथा सिख गुरु पंजाब के थे; इससे पंजाबी भाषा के शब्दों का उनकी वाणियों में प्राबल्य है। शेष सन्त कवियों की भाषा ब्रजभाषा की ओर उन्मुख है।

रामानन्द की पदावलियों में काशी के समीप की पूर्वी भाषा का प्रयोग हुआ है। कृष्णावत सम्प्रदायों में मीरा के अतिरिक्त सभी भक्त कवियों ने ब्रजभाषा को ही अपनाया है। कृष्ण का सम्बन्ध ब्रज से रहा है। इससे कवियों की भावनाओं में ब्रजभाषा स्वयं प्रतिष्ठित हो उठी है। मीरा मेड़ता के अतिरिक्त गुजरात और वृन्दावन में भी रहीं थीं, इससे उनके पदों में राजस्थानी, गुजराती और ब्रजभाषा आदि के प्रयोग उपलब्ध हैं।

पद-शैली संगीतात्मक तत्त्वों के कारण मधुर और कोमल है। इसी कारण उनमें मधुर भावनाओं के साथ मधुर भाषा का प्रयोग न्यायोचित समझा जाता है। हिन्दी भाषा के अन्तर्गत सभी भाषाओं में ब्रजभाषा मधुरतम है, इससे हिन्दी की पद-शैली में उसका ही शत प्रतिशत प्रयोग हुआ है।

गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तित्व और कृतित्व के लिए अवकाश

मुसलमानों की आधीनता तथा धार्मिक भावना के प्रचार और प्रसार के कारण भारतीय संस्कृति, धार्मिकता तथा जीवन के सभी क्षेत्रों पर ग्रहण सा लगता जाता था। यदि इस दयनीय संक्रान्ति-वेला पर दक्षिण के आचार्यों ने जागरण का नव-सन्देश न दिया होता तो निस्सन्देह देश को खग्रास लग जाता और हम तथा हमारी संस्कृति के अस्तित्व कभी के विलुप्त हो जाते। उन्हीं के इङ्गित पर कबीर,

रामानन्द, वल्लभ आदि देश की सङ्कट-निशा के स्थान पर अरुणोदय लाने के लिए अग्रसर हुए। वे सफल भी हुए यह देश का सौभाग्य था ; किन्तु उनमें अभाव थे, जिससे देश आश्वस्त न हो सका। जिसकी पूर्ति में तुलसी का व्यक्तित्व और कृतित्व उपयोगी सिद्ध हुआ। फलतः देश समाधान और आश्वासन के साथ निष्कृति के पथ पर आरूढ़ हो सका।

कबीर में अद्वैतवादी ब्रह्म का ही प्रतिपादन था। इससे उनका सम्प्रदाय लोक-जीवन में ग्रस्त गृहस्थों की अपेक्षा ज्ञानियों और विरक्तों को ही अधिक उपयोगी था। उनकी वाणियों और ब्रह्म में लोकादर्श का कहीं भी संकेत न होने के कारण उनसे जन-जीवन का रंजन न हो सका। ज्ञानाश्रयी शाखा में यही सबसे बड़ा अभाव था, जिससे उनका सम्प्रदाय सफल न हो सका। इसी प्रकार के अभाव कृष्णावत सम्प्रदायों में भी थे। माधुर्योपासना की स्वीकृति के कारण उनमें कृष्ण के समग्र जीवन की मान्यता न थी। उनके बाल और युवा जीवन के केवल मधुर आदर्श तो सामने आ सके ; किन्तु पूर्ण जीवन की कल्पना तिरोहित ही रही। कृष्ण के जीवन के इन अंगों के विकास के कारण गोलोक विहारी विष्णु के शक्ति-शील-सौंदर्य इन तीन तत्त्वों में केवल सौंदर्य का ही प्रस्फुटन हो सका। शक्ति और शील के अभाव में उनके द्वारा लोक-जीवन की पूर्णता और आदर्श सामने नहीं आ सके। भारत को अपनी अन्य विभूति से इन आदर्शों की पूर्ति करनी थी। ऐसी आवश्यकता के समय ही नाना पुराण निगमागम से ज्ञान, भक्ति, कर्म, मर्यादा लोकादर्श जीवन की पूर्णता आदि तत्त्वों के साथ तुलसीदास ने बाल्मीकि के राम को भगवत रूप से युक्त कर देश के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। शक्ति, शील, सौंदर्य से युक्त तुलसी के राम सभी के लिए सभी समय उपयोगी सिद्ध हुए। सच तो यह है कि तुलसी के व्यक्तित्व और कृतित्व से देश को गौरव ही नहीं मिला, किन्तु निष्कृति का शाश्वत सन्देश भी मिला।

: ५ :

तुलसी के गीति-काव्य का विषय

रचना-काल—'कृष्ण गीतावली', 'गीतावली' एवं 'विनयपत्रिका' गो० तुलसीदास के तीन पद-काव्य हैं। कुछ विद्वान इन तीनों को ही स्फुट काव्य मानते हैं; किन्तु विनयपत्रिका अपने स्वरूप में उक्त तथ्य की अपवाद ठहरती है। इस काव्य में आदि से लेकर अन्त तक सभी पद विनय-भावना से आप्लावित राम-भक्ति की ओर उन्मुख हैं और राम-भक्ति-भावना उत्तरोत्तर विकास-प्राप्त होती हुई अन्तिम पद में विराम ले उठी है। इससे भक्ति-भावना की अविच्छिन्न धारा उसे अस्फुट काव्य ही सिद्ध करती है।

'कृष्ण-गीतावली' और 'गीतावली'—ये दोनों रचनाएँ वेणीमाधवदास ने अपने 'गोसाईं चरित' में संख्या १६२८ की मानी हैं।[1] गोस्वामीजी ने उक्त सम्वत् से पूर्व इन दोनों काव्यों के पदों की रचना अवश्य स्फुट रूप में कर डाली होगी। तभी सं० १६२८ में उन्हें संग्रहीत कर उनके आधार पर इन दोनों काव्यों का नाम-करण किया होगा।

वेणीमाधवदास के आधार पर 'विनयपत्रिका' का निर्माण-काल गोस्वामीजी की मिथिला-यात्रा से पूर्व का है। इस प्रकार इसका रचना-काल सं० १६३९ ठहरता है; किन्तु डा० श्यामसुन्दरदास को सं० १६६६ की विनयावली की एक प्रति प्राप्त हुई है। इससे अब यह विचारधारा मान्य हो रही है कि तुलसीदास की मिथिला-यात्रा से पूर्व सम्भव है कि विनयपत्रिका का कोई-न-कोई रूप प्रस्तुत हो गया हो; किन्तु सं० १६६६ में १७५ पदों का यह काव्य सं० १६६९ से पूर्व २७९ पदों में तुलसी के द्वारा विनयावली से विनयपत्रिका का नाम प्राप्त कर गया है, यह सत्य है। इस काव्य में काशी की महामारी (१६६९ वि०) का उल्लेख न होने के कारण यह प्रमाणित है कि विनयपत्रिका को अपना यह स्वरूप सं० १६६६ और सं० १६६९ के मध्य में मिला होगा।

तुलसी के इन पद-काव्यों के वर्गीकृत अध्ययन में प्रवेश करने से पूर्व इनके विषयों से परिचित हो लेना उचित है। इसी से प्रस्तुत अध्याय में उनके तीनों काव्यों का विषय-परिचय प्रदान किया जा रहा है।

---

१. जब सोरह सै बसु बीस चढ्यो, पद जोरि सबै सुचि ग्रन्थ गढ्यो।
तेहि राम गीतावलि नाम धर्‌यो, अरु कृष्ण गीतावलि राँचि सर्‌यो॥
—गोसाईं चरित

१. कृष्ण-गीतावली

यों गोस्वामीजी राम के अनन्य भक्त थे; किन्तु राम के चरित्र के समान कृष्ण चरित्र को भी अपने काव्य का विषय बनाकर उन्होंने अपनी उदार-वृत्ति और हृदय की विशालता का परिचय दिया है। श्री गोवर्धननाथजी के दर्शन के लिए जाने पर तुलसीदास ने उन्हें अपना मस्तक नहीं नवाया। एक देवता के स्वरूप की उपेक्षा की घटना का उल्लेख 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में भले ही हो; किन्तु तुलसीदास का सम्पूर्ण काव्य इसके समर्थन में किसी प्रकार का अन्तस्साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करता। जिसकी वाणी 'सिया राम मय सब जग जानी' का उद्घोष करती हो, वह कभी अनुदार नहीं हो सकती, यह चिर सत्य है।

कृष्ण-भक्त कवियों के समान ही गोस्वामी तुससीदास ने कृष्ण के निम्न चरित्रों को अपने स्फुट गीतों का आधार बनाया है—बाल-लीला, गोपी उपालम्भ उलूखल-बन्धन, इन्द्रकोप और गोवर्धन-धारण, गोचारण अथवा छाक लीला, यमुना-तट पर वंशी-वादन, कृष्ण-शोभा-वर्णन, गोपी विरह (भ्रमरगीत) एवं भक्त (द्रौपदी) मर्यादा रक्षण।

इस छोटे से काव्य में कवि की दृष्टि प्रमुख रूप से बाल-लीला और गोपी-विरह पर टिक सकी है, अन्य घटनाओं के वर्णन में कवि ने एक-एक, दो-दो पद रच कर अपने कवि-कर्म की समाप्ति कर दी है। कृष्ण-भक्त कवियों में प्रमुखतः सूर ने उपर्युक्त स्थलों में भाव-निमग्न होकर बहुत कुछ कहा है। एक-एक घटना के वर्णन में सूर ने अपनी स्वच्छन्द भावना को उनकी स्वाभाविक स्थिति तक अग्रसर होने दिया है। इसी से कृष्ण-चरित सुरलता से 'सूर-सागर' हो सका है। सूरदास के द्वारा प्रतिपादित 'कृष्ण चरित' के सम्बन्ध में उक्त कथन का यह मन्तव्य नहीं है कि तुलसीदास में भावुकता का अभाव था। उनकी 'कृष्ण गीतावली' में भी कवि-सुलभ भावुकता का उपयोग है, जिसका विवेचन अगले अध्याय के लिए सुरक्षित है।

'कृष्ण गीतावली' में यत्र-तत्र आस्तिक भावनाएँ समाहित हैं। इस काव्य में भी कृष्ण-चरित को देखकर देवगण पुष्प-वर्षा करते हैं।[1] द्रौपदी की मर्यादा-रक्षण के उल्लेख में भी तुलसी का राम-भक्त कवि जीवन्त है।[2]

---

१. तुलसी निरखि हरषत बरषत फूल।
भूरिभागी ब्रजवासी बिबुध सिद्ध सिहात। —(कृष्ण-गीतावली—२)

२. जुग जुग जग साके केसव के,
समन कलेस कुसाज सुसाजी।
तुलसी को न होइ सुनि कीरति,
कृष्न कृपालु भगति पथ राजी। —(कृष्ण-गीतावली—६१)

कृष्ण के इस चरित-गान में सगुण भावना का ही समावेश है। विष्णु के अवतारी स्वरूप कृष्ण में तुलसी की अपूर्व निष्ठा और भक्तिभावना विद्यमान है।

२. गीतावली

'गीतावली' रामचरित परक गेय काव्य है। यों सम्पूर्ण राम-कथा ही काव्य-में पिरोई हुई है; किन्तु इसमें कथा का वैसा सुगठित और सुललित रूप नहीं है जैसा मानस में है। मूलतः उसको गीतात्मकता प्रदान करनी थी, इससे कवि-सुलभ प्रतिभा और चातुरी होते हुए भी तुलसी अन्य स्वरूप से इसे सुशोभित न कर सके। कथा के अविच्छिन्न प्रवाह में राम के सौन्दर्य, उनके कारण उत्पन्न करुण-स्थल और भक्ति-भावना पर ही उनकी दृष्टि विशेष रूप से जमी है, अन्य स्थलों को कवि ने या तो वर्णन के अयोग्य समझकर छोड़ ही दिया है अथवा संकेत भर दे दिया है।

गीत काव्यों के केवल मधुर और करुण स्थल ही कवि के आकर्षण के विषय रहा करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य केवल तुलसी के साथ ही सत्य नहीं है; किन्तु प्रमाण के लिए सूरदास का सूरसागर अथवा किसी भी युग का कोई भी गीति-काव्य प्रस्तुत किया जा सकता है।

गीतावली तुलसी का स्फुट गेय काव्य है। मानस के समान सात काण्डों के होते हुए भी उनके मध्य में कवि की एक सूत्रता और समदर्शिता नहीं है। इसीसे इसका सबसे बड़ा (बाल) काण्ड १०८ पद का है तो छोटा (किष्किंधा) काण्ड केवल २ पद का है। आस्तिक कवि की रचना होते हुए भी काव्य के प्रारम्भ में किसी भी प्रकार की वन्दना नहीं है। उपर्युक्त के अतिरिक्त चरित्रों का पूर्ण विकसित न होना घटनाओं का असम्वद्ध और विशृङ्खल होना आदि ऐसे प्रमाण हैं जो गीतावली को स्फुट ही सिद्ध करते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के होते हुए भी इस काव्य में तुलसी ने अपने अन्य काव्यों की अपेक्षा कुछ मौलिकताएँ समाविष्ट की हैं। विषय-परिचय के साथ ही उनको जानने और समझने में सुविधा होगी। इससे प्रत्येक काण्ड की सामग्री से अलग-अलग परिचित हो लेना ही उचित होगा।

बालकाण्ड

परम्परागत प्रबन्ध काव्यों की रूढ़ियों तथा राम-जन्म से पूर्व दीर्घ भूमिका का मानस के समान इसमें प्रयोग नहीं है; किन्तु

आजु सुदिन सुम घरी सुहाई।
रूप-सील-गुन-धाम राम नृप-भवन प्रकट भए आई।

ये काव्य का प्रारम्भ है। इस काण्ड में राम का काल चरित्र विश्वामित्र का आगमन, अहल्योद्धार, विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण का जनकपुर आगमन, पुष्प-

वाटिका में सीता-राम, रङ्ग-भूमि में राम-लक्ष्मण, विवाह की तैयारी, विवाहोपरान्त सभी का अयोध्या-आगमन आदि के वर्णन प्रस्तुत हैं। यों मानस की तुलना में कतिपय घटनाएँ परित्यक्त हैं; किन्तु परशुराम-लक्ष्मण-सम्वाद का परित्याग आश्चर्य में डाल देता है। मानस की उक्त कौतूहलपूर्ण घटना कौशल्या को केवल इन दो पंक्तियों में समाहित है —

> दुसह-रोष-मूरति भृगुपति अति नृपति-निकर-खयकारी।
> क्यों सौंप्यो सारंग हारि हिय, करी है बहुत मनुहारी॥
>
> —(बालकाण्ड—१०६-४)

इस काण्ड में राम तथा उनके अनुजों का बाल-चरित्र-वर्णन तुलसी के अन्य काव्यों से सबसे अधिक वर्णित है। चरित्र-वर्णन अभिनयात्मक न होकर केवल वर्णनात्मक हैं। राम के सौन्दर्य का बार-बार वर्णन है। वैसा ही वर्णन जनकपुर में पधारने के अनन्तर विवाह-काल तक प्रस्तुत किया गया है।

विश्वामित्र के राम-लक्ष्मण माँगने पर राजा दशरथ की दशा और उनके चले जाने पर कौशल्या का विरह परक वात्सल्य दृष्टव्य है।

राजा दशरथ

> रहे ठगि से नृपति सुनि मुनिवर के वयन।
> कहि न सकत कछु, राम-प्रेम-वस पुलक गात, भरे नीर नयन॥
>
> —(बालकाण्ड—५१)

कौशल्या

> मेरे बालक कैसे धौं मग निबहहिंगे ?
> भूख, पियास, सीत, स्रम सकुचन क्यौं कौंसिकहि कहहिंगे ?
>
> —(बालकाण्ड—९९)

× × ×

> ऋषि नृप-सीस ठगौरी सी डारी।
> कुलगुर, सचिव निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी॥
> सिरिस-सुमन-सुकुमार कुँवर दोउ, सूर सरोष सुरारी।
> पठए बिनहि सहाय पयादेहि केलि-बान-धनुधारी॥
>
> —(वही—१००)

दोनों ही स्थल बड़े ही सजीव हैं।

अयोध्याकाण्ड

इस काण्ड में राम के राज्याभिषेक की तैयारी, बन के लिए विदाई, राम बन

के मार्ग में, चित्रकूट-वर्णन, कौशल्या की विरह-वेदना, दशरथ का देह-त्याग, भरत का अयोध्या-आगमन, भरत का चित्रकूट-प्रस्थान, राम-भरत-मिलाप, राम विधुरा अयोध्या आदि के वर्णन कवि द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं।

सच तो यह है कि मानस में इस काण्ड की प्रयुक्त कथा यहाँ शिथिल हो उठी है। महाकाव्य के अनुकूल कथा गढ़ने में तुलसी ने घटना और भाव-वैचित्र्य की जितनी व्यवस्था वहाँ की है वैसी यहाँ नहीं है। गीतावली के इस काण्ड के प्रारम्भिक पद में राम के राज्याभिषेक की चर्चा भर है, द्वितीय पद में वह वन के लिए विदा हो रहे हैं।

राज्याभिषेक की तैयारियों के मध्य में मंथरा की कुमंत्रणा, कोप भवन में कैकेयी से राजा दशरथ की भेंट, परस्पर का वार्तालाप आदि सभी कुछ वर्णित न होकर कवि ने उसका संकेत भर कर दिया है—

सुनत नगर आनंद बधावन, कैकेयी बिलखानी।
तुलसीदास देवमायावस, कठिन कुटिलता ठानी।

—(अयोध्याकाण्ड—१)

राम की विदा-बेला पर राजा दशरथ, परिजन, पुरजन तथा पशु-पक्षियों के हृदय विदारक दृश्य का यहाँ वर्णन नहीं है। कौशल्या का मातृ-हृदय अवश्य वात्सल्य से उफन उठा है। दशरथ को केवल इतना ही कहने का अवकाश मिल सका है—

मोको बिधुवदन विलोकन दीजै।
राम लखन मेरी यहैं भेंट, बलि, जाउ, जहाँ मोहि मिलि लीजै॥

—(वही—१२)

सुमन्त के राम को भेजकर लौट आने पर उनका मानस पुनः उद्वेलित होकर (पद ५६, ५७, ५८, ५९) अवश्य कुछ कह सका है और वहीं उनके जीवन की समाप्ति हो उठी है। राम के सम्बन्ध में कौशल्या की विरह-वेदना उत्कर्ष पर पहुँच रही है (पद—५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७)।

इस काण्ड में राम-सीता-लक्ष्मण के वन-पथ पर होने की स्थिति में ग्रामीण स्त्रियों ने उनको देखकर जो सहृदय भाव-धारा व्यक्त की है तथा अयोध्या लौटने पर भरत ने जिस 'भायप भगति' का परिचय दिया है वह सब इस काण्ड को सन्तुलित रख सका है। यों चित्रकूट में मानस के समान भरत-मिलाप भी है; किन्तु वह वैसा सजीव नहीं है। आचार्य शुक्ल के अनुसार मानस के इस काण्ड में जितनी विविध परिस्थितियों का संघटन है, वह सब यहाँ नहीं है।

अरण्यकाण्ड

राम का वन-बिहार, मारीच-वध, सीता-हरण, जटायु-वध, राम की वियोग-व्यथा, जटायु से भेंट, शवरी से भेंट आदि घटनाओं का इस काण्ड में वर्णन है।

जयन्त-नेत्र-भंग, अनुसूया का सीता को उपदेश, विराध-वध, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य से मिलन, लक्ष्मण-राम संवाद, धर्म-तत्व-निरूपण, खरदूषण का समर और संहार, सीता का अग्नि में निवास, रावण-मारीच-संवाद आदि मानस के स्थल इसमें नहीं हैं।

सीता-हरण में रावण का केवल संकेत-मात्र है। रावण के लिए 'काहू' शब्द का प्रयोग कर दिया गया है—

बंधु बिलोकि कहत तुलसी प्रभु, भाई भली न कीन्ही।
मेरे जान जानकी काहू खल छल करि हरि लीन्ही॥ —(अयोध्याकाण्ड-६)

इस काण्ड की जटायु भेंट में राम की करुणा और शबरी भेंट में उनकी भक्त वत्सलता के मार्मिक चित्रण हैं—

राघौ गीध गोद करि लीन्हों।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहु अरघ जल दीन्हो॥
सुनहु, लषन ! खगपतिहि मिले बन में पितु मरन न जान्यौ।
सहि न सक्यौ सो कठिन विधाता, बड़ो पछु आजुहि मान्यौ॥
—(वही १३)

भक्ति-भावना का शबरी का निम्न चित्र देखिए—

प्रानप्रिय पाहुने ऐहैं राम-लषन मेरे आजु।
जानत जन-जियकी मृदु चित राम गरीब निवाजु॥ —(वही १७)

किष्किन्धाकाण्ड

गीतावली का यह सबसे छोटा काण्ड है, जिसमें केवल दो पद हैं। इसमें 'ऋष्य मूक पर्वत पर राम' और 'सीता की खोज का आदेश' आदि का वर्णन है। किसी प्रमुख घटना का उल्लेख नहीं है। मानस की इस काण्ड की राम सुग्रीव भेंट, वालि वध, सुग्रीव का राजतिलक, राम का वर्षा और शरद वर्णन, राम का सुग्रीव पर रोष, सीता खोज में वानरसेना का प्रस्थान और जामवन्त का हनुमान को समुद्र लांघने और सीता खोज के लिए उत्तेजित करना आदि घटनाओं का पूर्ण अभाव है।

सुन्दरकाण्ड

मानस के समान इस काण्ड में हनुमान का समुद्र लंघन, सुरसा और हनुमान, लंकिनी-वध, लंका में प्रवेश, विभीषण से मिलन, ,रावण-सीता-वार्तालाप, लंका-दहन आदि के वर्णन नहीं हैं।

इसमें हनुमान के अशोकवन में पहुँचने से कथा का सूत्रपात है। इसके अतिरिक्त हनुमान और रावण की भेंट, सीता से हनुमान की विदाई, हनुमान का राम के समीप पहुँचना, वानरसेना की लंकायात्रा, रावण की मंत्रणा, विभीषण-शरणागति, जानकी-त्रिजटा संवाद आदि स्थल समाविष्ट हैं।

इस काण्ड की कथा बड़ी ही सुगठित है; किन्तु फिर भी रावण-सीता-वार्तालाप तथा लंका-दहन जैसी घटनाएँ छूट ही गई हैं। इनका गोस्वामी तुलसीदास ने केवल संकेत मात्र कर दिया है।

अकनि कटु बानी कुटिल की क्रोध-बिंध्य बढ़ोइ।
सकुचि सम भयो ईस-आयसु-कलसभव जिय जोइ॥ —(पद ५)

× × ×

मैं सुनी बातैं असैली, जे कही निसिचर नीच।
क्यों न मारै गाल, बैठो काल-डाढ़नि बीच॥ —(पद ६)

इसी प्रकार हनुमान का सीता से विदा माँगने पर लंकादहन का परिचय होता है—

लंक-दाह उर आनि मानिबो साँचु राम सेवक को कहिबो।
तुलसी प्रभु सुजस गाइहै, मिटि जैहैं सबको सोचु-दब दहिबो॥
—(पद १४)

इस काण्ड में सीता-मुद्रिका और सीता-हनुमान के वार्तालाप, राम से सीता की विरह-दशा का हनुमान का उल्लेख, सीता-त्रिजटा-संवाद आदि बड़े ही करुण और मर्म-स्पर्शी हैं। विभीषण-शरणागति वर्णन में भक्ति भावना का सजीव प्रस्फुटन है।

यों हनुमान बड़े बीर-धीर थे; किन्तु सीता और मुद्रिका की स्थिति से उनका हृदय भी विलप उठा—

सुवन समीर को धीर धरीन, बीर बड़ोइ।
देखि गति सिय मुद्रिका की बाल ज्यों दियो रोइ॥ —(पद ५)

सीता की विरह-दशा के सम्बन्धमें हनुमान के निम्न शब्द ही सबल प्रमाण हैं—

मातु! काहे को कहति अति बचन दीन?
तबकी तुही जानति, अबकी हौं ही कहत,
सबके जिय को जानत प्रभु प्रवीन। —(पद ८)

सीता की राम-दर्शन की अभिलाषा बड़ी मार्मिक है—

कबहूँ, कपि! राघव आवहिंगे?
मेरे नयन चकोर प्रीति बस राका ससि मुख दिखरावहिंगे॥—(पद १०)

रावण से अपमानित होने पर विभीषण ने राम की शरण में जाने से पूर्व अपनी माता और भाई कुवेर से अनुमति ली है। वस्तुतः माता से अनुमति लेना काव्य का विशेष स्थल है—

जाय माय पाँय परि कथा सो सुनाई है।
समाधान करति विभीषन को बार बार,
'कहा भयो तात! लात मारे बड़ो भाई है।'
इहाँ ते विमुख भये, राम की सरन गए,

भलो नेकु लोक राखे निपट निकाई है। —(पद २६)

लंकाकाण्ड

घटनाओं के संघटन में यह काण्ड बड़ा नहीं है। समुद्र में पुल बाँधना, रामेश्वर की स्थापना, सेना सहित राम का लंका प्रवेश आदि का अभाव है। कुंभकर्ण और मेघनाद के युद्धों का भी वर्णन नहीं है। यहाँ तक राम-रावण के युद्ध को भी कवि उपेक्षित कर गया है।

इस काण्ड में रावण को मन्दोदरी-प्रबोध, अंगद का दूत-कर्म, लक्ष्मण-मूर्छा, विजयी राम, अयोध्या में प्रतीक्षा, अयोध्या में आनन्द, राम-राज्याभिषेक आदि के वर्णन हैं।

इन घटनाओं में लक्ष्मण-मूर्छा और अयोध्या में प्रतीक्षा के स्थल बड़े ही करुण हैं। प्रथम में राम का विलाप और द्वितीय में कौशल्या को पुनः विरह सम्बन्धी आत्म-निवेदन का अवकाश मिल गया है।

लक्ष्मण संजीवनी को खाकर (पद १५) उठते हैं और उसके आगे के पद में ही 'विजयी राम' का कवि चित्रण कर उठता है।

राजत राम काम-सत-सुन्दर।
रिपु रन जीति अनुज संग सोभित, फेरत चाप विसिष वनरुह कर ॥
—(पद १६)

कौशल्या का मातृत्व इस काण्ड में भी राम के लिए उद्वेलित हो उठा है—

बैठि सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर, कहहु, काग ! फुरि बाता ॥—(पद १९)

× × ×

छेमकरी ! बलि, बोलि सुबानी।
कुसल छेम सिय-राम-लषन कब ऐहैं। अब ! अवध रजधानी ॥
—(पद २०)

उत्तरकाण्ड

मानस के उत्तरकाण्ड के समान ज्ञान-भक्ति-कर्म आदि का तात्विक विवेचन यहाँ नहीं है। तत्सम्बन्धी विवरण न, होकर राम-स्वरूप की माधुरी, हिंडोला वर्णन आदि को प्रमुखता मिल गई है। गीतावली का यह काण्ड सम्पूर्ण तुलसी काव्य में विशिष्टता रखता है।

इस काण्ड में राम-राज्य, रामरूप वर्णन, रामहिंडोला, अयोध्या की रमणीयता, दीपमालिका, वसन्त-विहार, अयोध्या का आनन्द, राम-राज्य, सीता-वनवास, लव-कुश जन्म और रामचरित का उल्लेख है।

तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम इस काण्ड में हिंडोला झूलते और फाग खेलते हैं। अयोध्या की नारियाँ भी अपने राजा के द्वारा वसन्तोत्सव मनाए जाने पर अबीर घोलकर कुंकुमों में भरती हैं और ऋतु के अनुसार गालियाँ देती है।

बीना-बेनु-मधुर-धुनि सुनि किंनर-गंधर्व।
निज गुन गरुअ हरुअ अति मानहिं मन तजि गर्व॥
कुंकुम सुरस अबीरनि भरहि चतुर वर नारि।
रितु सुभाय सुठि सोभित देहि विविध विधि गारि॥ —(गीत २१)

राम की माधुर्य परक वृत्तियों को देखकर आश्चर्य-सा लगता है और इसे कृष्ण-चरित का प्रभाव कहा जाता है; किन्तु कृष्ण की माधुर्योपासना के समानान्तर राम की माधुर्योपासना भी प्रवाहित थी। तुलसी उसी से प्रभावित हुए हैं। एत स-म्बन्धी विवेचन अगले अध्याय के लिए सुरक्षित है।

गीतावली में आदि से अन्त तक मधुर और करुण स्थलों का ही समावेश है। फलस्वरूप तुलसी की शैली वड़ी ही कोमल और मधुर हो गई है। उनकी भवित-भावना का तत्त्व यहाँ भी नहीं छूट सका है। श्री कृष्ण गीतावलो के सगान गीता वली के पदों के अन्त में अधिकांशतः राम के प्रति आस्थापूर्ण भावनाओं का समर्पण मिलेगा। राम-सम्बन्धी तुलसी की भावधारा इस काव्य में भी अक्षुण्ण हैं।

विनयपत्रिका

भक्ति-प्रसूत विनय के प्रतिपादन में विनयपत्रिका तुलसी के ही काव्यों में नहीं; किन्तु हिन्दी के शेष साहित्य में भी अद्वितीय है। उनके सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य 'मानस' में जीवन की-विविध परिस्थितियों के दिग्दर्शन और विश्लेषण, राम के विराट स्वरूप के उल्लेख, वर्णाश्रम की समन्वयवादिता आदि के साथ कवि-हृदय की भवित भावना भी पग-पग पर विद्यमान है ; किन्तु राम-कथा के प्रवाह में वह डूबती-उतराती सी प्रतीत होती है। सच तो यह है कि भवित-भावना की ऐसी एकरूपता, एकसूत्रता और तारतम्य हिन्दी काव्य में अन्यत्र कहीं है ही नहीं, इसी से 'विनयपत्रिका' हिन्दी का गौरव और अभिमान है।

विनयपत्रिका के मुक्तक काव्य होने से कुछ विचारक इसे स्फुट पदों का संग्रह मात्र मानते हैं। काव्य में पदों के मध्य में यत्र-तत्र असम्बद्धता के कारण इस प्रकार का विचार स्वाभाविक-सा है ; किन्तु भक्त कवि के उद्देश्य के अनुकूल पदों में समा-हित भावनाओं की ध्वनि पर मनन करने से यह धारणा निर्मूल है। पद-रचना भले ही स्फुट रही हो, क्योंकि तुलसी एक विरक्त सन्त थे, इससे उनका यह काव्य भी अन्यों के समान एक ही स्थल और एक ही समय पर नहीं लिखा गया ; किन्तु इस तथ्य के साथ यह सत्य है कि अपनी अनुभूत पूर्व-निर्णीत रूपरेखा में उन्होंने अपने सभी पदों को पिरो दिया है। इसी से वह अस्फुट काव्य है।

तुलसीदास ने भक्त सुलभ संकोच, शिष्टता और मर्यादा के साथ अपनी विनय की पत्रिका राजा राम के दरबार में पहुँचाई है। उनका विश्वास देखिए—

बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहि लगत राज-डगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो।
राम नाम-बोहित भव-सागर चाहे तरन तरो सो॥

—(विनयपत्रिका १७३)

मोद मंगल मूल अति अनुकूल निज निरजोसु।
राम नाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम परितोसु॥

—(विनयपत्रिका १५९)

राम! नाम को प्रताप जानियत नीके आप,
मोको गति दूसरी विधि निरमई।
खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु,
रीझिवे लायक तुलसी की निलजई॥

—(विनयपत्रिका २५२)

मूलतः तुलसी के इस विश्वास और आस्था के कारण ही उनके सभी पद राम की ओर ही उन्मुख हैं। तुलसी, गणेश, सूर्य, शिव, जानकी, हनुमान अथवा अन्य किसी की स्तुति क्यों न कर रहे हों, सभी से अपने हृदय के पापों का निवेदन कर अपनी बात श्रीराम के चरणों तक पहुँचा देने के लिए उनको अभिप्रेरित करते हैं—

माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहि रामसिय मानस मोरे।

—(गणेश स्तुति, वही—१)

वेद पुरान प्रगट जस जागै। तुलसी राम भगति वर माँगै

—(सूर्य स्तुति, वही—२)

देहु काम-रिपु राम-चरन-रति, तुलसी कहँ कृपानिधान

—(शिव स्तुति, वही—३)

तेरे स्वामी राम से, स्वामिनी सिया रे। तहँ तुलसी के कौन को काको तकिया रे॥

—(हनुमान स्तुति, वही—३३)

कबहुँक अब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥
जानकी जगजननि जनकी कियें बचन सहाइ।
तरै तुलसिदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥

—(सीता स्तुति, वही—४१)

उपर्युक्त के अतिरिक्त उन्होंने देवी, गङ्गा, यमुना, काशी, चित्रकूट, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि सभी की प्रतिष्ठा अनुसार स्तुति-गान किए हैं; किन्तु सभी से

कलिकाल से उत्पन्न अपने संताप और अपने उद्धार की बात राम तक पहुँचा देने के लिए अनुनय-विनय की है।

राजा राम से सीधी बात कहने की अपेक्षा इन सभी से विनय कर देना तुलसी ने इसलिए उचित समझा था कि यह सब राम के स्वभाव, गुण और शील आदि को भली प्रकार समझते हैं।

राम रावरो सुभाउ, गुन सील महिमा प्रभाउ,
जान्यो हर, हनुमान, लखन, भरत।
जिन्हके हिये-सुथरु राम-प्रेम-सुरतरु ।।
लसत सरस सुख फूलत फरत।

—(वही—२५१)

विनयपत्रिका का यह स्तुति-खण्ड प्रथम ७० पदों में समाप्त हुआ है, अनन्तर विनय-खण्ड प्रारम्भ होता है जो काव्य के अन्त तक प्रवहमान है। विनय-खण्ड में तुलसी ने अपने आराध्य राम को आलम्बन मानकर विनय की विभिन्न परिस्थितियों में यथोचित कहा है।

राम सो बड़ो है कौन कौन मौसो छोटो,
राम सो खरो है कौन कौन मोसो खोटो।

काव्य में आदि से अन्त तक तुलसी की यही दृष्टि रही है। उन्होंने जी भर कर राम के ऐश्वर्य और बड़प्पन का गान किया है और उन्हीं के मध्य में अपनी लघुता और करनी की कथना की है। इस प्रकार तुलसी की राम-भक्ति स्थल-स्थल पर सम्पोषित होती चली है।

कह्यौ न परत, बिनु कहे न रह्यौ परत,
बड़ो सुख कहत बड़े सों, बलि, दीनता।
प्रभु की बड़ाई बड़ी, आपनी छोटाई छोटी,
प्रभु की पुनीतता, आपनी पाप-पीनता ।।
दुहू ओर समुझि सकुचि सहमत मन,
सनमुख होत सुनि स्वामी समीचीनता।
नाथ-गुनगाथ गाये, हाथ जोरि माथ नाये,
नीचऊ निबाजे प्रीत-रीति की प्रवीनता ।।

—(वही—२६२)

इस लक्ष्य को तुलसी ने सदैव दृष्टि में रखा है। इसी के आधार पर वह राम के समक्ष सत्याग्रह करने को कटिबद्ध हो उठे—

पन करि हौं हठि आजु तें रामद्वार पर्‌यो हौं।
'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहौं जनम भरि, प्रभु की सौंकरि निबर्‌यो हौं ।।

—(वही—२६७)

इस सत्याग्रह की स्थिति में तुलसीदास अपनी बात कहने से रुकते नहीं हैं ।

जैसो हौं तैसो राम रावरो जन, जनि परिहरिए ।
कृपासिन्धु, कोसलधनी ! सरनागत-पालक, ढरनि आपनी ढरिए ।।
—(वही—२७१)

तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरो ।
सुनहु राम ! बिनु रावरे लोकहु परलोकहु कोउ न कहूँ हितु मेरो ।।
—(वही—२७२)

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
राम रावरे बिन भये जन जनमि-जनमि जग दुख दसहू दिसि पायो ।।
—(वही—२७६)

संसार के मायिक सम्बन्धों को सोचकर, राम के बड़प्पन की अनुभूति कर और लौकिक कष्टों से बाधित होकर तुलसी ने अपनी यह विनयपत्रिका लिख दी है और अब राम से उसे पढ़ डालने की प्रार्थना करते हैं—

'विनयपत्रिका' दीन की, बापु ? आप ही बाँचो ।
हिये हेरि तुलसी लिखी, सो सुभाय सही करि बहुरि पूंछिये पाँचो ।।
—(वही—२७७)

तुलसी को परिषद-विधान का पूर्ण ध्यान है । अपने हृदय की सच्ची बातों की 'सही' तो वह राम से चाहते हैं और उस सही समर्थन की साक्षी के लिए पंचों की राय लेने के लिए भी कहते हैं । राम से यह निवेदन कर वह पुनः पार्षदों को अपने अनुकूल ही रहने की प्रार्थना करते हैं । यों प्रारम्भ में वह सभी से प्रार्थना कर ही चुके थे ; किन्तु अवसर पर वे कहीं तुलसी को विस्मृत न कर जाएं इससे उन्हें उनकी अनुनय विनय कर देने की फिर आवश्यकता प्रतीत हुई ।

पवन सुवन ! रिपु-दवन ! भरतलाल ! लखन ! दीन की ।
निज निज अवसर सुधि किए, बलि जाऊँ, दास-आस पूजि है खास खीन की ।
राज-द्वार भली सब कहैं साधु-समीचीन की ।
सुकृत-सुजस, साहिब-कृपा, स्वारथ-परमारथ, गति भए गति विहीन की ।।
समय सँभारि सुधारिबी तुलसी मलीन की ।
प्रीति-रीति समुझाइबी नतपाल कृपालुहि परमिति पराधीन की ।।
—(वही—२७८)

राजा राम का दिव्य दरबार लगा हुआ था । सभी पार्षद उनकी सेवा में प्रवृत्त थे । हनुमान और भरत की रुचि देखकर लक्ष्मण ने यह कहते हुए तुलसी की विनयपत्रिका राम के समक्ष प्रस्तुत कर दी—

'कलिकालहु नाथ ! नाम सों परतीति-प्रीति एक किंकर की निबही है' सभी पार्षद सधे हुए थे ही, लक्ष्मण की वाणी में वाणी मिलाकर कह उठे—'हाँ, हाँ, यह

बात सत्य है, हम लोग भी उसकी रीति जानते हैं।' राम ने मुस्कराकर कहा—'सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।' अवश्य ही जगज्जननी सीता ने भी उनसे कहा होगा, तुलसी उनसे भी तो राम से कहने की प्रार्थना कर चुके थे। सभी के अनुकूल होने पर तुलसी की विनयपत्रिका पर राम की 'सही' हो गई। 'विनयपत्रिका' की 'सही' तुलसी के आत्मसमर्पण पर राम की स्वीकृति है।

तुलसी ने राम में अनन्य निष्ठ होकर सभी कुछ कहा है। इससे भक्ति-भावना का कोई भी अङ्ग छूट नहीं सका है। आत्म-निवेदन के मध्य में ब्रह्म, जीव, प्रकृति और माया के सम्बन्ध में भी उन्होंने यथासाध्य कहा है। स्वभावतः जीव और प्रकृति ब्रह्म से सम्बद्ध होते हुए भी माया द्वारा प्रताड़ित और बाधित हैं। इस असम्बद्धता के उन्मूलन के लिए विशिष्टाद्वैती सिद्धान्तों के आधार पर भक्ति अत्यावश्यक है। भक्ति में भक्त का आत्मसमर्पण कर देना ही उसकी निष्कृति का शिलान्यास है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैती सिद्धान्तों के समर्थन के मध्य में विनयपत्रिका में प्रपत्ति का उत्कृष्ट स्वरूप विद्यमान है।

: ६ :

तुलसी-पद-साहित्य के भाव और रस

१. श्री कृष्णगीतावली

राम के समान कृष्ण द्वारा भी लोक-रंजन और लोक-कल्याण हुआ है, इसी से तुलसी ने उनको भी अपनी आस्था और भक्ति का नैवेद्य चढ़ाया है, जिससे उनके अवतारी रूप का सम्यक् प्रस्फुटन इस काव्य में हुआ है। रामानन्द की शिष्य-परम्परा और राम के एकमात्र आराध्य होते हुए उनके प्रति ऐसी भावना वस्तुतः उनके अन्तःस्तल की उदारता और व्यापक सहृदयता ही सिद्ध करती है।

श्री कृष्णगीतावली उनकी स्फुट रचना है, फिर भी राम के समान कृष्ण-चरित्र के केवल लोकादर्श ही वह जन-जीवन के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते थे, इसी से उनकी दृष्टि उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं पर टिकी है, जिनमें कृष्ण के बाल-जीवन और विरह तथा भ्रमरगीत की परिस्थितियाँ ही प्रमुख हैं।

कृष्ण का बाल-जीवन—इस काव्य के प्रारम्भ में तुलसी ने कृष्णावतार की कोई भूमिका प्रस्तुत नहीं की है जैसी सूर ने 'सूरसागर' में या स्वयं उन्होंने राम के सम्बन्ध में 'मानस' में की है। फलतः कृष्ण-जन्म की कठिनाइयों और वसुदेव-देवकी की चिन्ताओं के लिए इसमें कोई अवकाश ही नहीं है। इसी से जब से कृष्ण बोलने और तुतलाने लगे हैं तभी से कवि ने उन्हें अपने काव्य का आलम्बन बना लिया है।

यशोदा उन्हें गोद में लिए हुए आनन्द-विभोर है। उसके इस आनन्दोल्लास को देखकर कृष्ण उससे पूछ ही बैठे—'तू इतनी आनन्दित क्यों है? मुझे समझा तो दे।' वह उन जैसे पुत्र को प्राप्त कर दिव्यानन्द की अनुभूति करती हुई कृतार्थ थी। उसने कृष्ण को उत्तर दिया—"कहै कौन रसन मौन जानै कोइ कोई।" इस अवसर पर तुलसी को भी कृष्ण के भगवान् रूप को व्यक्त करने का अवकाश मिल गया है और वह कह उठे हैं—

तुलसी प्रभु प्रेम विवस मनुज रूप धारी।
बालकेलि लीला रस ब्रज जन हितकारी॥

—(श्री कृष्णगीतावली—१)

यहीं से तुलसी ने बालकृष्ण की लीलाओं के वर्णन की व्यवस्था की है। कृष्ण चलने-फिरने लगे हैं। यशोदा की दी हुई रोटी वह किलक-किलक कर खाते हैं और उसे दूसरे बच्चों को दिखा-दिखाकर चिढ़ाते हैं। वस्तुतः एक सजीव चित्र है—

"छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै तू,
"दै री, मैया !" "ले कन्हैया !" सो कब ?" "अबहिं तात ।"
"सिगरियै हौं हीं खैहौं, बलदाऊ को न देहौं ।"
"सो क्यों ?" "भट्टू, तेरो कहा" कहि इत उत जात ।।

इस पद में वात्सल्य के उद्दीपन रूप में कृष्ण की बाल-सुलभ आतुरता और चतुरता सफलता से प्रस्फुटित हुई है। ऐसे अन्य चित्र इस काव्य में नहीं हैं, इसके लिए काव्य के स्फुट भाव के साथ स्वयं तुलसी की प्रवृत्ति भी उत्तरदायी है।

इस स्थल पर इस तथ्य का व्यक्त करना अनुचित न होगा कि इस प्रकार के अभिनयात्मक अवसर राम के बाल-जीवन में तुलसी कहीं भी समाविष्ट नहीं कर सके हैं। 'रामचरितमानस', 'कवितावली' और 'गीतावली' में बाल-वर्णन आए अवश्य हैं; किन्तु सूर के कृष्ण के बाल-वर्णन के समान उनमें सजीवता नहीं है। तुलसी के वे समग्र स्थल अभिनयात्मक के स्थान पर वर्णनात्मक ही हैं।

गोपी-उपालम्भ

श्री कृष्णगीतावली के तृतीय पद से गोपी-उपालम्भ प्रारम्भ है। कृष्ण अपने समवयस्क गोप-ग्वालों के साथ गोपियों के घर जाकर दूध-दही-मक्खन खाते हैं और बगराते हैं। गोपियाँ पीड़ित और बाधित होती हैं, फलतः उक्त प्रसंग का सूत्रपात हो उठा है।

गोपियों के इन उपालम्भों के मध्य में कृष्ण के जीवन का प्रारम्भिक भाग ही बीता है। कृष्ण के अनुपम सौन्दर्य पर वे रीझ गई हैं, फलस्वरूप उनके दर्शन के लिए वे बार-बार यशोदा के यहाँ आ पहुँचती हैं। वस्तुतः कृष्ण के जीवन का यह अंग शृंगार के 'सम्भोग पक्ष' का है। इनमें कृष्ण अलाम्बन, गोपियाँ आश्रय तथा उपालम्भ की परिस्थितियाँ उद्दीपन हैं।

गोपियों के उपालम्भ और उनके उत्तर-प्रत्युत्तर में कृष्ण और यशोदा की जो उक्तियाँ हैं, वड़ी ही प्रासादिक, स्वाभाविक और मनोरम हैं। गोपी के उपालम्भ का एक चित्र देखिए—

तोहि स्याम की सपथ जसोदा ! आइ देखु गृह मेरे।
जैसी हाल करी यहि ढोटा छोटे निपट अनेरे ।।
गोरस हानि सहौं, न कहौं कछु यहि ब्रजवास बसेरे।
दिन प्रति भाजन कौन वेसाहै ? घर निधि काहू केरे ।।
× × ×
बैठो सकुचि साधु भयो चाहत मातु बदन तन हेरे।
तुलसीदास प्रभु कहौं ते बातैं जे कहि भजे सबेरे ।।

कृष्ण ने सब सुनकर अपनी प्रत्युत्पन्नमति से गोपी को वह उत्तर दिया कि

उसे यशोदा का समर्थन मिल गया और गोपी खिसिया कर रह गई ।

इन्ह के लिएँ खेलिबो छाँड्यो, तऊ न उबरन पावहिं ।
भाजन फोरि, बोरि कर गोरस देन उरहनो आवहिं ।।
कबहुँक बाल रोवाइ, पानि गहि, मिस करि उठि उठि धावहिं ।
करहिं आपु, सिर धरहिं आनके, बचन बिरंचि हरावहिं ।।
मेरी टेव बूझि हलधर सो, संतत संव खेलावहिं ।
जे अन्याउ करहिं काहू को ते, सिसु मोहि न भावहिं ।।

कृष्ण ने सारा दोष गोपी का सिद्ध किया । साथ ही अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए उन्होंने बलराम की सबल साक्षी ही नहीं दी; किन्तु अपनी बाल-नीति भी स्पष्ट कर दी । फिर गोपी का कौन विश्वास करे ? यशोदा ने कृष्ण की बातें सुनकर उनका समर्थन किया—मेरा कन्हैया तो कभी दूसरे के घर जाता ही नहीं । बलराम के साथ ही आँगन में खेलता रहता है । मेरे यहाँ क्या दूध-दही-मक्खन की कमी है जो तेरे यहाँ खाने जावेगा ।

गोपी लज्जित होकर रह गई । सच होती हुई भी झूठ सिद्ध हुई । उसके पराजय के शब्दों में भी कृष्ण की रूप-माधुरी की छलकन भरी है—

अब सब साँची कान्ह तिहारी ।
जो हम तजे, पाइ गौं मोहन गृह आए दै गारी ।।
कोटि जतन करि सपथ कहैं हम, मानै कौन हमारी ।
तुमहि बिलोकि, आन की ऐसी क्यों कहिहैं बर नारी ।।

कृष्ण को भी अपनी लीला में कम आनन्द नहीं आता था । इसी से वह अपना बाल-सुलभ ऊधम न छोड़ सके—न छोड़ सके । गोपी उपालम्भ देने फिर आधमकी । कृष्ण ने देखा कि यह भली पीछे पड़ी है । इस बार गोपी को तो डाँट बताई ही है; किन्तु यशोदा की सिधाई को भी उन्होंने अच्छी दृष्टि से नहीं देखा । पूरा गीत ही दृष्टव्य है—

अबहि उरहनो दै गई, बहुरौ फिरि आई ।
सुनु ! तेरी सौं करौं, याकी टेव लरन की,
सकुच बेंचि सी खाई ।।
या ब्रज में लरिका घने, हौं ही अन्याई ।
मुंह लाएँ मूंड़हि चढ़ी, अंतहुँ अहिरिनि, तू सूधी करि पाई ।।
सुनि सुत की अति चातुरी जसुमति मुसुकाई ।
तुलसीदास ग्वालिनि ठगी, आयो न उतरू,
कछू, कान्ह ठगौरी लाई ।।

गोपियाँ पुनः पुनः उपालम्भ के लिए आती हैं । एक ओर तो अपने पक्ष को सबल करने के लिए यह कहती हैं—'कृष्ण ! लोग तभी तक तुम पर विश्वास करते

हैं जब तक हम तुम्हारे गुण छिपाए हुए हैं'; किन्तु सच तो यह है कि वे कृष्ण के समक्ष स्वयं अपना हृदय हारे बैठी हैं। इसी से उपालम्भ के मध्य में भी कहीं तर्जनी अँगुली दिखाकर डाँटती है और कभी नेत्र के संकेत से मना करती हैं। कृष्ण ने उनके इस चातुर्य को देखकर सभी के समक्ष उसे स्पष्ट कर दिया—

गरजति कहा तरजिनिन्ह तरजति,
बरजत सैन नैन के कोए।

उधर यशोदा से कहा—मैया, यह स्वयं मुझसे झगड़ा करती हैं और अपना विवाद प्रस्तुत करने आगे आ पहुँचती है। तू तो सीधी है जो इसे मुँह लगाए है। यह बड़ी झगड़ालू है, किसी को यह गिनती थोड़े ही है।

यह तो मोहि खिझाइ कोटि विधि,
उलटि बिवादन आइ अगाऊ।
याहि कहा मैया मुंह लावति,
गनति कि ए लंगरि झगराऊ॥

यशोदा ने गोपियों और कृष्ण के मध्य के मधुर उत्तर प्रत्युत्तर सभी सुने। वह उनके अलौकिक आनन्द की अनुभूति से स्वयं सिहर उठी, फिर वह उनके मध्य में कोई व्यवधान प्रस्तुत करती तो कैसे करती? अन्ततः वह माता भी थी, इससे उसने एक मनोवैज्ञानिक युक्ति निकाली और उसका प्रभाव तत्काल दृष्टिगोचर भी हुआ।

अरे कृष्ण, इस 'लड़िकाई' को तू छोड़ भी दे। कल तेरे ब्याह वाले आवेंगे। जब वे और तेरी दुलहिन सुनेगी कि तू चोरी करता है तो वे हँसेंगे। आ, तेरे उबटन लगा दूं, तू नहा ले। आ, तेरी चोटी गूँथ दूं, तब तू भला लगने लगेगा और तेरी बड़ाई होगी। माता का कहना प्रभाव कर गया। दूल्हा बन जाने पर भी जब उसे कोई देखने न आया तो माता से पूँछ बैठे—मैया, वे आए नहीं। 'वे कल आवेंगे।' 'कल कब होगा।' 'जब तू सो जावेगा।' बात कुछ कृष्ण को भी जँची। तत्काल ही सोने का उपक्रम भी कर लिया। अनन्तर थोड़ी देर बाद ही सोकर उठ बैठे और कहा—'मैया, अब तो सवेरा हो गया। ला मेरी झँगुलियाँ दे दे।' विवाह की बात का कृष्ण पर प्रभाव देखकर यशोदा और ग्वालिनें हँस दी, उस समय कृष्ण लज्जित होकर यशोदा के वक्षस्थल से चिपट गए।

मनोवैज्ञानिक सत्य के साथ अभिनेय तत्त्व के मिश्रित होने के कारण गीत बड़ा ही मधुर है।

छांडो मेरे ललन! ललित लरिकाई।
ऐहैं सुत! देखुवार कालि तेरे,
बबै ब्याह की बात चलाई॥
डरिहैं सासु ससुर चोरी सुनि,

हँसिहै नइ दुलहिया सुहाई।
डबटौ न्हाहु, गुहौं चुटिया बलि,
देखि भलो बर करिहिं बड़ाई॥
मातु कह्यो करि कहत बोलि दै,
भइ बड़ि बार, कालि तौ न आई।
'जब सोइबो तात' यों 'हाँ' कहि,
नयन मींचि रहे पौढ़ि कन्हाई॥
उठि कह्यो, भोर भयो, झँगुली दै,
मुदित महरि लखि आतुरताई॥
बिहँसी ग्वालि जानि तुलसी प्रभु,
सकुचि लगे जननी उर धाई॥

गोपी-उपालम्भ के पदों के क्रम में ही 'उलूखल-बन्धन', 'इन्द्रकोप-गोवर्धन धारण', 'गोचारण', 'मुरली-माधुरी' और 'रूप-माधुरी' के पद भी वर्णित हैं। इनमें 'उलूखल बन्धन' विषय गोपी-उपालम्भ का ही एक अंश कहा जा सकता है। 'गोवर्धन धारण' और 'गोचारण' में कृष्ण के जीवन का सामाजिक भाव तथा 'मुरली माधुरी' और 'रूप माधुरी' में कृष्ण के एकान्तिक प्रेम-माधुरी का स्वरूप विद्यमान है।

सम्पूर्ण सम्भोग शृंगार में तुलसीदास कृष्ण की चिरसंगिनी राधा की पूर्ण उपेक्षा कर गए हैं। स्वभावतः यह विचारणीय है कि ऐसा क्यों? कृष्ण-काव्य में राधा के सन्निवेश से पुष्टि सम्प्रदाय में माधुर्य के प्रतिपादन में बड़ा सहयोग मिला है। राधा कृष्ण का आरम्भिक परिचय क्रमशः गाढ़तर होता गया है और सूर ने तो राधा के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है।

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥
माधव राधा के रँग रांचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई॥
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज-विहार नित नई-नई॥
—पद ४९१० (सभा-संस्करण)

'पुष्टि सम्प्रदाय' में राधा को आनन्द की आदि शक्ति कहा गया है। इससे उनके स्वरूप को यदि अष्टछाप एवं अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने प्रमुखता दी हो तो आश्चर्य ही क्या है। इस काव्य में तुलसी का राधा को सन्निवेश न करना वस्तुतः यह स्पष्ट प्रमाण है कि वह सूर या अन्य किसी कवि से प्रभावित न थे। कृष्ण के चरित्र में भी उनका स्वच्छन्द व्यक्तित्व ही उपर्युक्त हुआ है अन्यथा राधा के चरित्र का छूट जाना कठिन ही नहीं, असम्भव होता। उपर्युक्त के सम्बन्ध में यह तर्क भी प्रस्तुत

किया जा सकता है कि तुलसी की यह स्फ़ुट रचना रही है, इससे राधा का समावेश न हो सका हो। यह तर्क असंदिग्ध रूप से बड़ा लचर है क्योंकि कृष्ण-काव्य की प्रमुख घटनाओं को तुलसी ने सांकेतिक रूप से स्पर्श किया है। जब गोपी या गोपियों का सन्निवेश है तब राधा का व्यक्तित्व क्यों छूट जाना चाहिए ? यह तथ्य स्पष्ट करता है कि तुलसी ने वल्लभाचार्य द्वारा स्वीकृत कृष्ण-चरित को मान्यता नहीं दी है। वस्तुतः कृष्ण के सम्बन्ध में वह भागवत की उन परम्पराओं से प्रभावित थे जिनमें राधा को कृष्ण का सामीप्य प्राप्त नहीं हो सका है।

इसी सम्भोग शृंगार में, जहाँ कृष्ण और गोपियाँ अभिन्न रूप से एक दूसरे की हो रही थी, जहाँ कृष्ण अपनी अलौकिक लीलाओं से सबके नयनाभिराम और आकर्षण के विषय थे। जहाँ का समाज कृष्ण के दिव्य बल से आश्वस्त हो इन्द्र जैसे देवता की उपेक्षा करने में भी आनन्द अनुभव कर रहा था, ऐसे क्षण भी आए जब गोपियों के लिए कृष्ण के वियोग की घटना भी प्रस्तुत हो गई।

गोपी-विरह

गो० तुलसीदास ने कृष्ण विषयक विरह को सूरदास या हरिऔध के समान लोक-व्यापी चित्रण नहीं किया है। भाव-भूमि को वह जान-बूझकर अधिक विस्तार नहीं दे सके हैं। इसी से गोपी-विरह में वैविध्य समाहित नहीं हो सका है।

गोपी-विरह का कवि ने सहृदयतापूर्ण चित्रण किया है। इसी के मध्य में उद्धव के कृष्ण के सन्देशवाहक होकर आने में उनको अपने अन्तरतम की कहने को भी घड़ियाँ मिली हैं। उनके कहने में उनके प्रेम और स्नेह की ही अभिव्यंजना हुई है। कृष्ण, उद्धव और नेत्रों के लिए कही हुई उनकी उक्तियाँ बड़ी ही मधुर और मर्म-स्पर्शी बन पड़ी हैं। सूर की गोपियों के समान कृष्णगीतावली की गोपियाँ भी अनुभव जन्य प्रेमोद्गारों को व्यक्त करने में सफल हैं। नन्ददास की गोपियों के समान उद्धव की एक-एक बात काट देने का चातुर्य उनमें नहीं है। वे उद्धव के सिद्धान्त को भी मानने को प्रस्तुत हैं, यदि प्रिय कृष्ण से उनका पुनः सम्मिलन हो जावे। इसी से तुलसी की गोपियों का विरह भी मानव-भूमि पर सरलता से प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

कृष्ण की रूप-माधुरी अपूर्व और अलौकिक है, इसी से वियोगावास्था में भी उसका आँचल गोपियों से छोड़ते नहीं बनता। उनकी उक्तियों में, जो उन्होंने अपनी विवशता व्यक्त करने के लिये परस्पर गोपियों में कहीं हैं, इसका पूर्ण प्रस्फुटन हैं—

मन फेरियत कुतर्क कोटि करि कुबल भरोसे भारि।
तुलसी जग दूजा न दूखियत कान्ह कुंवर अनुहारि।।—(कृ०गी०—२७)

× × ×

लागियै रहति नयननि आगें तें,

न टरति मोहन मूरति ।
नील नलिन स्याम, शोभा अगनित, काम
पावन हृदय जेंहि फूरति ॥
अमित सारदा शेष नहीं कहि
सकल अंग अंग सूरति ।
तुलसीदास बड़े भाग मन
लागेहु तें सब सुख पूरति ॥ —(कृष्णगीतावली—२८)

ऐसे सुन्दर कृष्ण, जो बाल-जीवन से ही उनके आनन्द और विनोद के चिर-सहचर रहे हों, अपने वियोग से गोपियों को दुःखाब्ध में क्यों न डुबा देते ? इस दारुण विरह में उनकी विरहोक्तियाँ पूर्ण अनुभूत हैं, उनमें ऊहात्मक भावनाओं का समावेश नहीं है।

कृष्ण के उदासीन भाव के लिए तो उनके मन में व्यथा है ही; किन्तु नेत्रों और मन ने भी उनके साथ विश्वासघात किया है, यह स्मरण कर वह मर्माहित हो उठी हैं—

बिछुरत श्री ब्रजराज आजु
इन नयनन की परतीति गई ।
उड़ि न लगे हरि संग सहज तजि,
ह्वै न गए सखि स्याम नई ॥
अब काहे सोचत मोचत जल,
समय गएं चित सूल नई ।
तुलसिदास जड़ भए आपहिं तें,
जब पलकनि हठि दगा दई ॥ —(वही—२४)

मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित मन के लिये कही गई उक्ति भी उनकी विरह-वेदना और विवशता को स्पष्ट करती है। मन की यह स्थिति है कि अपनी अभिरुचि की पूर्ति के लिए वह शरीर के सम्पूर्ण अंगों को अपने अनुकूल बना लेता है; किन्तु द्रुतगामी होने के कारण शरीर की पूर्ण उपेक्षा कर वह जहाँ जाना चाहता है स्वयं चला जाता है। मन के इस चातुर्य का उल्लेख कवि ने बड़ी विदग्धता से किया है—

नहिं कछु दोष स्याम को माई ।
जो दुख मैं पायों सजनी सुन
सो तो सबै मन की चतुराई ॥
निज हित लागि तबहि ए बंचक
सब अंगनि बसि प्रीति बड़ाई ।
लियो जो सब सुख हरि अंग-संग को
जहँ जेहि विधि तहँ सोइ बनाई ॥

अब नँदलाल गवन सुनि मधुबन
तनुहि तजत नहिं बार लगाई।
रुचिर रूप-जल महँ सो ह्वै
मिलि, न फिरन की बात चलाई।।
एहि सरीर बसि सखि वा सठ कहँ
कहि न जाई जो निधि फिरि पाई।
तदपि कछू उपकार न कीन्हो
निज मिलन्यौ तहिं मोहि लिखाई।। —(कृष्णगीतावली—२५)

सम्भोग श्रृंगार के उद्दीपन तत्त्व चन्द द्वारा विरहाधिक्य की अनुभूति भी गोपियों द्वारा की गई है। इस स्थिति में सूर्य उन्हें चन्द से अधिक प्रिय और कष्ट-हर है—

ससि तें सीतल मोकौं लागै माई री! तरनि।
याके उएँ बरति अँग अँग दव,
वाके उएँ मिटति रजनि जनित जरनि।।

चन्द्रमा से सूर्य के अधिक सुखद लगने का कारण केवल माधव-वियोग पर ही सम्भव है—

सब विपरीत भए माधव बिनु
हित जो करत अनहित की करनि।
तुलसीदास स्यामसुन्दर-विरह की
दुसह दसा सो मो पैं परति नहीं बरनि।।

इसी विरह-दशा के मध्य में तुलसीदास ने भ्रमरगीत की भी योजना की है। कृष्ण-काव्य का यह अंश ज्ञान की तुलना में भक्ति को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये आयोजित है। तुलसी की गोपियाँ भी सूर की गोपियों के समान भोली-भाली हैं। अपना तर्क वह उद्धव पर लादती नहीं; किन्तु अपने प्रेम के उल्लेख से ही वह उन्हें निरुत्तर कर देने में समर्थ हुई है। वह उद्धव से स्पष्ट कहती है—

जेहि उर बसत स्यामसुन्दर घन, तेहिं निर्गुन कस आवै।
तुलसिदास सो भजन बहावौ, जाहि दूसरो भावै।।

गोपियों के हृदय में उद्धव की वाणी के प्रति सम्मान है। इसी से वे उन्हें सभी कुछ कह डालने के लिये अभिप्रेरित करती हैं। व्रज में रहकर उन्होंने प्यारे की लीलाएँ देखी नहीं हैं, इसी से अजान बने वह सभी कुछ कहे जाते हैं। इसमें दोष उनका न होकर अपना ही है, क्योंकि प्यारे के साथ प्राण गए नहीं, इससे उन्हें सभी कुछ सहन करना होगा—

मधुकर! कहहु कहन जो पारौ।
बलि नाहिन अपराध रावरो, सकुचि साध जनि मारौ।।

नहिं तुम ब्रज बसि नंदलाल को बालबिनोद निहारौ ।।
नाहिन रास रसिक रस चाख्यो, ताते डेल सो डारौ ।।
तुलसी जो न गए प्रीतम संग प्रान त्यागि तनु न्यारौ ।।
तौ सुनिबौ देखिबौ बहुत अब, कहा करम सो चारौ ।।
—(कृष्णगीतावली—३४)

इतना ही नहीं गोपियाँ ये भी कहती हैं कि यदि कृष्ण के विरह में आतुर और आकुल हम गोपियों को आप अपने ज्ञान के योग्य समझते हैं तो परमार्थ की चर्चा करते चलिये । प्रियतम के सखा की वाणी सुनने में उन्हें विरोध ही क्या हो सकता है ? वस्तुतः उनके आचरण में विनम्रता की पराकाष्ठा है ।

ऊधो जू कह्यो तिहारोइ कीबो ।
नीकें जिय की जानि अपनपौ समुझि सिखावन दीबौ ।।
स्याम वियोगी ब्रज के लोगनि जोग जोग जो जानौ ।
तो सँकोच परिहरि पालागौं परमारथहि बखानो ।।— (वही—३५)

उद्धव जैसे बौद्धिक ज्ञानी अपनी सुनिश्चित विचार-धारा के अनुसार अपनी बात कहते ही रहे होंगे और गोपियाँ भी विना ननु नच के सुनते ही रही होंगी । इसी से पुनः विनम्र हो गोपियाँ कह उठीं—

तुम कहि रहे, हमहु पचि हारीं,
लोचन हठी तजत हठ नाहीं ।
तुलसिदास सोइ जतन करहु कछु,
बारेक स्याम इहाँ फिर जाहीं ।।

कृष्ण के सहचर्य के लिए उनके मन में तड़पन और व्यग्रता भरी हुई है । जिससे उनका अन्य किसी बात अथवा स्वरूप से समझौता हो हा नहीं पाता । उद्धव भी निराश हो रहे । उनका ज्ञान सक्रिय न हो सका । वह जिस सज-धज और गर्व के साथ ब्रज में पधारे थे उससे अधिक निराशा और लज्जा के साथ लौट गए । सच तो यह है कि प्रेम-तत्त्व गोपियों की धमनियों में इस प्रकार प्रविष्ट था कि उनसे उनका परित्याग हो ही नहीं सकता था । इस प्रगाढ़ प्रेम के कारण ही गोपियों ने उद्धव से अपनी चर्चाओं के मध्य में कुब्जा और कृष्ण के लिये भी वहुत कुछ कहा है । कृष्ण के प्रति कही गोपी की उक्ति देखिए—

ब्रज को बिरह, अरु संग महर को,
कुबरि बरत न नेकु लजाने ।
समुझि सो प्रीति की रीति स्याम की
सोई बावरि जो परेखो उर आने ।

इसी प्रकार कुब्जा को भी उन्होंने अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है—

राखी सखि कूबरी पीठ पर ये बातें बकुचौहीं ।

स्याम सो गाहक पाई सयानी ! खोलि दिखाई है गौंहीं ।।
नागर मनि सोभा सागर जेंहि जग जुवती हँसि मोहीं ।
लियो रूप दै ग्यान गाँठरी भलो ठग्यो ठगु ओहीं ।।

कहने को तो गोपियाँ कहलाती हैं ; किन्तु अन्ततः अपनी विवशता से परास्त हो रहने के कारण कृष्ण की रूप माधुरी की अपनी लालसा पर पटाक्षेप नहीं कर पातीं । इसी विवशता के मध्य में एक गोपी का निम्न सुझाव है । क्यों न कृष्ण और कुब्जा को मनाकर ब्रज में ले आया जाय । यशोदा और नन्द को सुख होगा और साथ में दूसरे-चौथे दिन अपने को भी दर्शन हो जायेंगे । भले ही कुब्जा दासी और असुन्दर रही हो ; किन्तु कृष्ण की हो जाने के कारण तो सम्मान की अधिकारिणी है ही ।

सब मिलि साहस करिय सयानी ।
ब्रज आनियहिं मनाइ पाँय परि कान्ह कूबरी रानी ।।
बसै सुबास, सुपास होंहि सब फिरि गोकुल रजधानीं ।
महरि महर जीवहिं सुख जीवन खुलहि मोद मन खानीं ।
तजि अभिमान अनख अपनो हित कीजिय मुनिवर बानी ।।
देखिबो दरस दूसरेहुँ चौथेहुँ बड़ो लाभ, लघु हानी ।
पावक परत निसिद्धि लाकरी होति अनल जग जानी ।।
तुलसी सो तिहु भुवन गायबी नन्दी सुवन सन मानी ।

—(कृष्णगीतावली—४८)

इन पंक्तियों में भारतीय नारी की सलज्ज भावना सन्निहित है ।

कृष्णगीतावली की लघु सीमाओं के कारण तुलसी अपने भ्रमरगीत में सूरदास के समान वैविध्य अवश्य नहीं प्रस्तुत कर सके ; किन्तु काव्य के लक्ष्य की पूर्ति में वह पूर्ण सफल हुए हैं, यह सर्वमान्य है । प्रेम-परक-भक्ति ज्ञान से उच्चतर है, यह कृष्ण-काव्य की भावना उन्होंने भी सिद्ध कर देने की पूर्ण चेष्टा की है ।

तुलसी की आस्था और भक्ति

तुलसी की कृष्णगीतावली में उनकी आस्था और भक्ति स्वरूप विद्यमान है । ये उनके व्यक्तित्व में इस प्रकार घुले-मिले हैं कि उनके बिना उनकी वाणी प्रस्फुटित ही नहीं हो पाती । इसी से उनकी रचनाओं में उनका कोई न कोई रूप अवश्य समाहित मिलेगा ।

तुलसी के इस काव्य में भी स्थल-स्थल पर कृष्ण के भगवत रूप पर प्रकाश पड़ता है ।

तुलसी प्रभु प्रेम विवस मनुज रूपधारी ।
बालकेलि लीला रस ब्रज जन हितकारी ।। —(वही—१

इन्ह ही के आए ते बधाए ब्रज नित नए
नादत बाढ़त सब सब सुख जियो है।
नंदलाल बाल जस संत सुर सरबस
गाइ सो अमिय रस तुलसिहुँ पियो है ॥ —(वही—१६)

× × ×

तुलसी बालकेलि सुख निरखत,
बरषत सुमन सहित सुरसैया। —(वही—१६)

× × ×

नन्दनन्दन मुखकी सुन्दरता
कहि न सकत स्रुति सेष उमाबर।
तुलसिदास त्रैलोक्य विमोहन
रूप कपट नर त्रिविध सूल हर ॥ —(वही—२१)

उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य स्थल भी उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनमें तुलसी की आस्तिक भाव-धारा सगुम्फित हो उठी है। इस काव्य के अन्त के दो पदों में, जिनमें द्रोपदी की लज्जा-रक्षण-लीला का गान किया गया है, कवि की यह भावना समूर्त हो उठी है। कृष्ण के इस संरक्षण से द्रोपदी सनाथ हो उठी है और उसी के तारतम्य में वह कह उठे हैं—

जुग जुग जग साके केसव के
समन कलेस कुसाज सुसाजी।
तुलसी को न होइ सुनि कीरति
कृष्ण कृपालु भगति पथ राजी ॥ —(वह—६१)

यह अवश्य सत्य है कि इस काव्य में 'मानस' भी विनयपत्रिका के समान भक्ति-तत्त्वों के निरूपण के स्थल नहीं है। किन्तु यह कहना कि तुलसी ने भक्ति-भावना और प्रसंग का परित्याग कर कृष्ण-चरित का गान किया है ; या राम के अतिरिक्त अन्य में उनकी आस्था ही नहीं थी—यह एक तथ्य की तो उपेक्षा है ही, साथ में एक महाकवि की सद्भावना के प्रति भी अन्याय है। इस काव्य को देखकर तुलसी के जीवन से सम्बन्धित उस घटना पर, जिसमें उनके अनुरोध पर कृष्ण को राम-रूप धारण करने को बाध्य होना पड़ा, सहसा विश्वास नहीं होता। सच तो यह है कि सूर और तुलसी संकीर्ण दृष्टिकोण लेकर नहीं जन्मे थे, इसी से सूर ने राम-चरित और तुलसी ने कृष्ण-चरित लिखकर अपनी उदात्त भावनाओं का प्रस्फुटन किया है। वे हमारी संस्कृति के प्रतिनिधि थे, इसी से उनकी वाणियाँ शताब्दियों के उपरान्त आज भी हमें जीवन के निर्माण और निष्कृति के लिए मूक सन्देश देती हैं। फलस्वरूप उनसे हम कृतार्थ और आश्वस्त हैं।

यह सत्य है कि कृष्ण-जीवन की व्यापक भावनाएँ कृष्णगीतावली में महा-

कवि द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकीं, किन्तु उसके लघु रूप में 'मानम' और 'विनय-पत्रिका' के महाकवि का हृदय जावन्त और सप्राण है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

३. गीतावली

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि गीतावली में समग्र राम-चरित ही एक प्रकार से गीतों में समाहित है। आदि से अन्त तक राम-कथा इसमें उपलब्ध है; किन्तु इस सम्बन्ध में 'मानस' जैसा सम्पन्न है वैसी 'गीतावली' नहीं। इसमें उसकी प्रमुख घटनाएँ भी उपेक्षित हो उठी हैं। इसका एकमात्र कारण इसका गेय काव्य होना है अन्य नहीं। इसी से करुण और मधुर घटनाओं का कवि द्वारा इसमें सन्निवेश किया गया है, अप्रिय और कटु घटनाएँ छोड़ ही दी गई हैं। मानस महाकाव्य है, इससे सभी प्रकार की घटनाओं और एक दीर्घ प्रस्तावना का उसमें स्वागत हो सकता था, परन्तु गीतावली जैसा गेय काव्य उन सबको पचा नहीं सकता था, इसी से वे सब यहाँ परित्यक्त हैं।

राम-कथा विषयक परिवर्तन और परिवर्द्धन होने पर भी इसका बालकाण्ड राम के बाल-जीवन और उत्तरकाण्ड उनके माधुर्यपूर्ण स्थलों से युक्त होने के कारण शेष राम-काव्यों में यह अपना वैशिष्ट्य रखती है। इसी से 'मानस' और 'कविता-वली' के समक्ष भी गीतावली की अपनी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण है।

राम का बाल-चरित—राम के बाल-चरित वर्णन में गीतावली तुलसी के शेष काव्यों में सर्वोपरि है। यह स्थल प्रसंगतः 'रामचरित मानस' और 'कवितावली' में भी उपलब्ध हैं; किन्तु उनमें वे बड़ सीमित हैं। यहाँ तुलसी का महाकवि उनके बाल-रूप पर मुग्ध हुआ पूर्ण मर्यादा के साथ अपनी भावनाओं का चित्रण करता चला गया है, जिससे उनके बाल-जीवन की विस्तृत और विविध झाँकियाँ स्वमेव प्रतिष्ठित हो उठीं हैं।

गीतावली के बालकाण्ड के प्रथम छियालीस गीतों में राम और उनके अनुजों के शिशु और बाल-जीवनों की विविध झाँकियाँ हैं। यों तो राम के साथ उनके अनुजों के वर्णन साथ-साथ प्रवहमान है; किन्तु कवि की दृष्टि राम पर ही अधिक टिकी है, जो काव्य के आलम्बन होने के नाते पूर्ण न्यायोचित है।

इस प्रसंग में बधाई, नामकरण, दुलार तथा वात्सल्य परक कितने ही चित्र कवि द्वारा सहृदयता के साथ चित्रित किए गए हैं। किन्तु राम विष्णु के अवतार हैं, दुष्ट-निकन्दन हैं, राजकुमार हैं—इन विचारों से प्रभावित होकर तुलसी ने उनके महामहिम व्यक्तित्व की एक सुनिश्चित रूपरेखा स्वीकृत कर ली और अन्य पुरुष में वह उनका चित्रण करते चले गए हैं। इससे ये चित्रण गम्भीर हो गए हैं। राम और उनके अनुजों ने अपने 'शिशु' और 'बाल' अवस्थाओं में 'मैं' को लेकर क्या कभी कुछ

कहा ही न होगा ? अपने परिवार में और बाहर क्या वे कभी रूठे न होंगे और मान-मनौवल का रूपक न चला होगा ? यह सत्य है कि वह नारायण थे ; किन्तु वह नर-रूप में अवतरित हुए थे। इससे उन्होंने ऐसे सब आचरण किए ही होंगे; किन्तु तुलसो ने उनको कहीं भी बोलने का अवकाश नहीं दिया है। इससे अभिनयपूर्ण स्थलों का इन चित्रणों में पूर्ण अभाव है और सूर के बाल-वर्णनों के समान इन वर्णनों में सजीवता नहीं आ सकी है।

गीतावली में 'मानस' के समान राम-जन्म की न तो लम्वी भूमिका ही हैं और न प्रबन्ध काव्यों की दीर्घ परम्पराओं का ही उल्लेख है। यह सब उसके स्फुट और गेय काव्य होने के कारण सम्भव भी नहीं था। कवितावली में भी उपर्युक्त विवरणों का अभाव है। इससे दोनों काव्यों में राम के जन्म और शिशु रूप से ही रामकथा को अग्रसर किया गया है।

आजु सुदिन सुभ घरी सुहाई।
रूप-सील-गुन-धाम राम नृप-भुवन प्रगट भए आई॥
अति पुनीत मधु मास, लगन-ग्रह-बार-जोग समुदाई।
हरषवंत चर-अचर, भूमिसुर-तसरुह पुलक जनाई॥
बरषहिं बिबुध-निकर कुसुमावलि, नभ दुंदुभी बजाई।
कौसल्यादि मातु मन हरषित, यह सुख बरनि न जाई॥

—(गीतावली, बालकाण्ड—१)

कवितावली के प्रथम सवैया में भी राम काशिशु-रूप ही चित्रित है—

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसै।
अवलोकि हौं सोच विमोचन को ठगि-सी रही, जेन ठगे धिकसे॥
तुससी मन-रंजन रंजित-अंजन नैन सुखंजन-जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरूह से विकसे।

—(बालकाण्ड—१)

राम-जन्म पर राज-परिवार तथा अयोध्या के नर-नारियों के आनन्द-समारोह, सोहर-गान, सुरों, मुनियों, और नागों का उल्लास, राजा दशरथ की दान-दक्षिणा, पुत्र-जन्म के संस्कार, छटी, आदि के वर्णन कवि ने प्रस्तुत किये हैं। उनके नामकरण संस्कार के अवसर पर भी नगर की अद्वितीय साज-सज्जा और आमोदपूर्ण सभी के उसमें भाग लेने के विवरण चित्रित किये गये हैं।

वाल-चरित के मधुर और भावुक वर्णन वस्तुतः 'दुलार' के अन्तर्गत उपलब्ध है। इसमें राम का बाल-जीवन दो भागों में दृष्टव्य है। प्रथम में वह पारिवारिक वातावरण में पल्लवित है और द्वितीय में राम अपने अनुज और सखाओं सहित पारिवारिक सीमा को लाँघकर अयोध्या में विचरण और विविध क्रीड़ाएं करते हैं। उनके शिशु-जीवन के क्षण जननी और जनक के आन्नद में ही व्यतीत होते हैं। उस समय

उनके मानसों से आपदा विषयक विविध प्रकार की भावनाएँ और कामनाएँ प्रस्फुटित होती हैं। शिशु के उदास और रुग्ण हो उठने पर माता का व्यग्र और चिन्तित हो उठना स्वाभाविक है।

सुभग सेज सोभित कौसिल्या रुचिर राम सिसु गोद लिये।
बार बार बिधुवदन बिलोकति लोचन चारु चकोर किये॥
कबहुँ पौढ़ि पयपान करावति, कबहुँ राखति लाइ हिये।
बालकेलि गावति हलरावति, पुलकति प्रेम पियूस पिये॥

पुत्र के सामीप्य से मातृ हृदय के वात्सल्य का उमड़ पड़ना जीवन का चिर-सत्य है। फिर कौशल्या वह माता थी जिसने अपनी वृद्धावस्था में राम जैसे पुत्र को जो शङ्कर का सर्वस्व और देवताओं का आराध्य था, प्राप्त किया था। कुछ समय पूर्व पुत्र-अभाव में जो चिर दुःखी थी आज वही सपूती होकर अपने सौभाग्य का अनुभव करती हुई चिर सुखी है। आज राम तथा अन्य पुत्रों को लेकर उसके मानस से विविध प्रकार की शुभाकाँक्षाएँ प्रसूत हो रही हैं।

ह्वै हौ लाल कबहिं बड़े बलि मैया।
राम लषन भावते भरत-रिपुवदन चारु चार्यो भैया॥
बाल-बिभूषन बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनै हौं।
सोभा निरखि, निछावरि करि, उर लाइ वारने जै हौं॥
छगन मगन अंगना खेलिहौ मिलि, ठुमकु ठुमकु कब धैहौ।
कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि 'माँ' मोहि बुलैहौ॥

—(गीतावली, बालकाण्ड—८)

वस्तुतः इस सुख-समुद्र में कौशल्या के निमग्न रहने पर भी वह आतृप्त ही है। सुमित्रा भी इसी प्रकार की भावनाएँ व्यक्त कर रही है—

पगनि कब चलिहौ चारौ भैया?
प्रेम पुलकि, उर लाइ सुवन सब, कहत सुमित्रा मैया॥
सुन्दर तनु सिसु बसन बिभूषन नखसिख निरखि निकैया।
दलि तृन, प्रान निछावरि करि करि लैहैं मातु बलैया॥
किलकनि, नटनि, चलनि, चितवनि, भजि मिलनि मनोहर तैया।
मनि खंभनि प्रतिबिंब झलक, छवि छलकिहै भरि अँगनैया॥

—(वही—९)

वात्सल्य से पल्लवित राज-परिवार का एक चित्र और देखिए। इसमें दशरथ भी सम्मिलित हैं—

राम सिसु गोद महामोद भरे दशरथ,
कौसिलाहु ललकि लषनलाल लये हैं।
भरत सुमित्रा लये कैकयी सत्रुसमन,

तन प्रेम पुलन, मगन मन भये हैं।

परिवार के इस आनन्द और उल्लास के मध्य में, राम को दृष्टि लग जाने से, चिन्ता और शोक के क्षण भी घटित होते हैं। माता ने देव, पितर और ग्रहों की पूजा की और घृत का तुलादान भा किया ; किन्तु सब निष्फल हुआ।

राजु अनरसे हैं भोर के पय पियत न नीके।
रहत न बैठे, ठाड़े, पालने झुलावतहू, रोवत राम मेरो सो सोच सबहीके।

अन्त में कुलगुरु के नृसिंह मन्त्र के प्रयोग से परिवार का सङ्कट ही नहीं टला, राम किलकने लगे और सभी भाई सुख की नींद सो गए। पुत्रों के हित और अहित की अनुभूति से सभी रानियाँ चिन्तित और उत्सुक हैं। कौशल्या को जब नगर में एक ज्योतिषी के आने का शुभ संवाद मिला वह अपने पुत्रों के भावी जीवन की गति-विधि जानने के लिए आतुर हो उठीं। तुलसी के इस गीत में पारिवारिक जीवन का चित्र खरा उतरा है, जिसमें मातृ-हृदय की विनम्रता, उत्सुकता, कौतूहल, आनन्द आदि सभी कुछ हैं।

अवध आजु आगमी एकु आयो।
करतल निरखि कहत सब गुनगन, बहुतन्ह परिचौ पायो॥
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो।
सँग सिसुसिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो॥
पाँय पखारि, पूजि, दियो आसन, असन बसन पहिरायो।
मेले चरन चारु चार्‌यो सुत, माथे हाथ दिवायो॥
नखसिख बाल बिलोकि विप्रतनु पुलक नयन जल छायो।
लैलै गोद कमल कर निरखत, उर प्रमोद न अमायो॥
जनम प्रसंग कह्यो कौसिक मिसि सीय स्वयंबर गायो।
राम भरत रिपुदवन लखन को जय सुख सुजस सुनायो॥
तुलसीदास रनिवास रहसबस, भयो सबको मन भायो।
सनमान्यौ महिदेव असीसत सानँद सदस सिधायो॥—(बालकाण्ड—१७)

इन प्रसंगों के साथ ही कुछ झूले के गीत भी आए हैं। केवल एक गीत ही देखिए जो रूपक प्रधान कौशल्या की भावुक भावनाओं को व्यक्त करता है—

पौढ़िये लालन, पालने हौं झुलावौं।
कर, पद, मुख चख, कमल लसत लखि लोचन भँवर भुलावौं॥
बाल बिनोद मोद-मंजुलमनि किलकनि खानि खुलावौं।
तेइ अनुराग ताग गुहिबेकहँ पति मृगनयनि बुलावौं॥
तुलसी भनित भली भामिनि उर सो पहिराइ फुलावौं।
चारु चरित रघुवर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चितु लावौं॥
—(बालकाण्ड—१८)

इन विविध आमोद-प्रमोद और भावनाओं के मध्य में सभी राजपुत्र बड़े होने लगे हैं। अब वे घुटनों के बल दौड़ने भी लगे हैं। उनकी यह अवस्था भी परिजन और पुरजन के लिए सुखद है—

आँगन फिरत घुटरुवनि धाए।
नील जलद तनु स्याम राम सिसु जननि निरखि मुख निकट बुलाए॥

× × ×

अंग अंग पर मार-निकर मिलि छविसमूह लै लै जनु धाए।
तुलसिदास रघुनाथ रूप-गुन तौ कहौं जो बिधि होंहि बनाए॥

—(बालकाण्ड—२६)

राम के इन सभी चरित्रों में उनके बाल-जीवन की झाँकियाँ उपलब्ध हैं।

कहीं-कहीं उनके नख-शिख के अलंकृत वर्णन भी प्रस्तुत हुए हैं। जिनमें रूपकों और उत्प्रेक्षाओं का इतना आधिक्य है कि मूल चित्र से दृष्टि का हट जाना स्वाभाविक है। 'रघुवर बाल-छवि' का एक अलंकृत स्थल दृष्टव्य है—

रघुबर बाल छबि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव, कोटि-मनोज-सोभाहरनि।
बसी मानहु चरन-कमलनि अरुनता तजि तरनि।
रुचिर नूपुर किंकिनी मन हरति रुनझुन करनि॥
मंजु मेचक मृदुल तनु अनहरति भूषन भरनि।
जनु सुभग सिंगार सिसु तरु फर्‌यौ है अदभुत फरनि॥
भुजनि भुजग, सरोज नयननि, बदन बिधु जित्यो लरनि।
रहे कुहरनि, सलिल, नभ उपमा अपर दुरि डरनि॥
लसत कर-प्रतिबिम्ब मनि-आँगन घुटुरुवनि चरनि।
जनु जलज संपुट सुछवि भरि भरि धरति उर धरनि॥
पुण्यफल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथ घरनि।
बसत तुलसी हृदय प्रभु किलकनि लसित लरखरनि॥

—(बालकाण्ड—२७)

कवि को 'राम की बाल-छवि' को 'सकल सुख की सींव' और 'कोटि मनोज सोभा हरनि' कथन मात्र से ही सन्तोष नहीं हुआ। उस छवि को बल देने के लिए कवि ने एक-एक अंक के लिए कहीं उपमा, कहीं उत्प्रेक्षा और कहीं यथाक्रम का आश्रय लिया है। ऐसे स्थलों पर राम के 'सौंदर्य' से अभिभूत होकर कवि अपनी अनुभूति का गान कर उठा है।

राम घुटुओं के बल से अब पैरों भी चलने लगे हैं। इस अवस्था में वह अपने अनुजों और सखाओं सहित घूमते हैं और क्रीड़ा भी करते हैं। राम के इस घूमने-

फिरने में भी कवि ने स्थल-स्थल पर उनके मधुर स्वरूप और साज-सज्जा का वर्णन किया है। इस अवस्था का यह एक मधुर चित्र है—

छोटिऐ धनुहियाँ, पनहियाँ पगनि छोटी,
छोटिऐ कछौटी कटि, छोटिऐ तरकसी।
लसत झंगूली झीनी, दामिनी की छवि छीनी,
सुन्दर वदन, सिर पगिया जरकसी॥
बय-अनुहरत बिभूषन बिचित्र अंग,
जोहे जिय आवति सनेह की सरक सी।
मूरति की सूरति कही न परै तुलसी पै,
जानै सोई जाके उर कसकै करक सी॥

—(बालकाण्ड ४४)

राम के चलने-फिरने और खेलने-कूदने में समर्थ हो जाने पर चौगान खेल की व्यवस्था भी कवि द्वारा प्रस्तुत की गई है। राम के जोवन के साथ इस विदेशी क्रीड़ा का सम्बद्ध करना वस्तुतः काल-दोष है; किन्तु पद में राम की सहृदयता, स्नेह, बन्धुत्व-भावना पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

राम-लषन इक ओर, भरत-रिपुदवन लाल इक ओर भये।
सरजुतीर सम सुखद भूमि-थल, गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये॥
कंदुक-केलि-कुसल हय चढ़ि चढ़ि, मनकसि कसि ठोंकि ठोंकि खये।
कर-कमलनि बिचित्र चौगानैं खेलन लगे खेल रिझये॥

—(बालकाण्ड ४५)

इसके अतिरिक्त निम्न पद भी दृष्टव्य है—

खेलि खेल सुखेलनिहारे।
उतरि उतरि, चुचुकारि तुरंगनि, सादर जाइ जोहारे।
बंधु-सखा-सेवक सराहि, सनमानि सनेह सँभारे।

—(बालकाण्ड ४६)

राम बड़े और मर्यादा प्रेमी हैं। इससे बन्धुओं के अतिरिक्त सखाओं और सेवकों का वह सस्नेह सम्मान करते हैं। इससे उनके स्वभाव और आचरण की शालीनता और व्यापकता स्पष्ट होती है। यह मर्यादा-प्रेम उनमें सदैव अक्षुण्ण रहा है और अपने आदर्श में उन्होंने दूसरों को भी इस ओर अभिप्रेरित किया है।

यहाँ आकर राम की बाल-लीलाएँ विश्राम ले उठती हैं। अभी तक वात्सल्य के स्नेह-परक वातावरण में वह परिपुष्ट और पल्लवित हुए हैं; किन्तु जीवन में उन्हें लोक-कल्याण और लोक-रक्षण जैसे महत्तम कार्य भी करने थे, जिसके लिए उनकी शेष लीलाएं प्रवृत्त हैं। उनको विचार का विषय बनाने से पूर्व उनका तुलसी-काव्य में क्या स्थान है, यह निरूपण करना भी उचित है।

मानस के अन्तर्गत प्रयुक्त बाल-चरित को देखिए—

बाल-चरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति आनँद दासन्ह कहँ दीन्हा॥

× × ×

कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताइ धरइ जननी हठि धावा॥
धूसर धूरि-भरे तनु आये। भूपति बिहँसि गोद बैठाये॥
भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाइ॥

× × ×

बंधु सखा सँग लेहिं बुलाईं। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥
पावन मृग मारहिं जिय जानी। दिन प्रति नृपहिं देखावहिं आनी॥

× × ×

जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा। करहि कृपानिधि सोइ संजोगा॥
वेद पुरान सुनहि मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समझाई॥
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नवहिं माथा॥
आयसु माँगि करहि पुरकाजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥

मानस के इस बाल-चरित के मध्य में चूड़ा कर्म और यज्ञोपवीत के संस्कार भा कवि द्वारा सम्पन्न कराए गए हैं। इसी के अन्तर्गत राम ने अपने अखण्ड ब्रह्म का चरित भी कौशल्या को दिखलाया है जिसके फलस्वरूप उसको यह कहना पड़ा—

बार बार कौसल्या, विनय करइ कर जोरि।
अब जनि कबहूँ व्यापइ, प्रभु मोहि माया तोरि॥

मानस के समान कवितावली के एतत्सम्बन्धी स्थल भी दृष्टव्य हैं—

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ के नाचत मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेश के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मन्दिर में विहरैं॥

× × ×

पदकंजनि मंजु बनी पनहीं धनुहीं सर पंकज-पानि लिए।
तारिका संग खेलत डोलत हैं सरजूतट चौहट हाट हिए॥

× × ×

सरजू वर तीरहि तीर फिरै रघुवीर सखा अरू बीर सबै।
धनुहीं कर तीर, निषंग कसें कटि पीत दुकूल नवीन फबै॥

'रामचरित मानस' और 'कवितावली' के बाल-वर्णन भी गीतावली के समान वर्णनात्मक हैं, अभिनयात्मक नहीं। श्री कृष्णगीतावली में अभिनेय तत्व अवश्य हैं;

किन्तु उनकी वर्णनात्मक प्रवृत्ति के कारण वे व्यापक नहीं हो सके हैं, उनकी यह विवशता वहाँ स्पष्ट परिलक्षित होती है। उपर्युक्त काव्यों के बाल-वर्णनों को जब हम तुलनात्मक रूप से विचार करते हैं तब गीतावली निम्न दो तथ्यों में विशिष्ट सिद्ध होती है—

(१) शेष तीनों काव्यों से गीतावली में राम के बाल-चरित अधिक विस्तृत और बहुसंख्यक हैं।

(२) राम के बाल-सौन्दर्य के जितने सजीव और मनोरम चित्रण इसमें है उतने शेष काव्यों में नहीं।

राम और कृष्ण के भगवान् रूप के लिए तुलसी की आस्तिक भावना स्थल-स्थल पर अभिव्यक्त है। मर्यादा-भक्ति के कारण उनमें कहीं भी अभिनेय तत्त्व प्रतिष्ठित नहीं हो सका है। कृष्ण के सम्बन्ध में तो यह मर्यादा टूटी भी है; किन्तु राम के ब्रह्मत्व से वह इतने अभिभूत हैं कि विनम्र बने हुए अपने आराध्य का वर्णन करते चले जाते हैं। उन्हें इतना साहस नहीं कि उनके वार्तालाप अथवा बालोचित आग्रह का संवादात्मक कथन ही कर देते। सूरदास कृष्ण के बाल-चरित वर्णन में इस ओर कहीं अधिक सचेष्ट है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिअत भई यह अजहूँ है छोटी।।

× × ×

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसों कहत मोल को लीन्हो तोहि जसुमति कब जायौ।।

× × ×

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरै मुख लपटायौ।।
देखि तुही सींकें पर भाजन ऊँचै धरि लटकायौ।
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसें करि पायौ।।
मुख दधि पोछि कहत नंदनन्दन, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि मुसकाइ जसोदा गहि सुत को कंठ लगायौ।।

इस प्रकार के सजीव स्थल तुलसी के किसी राम-काव्य में नहीं हैं। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि राम के एक चक्रावर्ती सम्राट के राजकुमार होने और तुलसी की दास्य भावना के कारण वह वैसे चित्र प्रस्तुत करने में असमर्थ ही रहे। ये तथ्य अवश्य तुलसी के पक्ष का समर्थन करते हैं; किन्तु बालोचित प्रवृत्तियाँ वह चाहे राम हों, चाहे कृष्ण हों, चाहे आज का कोई बालक हो सभी में सामान्य रूप से विद्यमान मिलेंगी। फिर उन सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख न करना तुलसी-काव्य का एक अभाव है, उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा।

सूर के बाल-वर्णन में निम्न विशेष तत्त्व उपलब्ध होते हैं—(१) कृष्ण की बालोचित वेषभूषा और साज सज्जा (२) उनकी बालोचित क्रीड़ाएँ (३) उनकी बालोचित प्रवृत्तियों का उल्लेख (४) यशोदा के जननी-हृदय की मधुर भावनाएँ। उपर्युक्त तत्त्वों को लेकर जब हम गीतावली में समाहित राम के बाल-चरित पर दृष्टि डालते हैं तो केवल राम की बालोचित साज-सज्जा ही पर्याप्त विस्तार से उपलब्ध है। उनकी बालोचित क्रीड़ाएँ और कौशल्या के मातृ हृदय की भावनाएँ उसमें हैं; किन्तु अधिक नहीं। अब रहा—बालोचित प्रवृत्तियों के उल्लेख का अवकाश, वह वस्तुतः गीतावली में है ही नहीं। इन्हीं सब विशेषताओं से सम्बद्ध सूर का कृष्ण-बाल-चरित तुलसी के राम-बाल-चरित से कहीं अधिक सजीव, मधुर और स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में सूर की प्रतिभा अपने विषय पर खूब रमी है। यह कहना कि पुष्टि सम्प्रदाय में प्रतिपादित माधुर्य के लिए ही उनकी दृष्टि कृष्ण के बाल और युवा जीवन पर सुस्थिर हो जा टिकी है, सूर की प्रतिभा और मस्ती के साथ अन्याय है। उनके समकालीन और अनन्तर भी तो अष्टछाप तथा अन्य कवियों के समक्ष कृष्ण के जीवन के वही अंग थे; किन्तु क्या उन सभी का काव्य सूर-काव्य के समक्ष प्रतियोगिता में खड़ा हो सकता है। यह वस्तुतः सूर के कवि-हृदय की ही सफलता है; इससे इस सम्बन्ध में यदि तुलसी पीछे भी पड़ गए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। तुलसी का अपना क्षेत्र था, अपने सिद्धान्त थे, अपनी सीमाएँ और अपनी ही प्रवृत्तियाँ थीं इससे अपने आराध्य के शक्ति, शील और सौन्दर्य की व्यंजना के लिए वह राम का मर्यादित बाल-चरित ही राम-काव्यों में प्रस्तुत कर सके। फिर भी उपर्युक्त विवेचित तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी गीतावली का बालचरित अन्य काव्यों में समाहित बाल-चरितों से श्रेष्ठ और अधिक सफल है। इस सम्बन्ध में सहृदयों के दो अभिमत नहीं हो सकते।

उत्तरकाण्ड

'गीतावली' के उत्तरकाण्ड में 'मानस' के इस काण्ड के समान गम्भीरता और कथा की परिणति नहीं है। मानस में जहाँ तुलसी ने कथा की समाप्ति के लिए अयोध्या में राम का स्मरण, भरत का विरह, राम-अयोध्यागमन, राम का माताओं और भरत से मिलाप, वानरों और निषाद की विदाई, पुत्रोत्पत्ति और अयोध्या का वर्णन, राम-राज्य आदि; कथा के घाटों और राम-रूप के स्पष्टीकरण के लिए वेदों और शिव द्वारा राम-स्तुति, राम-कथा से पार्वती का सन्तोष, गरूड़ का मोह तथा काग-भुशुण्ड का अभिशप्त जीवन आदि; दर्शन और आचार की परिणति के लिए सन्तों और असन्तों के लक्षण, गरूड़ के सात प्रश्न और कागभुशुण्ड द्वारा उनके उत्तर, स्थल-स्थल पर ज्ञान और भक्ति के तत्वों के विवरण आदि प्रस्तुत किए गए हैं—वहाँ गीतावली में राम-राज्य, राम-रूप, हिंडोला, अयोध्या की रमणीयता (वर्षा वर्णन,

दीपमालिका, वसन्त-विहार) अयोध्या का आनन्द, सीता-वनवास, लव-कुश-जन्म, रामचरित का उल्लेख आदि मिलते हैं। दोनों काव्यों के एक ही काण्ड में चरित, दर्शन आदि के सम्बन्ध में विषमताएँ वस्तुतः आश्चर्य में डाल देती हैं।

तुलसी के किसी राम काव्य में हिंडोला, वर्षा-वर्णन, दीपमालिका, वसन्त विहार आदि के सरस और मधुर वर्णन नहीं हैं। इस सम्बन्ध में गीतावली अछूती और अकेली है। उसके गेय काव्य होने के कारण मधुर स्थलों की योजना इसमें उपलब्ध है, जो उचित है; किन्तु राम-चरित के मेल में न आने वाली परिस्थितियों का समावेश अचकचा देने वाला है। इनको देखकर इस काण्ड पर कृष्ण-काव्य का प्रभाव प्रतीत होने लगता है, वस्तुतः वह उसका प्रभाव है नहीं। उत्तरकाण्ड की काव्य सामग्री देख लेने पर इस तथ्य पर विचार करना उचित होगा।

राम अवतारी थे। उनके व्यक्तित्व में शक्ति-शील-सौन्दर्य तीनों तत्त्वों का सम्यक् समावेश है। उन्होंने यदि अपनी शक्ति से राक्षसों के अत्याचारों का उन्मूलन कर रावण जैसे महावली राक्षस को मारा था तो अपने शील से अयोध्या के नर-नारियों, अनुजों, रीछ, वानर तथा शरणागत विभीषण आदि को आश्वस्त किया था और सौन्दर्य का अमर प्रभाव सीता, वन-पथ पर ग्रामीण वधुओं, शूर्पणखा तथा अयोध्या के नर-नारियों पर छोड़ा था। इन तीनों में 'सौन्दर्य' ऐसा तत्त्व है जो माधुर्य का पोषण करता है। इसी से इसका सन्निवेश गीतावली में विशेष रूप से उपलब्ध है। जिस प्रकार तुलसी ने गीतावली के बालकाण्ड में राम के बाल-रूप की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और समतामूलक अलंकारों द्वारा उनके अंगों और प्रत्यंगों का जी भर कर उल्लेख किया है उसी प्रकार उनकी वही प्रवृत्ति उत्तरकाण्ड में राजा राम के रूप-वर्णन में रही है। एक से एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। राम स्नानोपरान्त सरयू तट पर खड़े हैं। एक स्त्री अपनी सहेली से उनका रूप-कथन करती है—

बिथुरित सिररुह-बरुथ कुंचित, बिच सुमन-जूथ,
मनिजुत सिसु-फनि-अनीक ससि समीप आई।
जनु समीत दै अँकोर राखे जुग रुचिर मोर,
कुंडल-छवि निरखि चोर सकुचत अधिकाई॥
ललित भ्रुकुटि, तिलक भाल, चिबुक-अधर द्विज रसाल,
हास चारुतर, कपोल नासिका सुहाई।
मधुकर जुग पंकज बिच, सुक बिलौकि नीरज पद,
लरत मधुप अवलि मानो बीच कियो जाई॥
सुन्दर पटपीत विसद, भ्राजत बनमाल उरसि,
तुलसिका प्रसून रचित, विविध बिधि बनाई।
तरु तमाल अधबिच जनु त्रिबिध कीर पाँति रुचिर,
हेमजाल अंतर परि तातें न उड़ाई॥

सखि ! रघुनाथ रूप निहारू ।
सरद-बिधु रवि सुवन मनसिज मान भंजनि हारू ।।
स्याम सुभग सरीर जन-मन-काम-पूर निहारू ।
चारुचंदन मनहु मरकत-सिखर लसत निहारू ।
रुचिर उर उपबीत राजत, पदिक गजमनि-हारू ।
मनहु सुरधनु नखतगन बिच तिमिर भंजनि हारू ।।
बिमल पीत दुकूल दामिन-दुति-बिनिंदनिहारू ।
बदन सुषमा सदन सोभित मदन-मोह निहारू ।।
सकल अंग अनूप, नहिं कोउ सुकवि बर निहारू ।
दास तुलसी निरखतहि सुख लहत निरखनि हारू ।।

× × ×

देखो रघुपति-छबि अतुलित अति ।
जनु तिलोक सुषमा सकेलि विधि राखी रुचिर अंग अंगनि प्रति ।।
पदुमराग रुचि मृदु पदतल धुज अंकुस-कुलिस-कमल यहि सूरति ।
रही आनि चहु विधि भगतनि की जनु अनुराग भरी अंतरगति ।।

× × ×

बरनत रूप पार नहिं पावत निगम-सेष-सुक-संकर-भारति ।
तुलसिदास केहि बिधि बखानि कहै यह मन बचन अगोचर मूरति ।।

सौन्दर्य-चित्रण के अन्य बीसियों चित्र भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं; किन्तु सभी में समरसता है । एक पद में जिन अंगों का चित्रण किया जा चुका है । दूसरे पद में कुछ अन्य उपमान लेकर वैसा ही विवरण प्रस्तुत किया गया है । इन सभी में उत्प्रेक्षा अलङ्कार की सुन्दर छटा प्रस्फुटित हो उठी है । इन सभी स्थलों पर राजा राम नायक हैं और स्त्रियाँ तथा दर्शक-वृन्द आश्रय हैं । उनका दिव्य सौन्दर्य उन्हें शृंगार के संयोग पक्ष के लिए उद्दीप्त करता है ।

राजा राम के सुशासन में अयोध्या की साज-सज्जा और वैभव वैसे ही अमर-लोक से होड़ करते थे । फिर वर्षा की सरस ऋतु ने हरीतिमा के साथ उसकी शोभा को द्विगुणित कर दिया था । ऐसे सजीले अवसर पर सामूहिक आनन्द और मनोरंजन के उपभोग के लिए भारतीय वातावरण में हिंडोला नारी-जीवन का अभिन्न साधन है । यों अयोध्या के प्रत्येक परिवार में हिंडोला है; किन्तु कवि ने राम-हिंडोला का भी वर्णन किया है । इसका शोभन और अलंकार भी अद्वितीय है । बहुत सम्भव है है कि राम-सीता भी इस हिंडोला पर भूलते हों; किन्तु इस स्थल पर अयोध्या की नारियों के भूलने का ही दृश्य वर्णित हैं ।

सो समौ देखि सुहावनो नवसत सँवारि सँवारि ।
गुन रूप जोबन सींव सुंदरि चलीं झुंडनि झारि ।।

हिंडोल-साल बिलोकि सब अंचल पसार पसारि।
लागीं असीतन राम सीतहिं सुख समाज निहारि॥
झूलहिं, झुलावहिं, ओसरिन्ह गावैं सुहो, गौंडमलार।
मंजीर-नूपुर-बलय-धुनि जनु काम-करतल-तार॥
अति मुचत स्रमकन मुखनि, बिथुरे चिकुर, बिलुलित हार।
तम तड़ित उडुगन अरुन बिधु जनु करत ब्योम बिहार॥

राम-हिंडोला के समान पारवारिक हिंडोलों पर भी इसी प्रकार के मान-समारोह होते हैं। शरत् की दीपमालिका के अनन्तर 'वसन्त-बिहार' की योजना राम-राज्य में वर्णित है। वसन्तागमन पर अयोध्या के प्राकृतिक सौन्दर्य और नर-नारियों को वसन्त-क्रीड़ा के लिए सन्नद्ध देखकर राम ने उन्हें आदेश दे दिया—

खेलहु मुदित नारि-नर, बिहँसि कहेउ रघुबीर।

× × ×

नगर नारि-नर हरषित सब चले खेलन फागु॥

जब राजा राम का आदेश है, फिर संकोच क्यों? राम की इस कृपा और सहृदयता के कारण कवि ने राम रूप के गान की फिर व्यवस्था की है। यह उस स्वच्छन्द वातावरण में अखरता अवश्य है; किन्तु तुलसी का कवित्व अपनी प्रवृत्ति से विवश है। फाग-क्रीड़ा में अयोध्या की नर-नारियाँ सम्मिलित होकर आनन्दित और प्रफुल्लित हैं—

खेलत फागु अवधपति, अनुज सखा सब संग।
बरषि सुमन सुर निरखहि, सोभा अमित अनंग॥

नारियाँ तो उस वातावरण में इतनी स्वच्छन्द हैं कि ऋतु के अनुकूल गालियाँ भी दे रही हैं—

'रितु सुभाय सुठि सोभत, देहिं बिबिध बिधि गारि।

फाग-क्रीड़ा की समाप्ति यहीं नहीं हुई है। इस परिस्थिति विशेष ने उस समारोह को सम्पन्न करने में राम और सीता को भी रङ्गस्थली में उतार दिया है। एक पक्ष में हैं राम, उनके अनुज और सखा और दूसरे पक्ष में हैं सीता तथा अन्य युवतियाँ। दोनों सदलबल एक दूसरे को छकाने में व्यस्त हैं। स्त्रियाँ जिस पुरुष को पकड़ पाती हैं उसके अंजन लगाती हैं तथा उससे फगुआ मनाकर और नाच नचाकर प्रार्थना करने पर ही उसे छोड़ती हैं। पुरुष-वर्ग में से बहुत से विदूषक का स्वाँग बनाए हुए गधों पर चढ़े हुए कूट-वचन बोलते हैं। उनमें लज्जा और सकोच रह ही नहीं गए हैं। दोनों पक्ष एक-दूसरे के लिये गालियों का प्रयोग कर रहे हैं। रामचन्द्र यह सब देख सुनकर भाइयों सहित हँसते हैं—

खेलत बसन्त राजाधिराज। देखत नभ कौतुक सुर समाज॥
सोहैं सखा-अनुज रघुनाथ साथ। घोलिन्ह अबीर, पिचकारि हाथ॥

बाजहि मृदंग, डफ, ताल, बेनु। छिरकैं सुगन्ध भरे मलय रेनु ।।
उत जुवति-जूथ जानकी संग। पहिरे पट-भूषन सरस रंग ।।
लिए छरी बेत सोधैं विभाग। चाँचरि झूमक कहैं सरस राग ।।
नूपुर-किंकिनी धुनि अति सोहाइ। ललना-गन जब जेहि धरइँ धाइ ।।
लोचन अँजहिं फगुआ मनाइ। छाड़हिं नचाइ, हा हा कराइ ।।
चढ़े खरनि बिदूषक स्वाँग साजि। करैं कूटि, निपट गइ लाज भाजि ।।
नर-नारि परस्पर गारि देत। सुनि राम हँसत भाइन समेत ।।

बसन्त-विहार के आनन्द को सभी स्वच्छन्दतापूर्वक किलोलें करते हुए मना रहे हैं इसमें गम्भीरता और मर्यादा के तत्त्व रह ही नहीं गए हैं। सच तो यह है कि जब राजा राम उनके साथ हैं फिर संकोच और लज्जा का भाव उन्हें क्यों बाधित करे ?

उत्तरकाण्ड के सौन्दर्य के चित्रणों और आनन्द-समारोहों में राम आलम्बन हैं अनन्तर कवि द्वारा सीता-वनवास के करुण दृश्य भी प्रस्तुत किये गए हैं, जिनमें सीता आलम्बन हैं। जब राम उपर्युक्त आनन्द-विलासों के मध्य में सम्मिलित होकर राम-राज्य का आदर्श प्रस्तुत कर रहे थे उसी समय रजक के वचनों से लोक-मत उन्होंने सीता के विरुद्ध देखा और उनके परित्याग में ही राज-धर्म-पालन का औचित्य समझा। मूलतः अपनी शेष आयु के साथ उन्हें पिता की आयु का भी उपभोग करना था,[1] इससे उस अवस्था में सीता का सहवास अनुचित था। फलस्वरूप उनके बनवास का दैवी विधान प्रस्तुत हो गया।

अपने अग्रज के संकेत पर लक्ष्मण सीता को लेकर बाल्मीकि मुनि के आश्रम में अवश्य पहुँचे; किन्तु प्रस्तुत धर्म-संकट उन्हें व्याकुल और ग्लानि उन्हें दग्ध कर रही थी। सीता-त्याग का राम का आदेश उचित था अथवा अनुचित, यह वस्तुतः लक्ष्मण की विचार-सीमा के बाहर था; किन्तु सर्वज्ञ बाल्मीकि जी को भी यह सब अच्छा न लगा। उन्हें यह सब देख और समझकर महान् खेद हुआ; किन्तु इसे 'विधि की क्षमता' समझकर वह शान्त हो गये, वस्तुतः विवशता थी।

'राम सद्गुन धाम परिमिति भई कछुक मलानि।'

मुनि बाल्मीकि की गम्भीर मुद्रा और देवर लक्ष्मण की अकुलाहट को देखकर सीता को अपना कर्त्तव्य-निर्धारण करने में विलम्ब नहीं लगा। वह समझ गईं कि नियति उनके सुख और विलास से स्पर्धा कर रही है, फलस्वरूप प्रस्तुत परिस्थिति से समझौता करने के लिये उन्हें बाध्य होना पड़ा और विवशता में उन्होंने लक्ष्मण से

---

१. सहस द्वादस पंचसत में कछुक है अब आउ ।।
भोग पुनि पितु-आयुको, सोउ किये बनै बनाउ।
परिहेर बिनु जानकी नहिं और अनघ उपाउ ।।
—(गीतावली—उत्तरकाण्ड २५)

कहा—

तौ लौं बलि, आपु ही कीबी विनय समुझि सुधारि।
जौलौं हौं सिखि लेउँ बन रिषि-रीति बसि दिन चारि ।।

मर्यादा पुरुषोत्तम की पत्नी होकर भी वह मर्यादा का संरक्षण चाहती थीं। भले ही पति और देवर के साथ उन्होंने वनवास किया हो; किन्तु वयोवृद्ध ऋषियों और तपस्वियों के साथ रहने का अनुभव तो उनके साथ न था। इससे आज्ञाकारी लक्ष्मण से उनका वैसा कथन उचित ही था; किन्तु लक्ष्मण उस असह्य परिस्थिति में नहीं ठहर सकते थे और न वह ठहरे ही। बाल्मीकि की उपस्थिति से आश्वस्त होते हुए भी उनका मानस स्वतः क्रन्दन कर रहा था—

अजु अवसर ऐसेहु, जौं न चले प्रान बजाइ।

इस कठिन परीक्षण में प्राण ही चले जाते तो क्या ही अच्छा होता, एक ओर अग्रजा का अनन्य स्नेह और दूसरी ओर अग्रज का आदेश। इस किंकर्त्तव्यविमूढ़ की स्थिति में सच तो यह है लक्ष्मण का सबल व्यक्तित्व ही यह सब झेल ले गया। वह इसे पिता दशरथ से 'पुरुष वचन' कहने के पाप का दण्ड मानते हैं।

प्रेम निधि पितु को कहे मैं परुष वचन अघाइ।
पाप तेहि परिताप तुलसी उचित सहे सिराइ ।।

परिस्थिति से परास्त लक्ष्मण ने सीता के चरण छुए और चल दिए। कहने के लिए यों वहुत था; किन्तु वह अपने किस मुख से कहते।

हेतु हौं सिय हरन को तब अबहु भयो सहाय।
होत हठि मोहि दाहिनो दिन दैव दारुन दाय ।।
तज्यो त ु संग्राम जेहि लगि गीध जसी जटाय।
ताहि हौं पहुँचाइ कानन चल्यो अवध सुभाय ।।

वन में बिना भोजन के जीवित रहा, शक्ति लगने पर हनुमान द्वारा जीवित कर दिया गया—इन सबने मेरे शरीर को केवल इसलिए अक्षुण्ण रखा जिससे सीता वनवास को दारुण कर्म सम्पन्न कर मैं घुट-घुटकर मानसिक क्लेश सहन कर सकूँ। लक्ष्मण की आत्मिक ग्लानि असन्दिग्ध रूप से इस स्थल पर बड़ी ही मार्मिक है—

असन बिन बन, बरम बिन रन, बच्यो कठिन कुघाय।
दुसह साँसति सहन को हनुमान ज्यायो जाय ।।

इस कारण दृश्य के अनन्तर रामचरित सम्बन्धी लव-कुश-जन्म की एक घटना का कवि ने उल्लेख किया है। सीता ने अयोध्या के राज-सुख से वंचित होकर भी वाल्मीकि मुनि के आश्रम में सभी सुख प्राप्त किये; किन्तु राम-स्नेह का अभाव उनके मानस को कुरेदता ही रहा।

लव-कुश-जन्म की घटना यद्यपि राम-कथा को इति पर ले आती है; किन्तु इसने वाल्मीकि और सीता दोनों के मानस में उद्वेलन अवश्य प्रस्तुत कर दिया। मुनि

पर सीता का दायित्व तो था ही; किन्तु पुत्रों के जन्म ने वीतराग मुनि को गृहस्थ बना दिया। उन्होंने उनकी छठी और बारहवें दिन की रीति की, नामकरण और अन्नप्राशन के समारोह की व्यवस्थाएँ कीं। इन सभी उत्सवों को उन्होंने समाज जोड़-जोड़कर किया और तपस्वियों को बन के वस्त्र पहनाकर सन्तुष्ट किया।

तपोवन के इस आनन्द और सुख के मध्य में भी सीता का हृदय दुखित और व्यथित था। लव-कुश के वात्सल्य का दायित्व शत-प्रतिशत उस पर था। उसने उसकी उपेक्षा नहीं कर दी। मातृ-हृदय रखकर वह वैसा कर भी कैसे सकती थी, किन्तु राम के वियोग जनित अभावों को उसने रह-रह कर सोचा था। एक वीतराग मुनि गृहस्थ की व्यवस्था और साज-सज्जा करे और गृहस्थ वीतरागी हो जाय। इस दैवी विधान ने सीता को शान्ति से नहीं बैठने दिया। राम राजा उसके लिए नहीं तो पुत्रों के लिये तो होते। क्या राम को पुत्रों के जन्म का समाचार न मिला होगा? उस रात दैवात् शत्रुघ्न आश्रम में आ गए थे।

तेहि निसा तहँ सत्रुसूदन रहे विधिबस आइ।
माँगि मुनि सों विदा गवने भोर सो सुख पाइ॥

सच तो यह है कि मुनि के आश्रम में आकर सीता पूर्ण बन-वासिनी ही रहीं। यों उनका समय लव-कुश के बाल-विनोद देखते कट जाता था; किन्तु उनका चित्त-रूपी चितेरा प्रेम रूपी दीवाल पर नित्य ही प्रिय के चरित्रों को अंकित करता रहता था।

निरखि बाल-विनोद तुसली भात बासर बीति।
पिय चरित सिय-चित-चितेरो लिखत नित हित-भीति॥

प्रियतम के विरह से यदि वह इस प्रकार दुःखी थीं तो पुत्रों के सुख से वह सुखी भी थीं। सीता का मानस वस्तुतः दोनों सीमाओं का स्पर्श करता था।

दुखी सिय पिय-विरह तुलसी, सुखी सुत सुख पाइ।
आँच पय उफनात, सींचत सलिल ज्यों सकुचाइ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी ने सीता के मानस की स्थिति का यथातथ्य चित्रण प्रस्तुत कर दिया है। यदि वह प्रियतम-विरह से दग्ध हो दूध के समान उफनता था तो पुत्र-सुख उस विरहग्नि को वैसे ही शान्त कर देता था जैसे जल उफनते हुए दूध को। वस्तुतः इस भावना में उनके बनवासी जीवन का इतिहास भरा है। लंका के विरही जीवन का भोग कर वह अयोध्या में राम के सामीप्य द्वारा थोड़ा ही हँस-खेल पाई थीं कि दैव पुनः विपरीत हो उठा और शेष जीवन का वियोग लेकर वह बालमीकि-आश्रम में आ पहुँची। नियति ने उनकी सुख-शान्ति छीन ली। वह मानवी थीं। फलतः राम-विरह से यदि उनका हृदय रूदन करता था तो पुत्रों के कारण सुख-सागर को लहराता देखकर वह सिहर भी उठती थी। सीता के इस स्वरूप में भारतीय नारी का सामान्य तथ्य छिपा हुआ है। यशोधरा की ऐसी ही

स्थिति में मैथिलीशरण गुप्त ने भी नारी-जीवन के सत्य का प्रस्फुटन किया है—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।।

वस्तुतः सीता इस दारुण परिस्थिति में सभी प्रकार विवश थीं। गीतावली के उत्तरकाण्ड की उपर्युक्त विवेचित सामग्री में हिंडोला, बसन्त, फाग आदि के चित्रण आश्चर्य में डाल देते हैं। सच तो यह है कि तुलसी के शेष राम-काव्यों में इनकी कहीं प्रतिष्ठा ही नहीं है। इससे इनके चित्रण देखकर स्वाभावतः यह विचार हो उठता है कि यह कृष्ण-काव्य का प्रभाव है। इस नाते तुलसी की गीतावली पर विद्वानों ने सूर-काव्य की अभिप्रेरणा का आधार माना है; किन्तु इस निर्णय के देने में वह राम की माधुर्योपासना को विस्मृत ही करते रहे हैं। इसी से इस प्रकार की विवेचनाओं में एक पक्षीय तत्त्व तो मिल जाते हैं; किन्तु तुलसी के व्यक्तित्व और उनकी विचारणाओं के साथ अन्याय भी हुआ है, यह उन्होंने नहीं सोचा है।

उपर्युक्त तथ्य इसलिए और अस्पष्ट रहा है कि तुलसी पुरुषोत्तम राम के मर्यादापूर्ण आदर्श चरित्र के ही भक्त रहे हैं, इससे राम के चरित्र की रसिकता राम-भक्ति का अंग न मानी जाकर कृष्ण के माधुर्य का प्रभाव मान ली गई और तुलसी का यह विशिष्ट पक्ष अन्धकार में ही रखा गया। इसके साथ सच तो यह भी है कि राम-भक्ति की मधुर उपासना गुह्य रहने के कारण स्पष्ट तथ्य न समाज के सामने आ सके और न विद्वानों को इससे तुलसी के साथ तद्विषयक अन्याय औचित्य-पूर्ण कहा जा सकेगा।

ऐतिहासिक तथ्य तो यह है कि कृष्ण-भक्ति में मधुर उपासना के साथ राम-भक्ति में उक्त प्रकार की उपासना और विचारणा तुलसी से शताब्दियों पूर्व प्रमुखता पा चुकी थी। अन्ततः उसकी अविच्छेद्य प्रगति से अभिप्रेरित होकर राम के रसिक स्वरूप का चित्रण उन्होंने अपनी गीतावली में किया। यह माना जा सकता है कि कृष्ण के रसिक जीवन का चित्रण उनके समक्ष था, इससे उसके अनुकरण की अभि-रुचि उनके मानस में भी जाग उठी हो और गीत-शैली में वैसा चित्रण करने का उन्होंने निश्चय किया हो। यह सूर या अन्य किसी कृष्ण-भक्त-कवि का प्रभाव नहीं है, यह ध्रुव सत्य है।

कृष्ण-भक्ति के समान रामभक्ति पर भी भागवत का प्रभाव पड़ा है। इसी के आधार पर राम के मर्यादापूर्ण चरित्र में भी रसिकता का सन्निवेश हो उठा है। उनमें चलकर इसी के समर्थन में 'शिवसंहिता', 'लोमश-संहिता' एवं 'श्री हनुमत्संहिता' की रचनाएँ हुई। जिनसे रामभक्ति में रसिक परम्परा को समर्थन और बल मिला।

शिवसंहिता में भक्ति को ज्ञान पर आधारित सिद्ध किया है और पूर्ण भक्ति के लिए माधुर्य भाव की आवश्यकता वर्णित है। राम एक मात्र पुरुष हैं और शेष सभी जीव स्त्री है। इसी से वह सभी में एक साथ रमण करते हैं। भगवान राम और

सीता दोनों रस के एक मूर्तिमान विग्रह है—लीला के लिए ही एक से दो हुए हैं। राम शब्द ही रस राजत्व का बोधक है। श्रृंगार रस का पर्यवसान श्रीराम में ही है। लोमंश संहिता में चन्द्रकला सीता की प्रमुख अन्तरंग सखी वर्णित है। उन्हें रास-रस की आचार्या कहा गया है। इसमें भागवत के रास पंचाध्यायी के समान महारास का विवरण है। श्री हनुमत्संहिता में 'प्रेमामृत महोत्सव' का वर्णन है। इसमें राम का सीता और सखियों के साथ सरजू तट पर जाना, कदंब में माध्वीक रस का पान, अनन्तर के 'माधवी कुंज', 'हरिचन्दन बन' और 'अशोक बन' में पधारते हैं। भगवान् राम हास्य लास्य और कटाक्ष से सीता को प्रसन्न करते हुए सभी को प्रसन्न करते हैं। अनन्तर वे सब एक कुंज मण्डल में पहुँचते हैं वहाँ कमलदल की भाँति वेदी पर राम और सीता बैठते हैं। सखियाँ विविध वाद्य यंत्रों को बजाती हैं। इस रास में सीता ने अपने शरीर से १०८ सखियों की उत्पत्ति की और उनके साथ राम भी उतने ही रूप धारण कर लेते हैं।[1]

उपर्युक्त के अतिरिक्त बाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में अशोक बन में राम-सीता का बिहार, 'सत्योपाख्यान' में राम-सीता के बन-बिहार, जल-बिहार के मधुर वर्णन है। उसी में होलिका में राम-सीता का प्रणय-बिहार और अनन्तर सीता की 'मान लीला' है। आनन्द रामायण के विलासकाण्ड में राम-सीता की जल-क्रीड़ा एवं बन-बिहार तथा 'महारामायण' में राम की रास-क्रीड़ाओं का बड़ा ही मधुर वर्णन है।[2]

राम-भक्ति-धारा की श्रृंगारी शाखा पर श्री हनुमत्संहिता और वृहद्कौशल खण्ड का विशेष प्रभाव है।[3] ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी से ही राम-सीता के पूर्वानुराग का चित्रण हो उठा है और उसी की परम्परा में महावीर चरित जानकी-हरण, प्रसन्नराघव तथा हनुमन्नाटक में राम-सीता के माधुर्य भाव और विलास का साँगोपाङ्ग वर्णनं प्रस्तुत किया गया है।[4]

उपर्युक्त आकलन और विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्तरकाण्ड की विचित्र प्रतीत होने वाली इस सामग्री पर सूर भी अन्य कृष्ण भक्त कवि का प्रभाव नहीं है; किन्तु राम-भक्ति की माधुर्योपासना का ही आभार है, जो क्रमिक रूप से इङ्गित संहिताओं और संस्कृत ग्रन्थों में विकसित हो रही थी। तुलसी अपने माधुर्य-पोषण के लिए उनसे अभिप्रेरित अवश्य हुए हैं; किन्तु उन्होंने अपनी भाव-धारा का उस

१. श्री भुवनेश्वर मिश्र—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृष्ठ १०७ से ११३
२. वही, पृष्ठ ११३-११४
३. वही, पृष्ठ ११४
४. श्री भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' 'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना— पृष्ठ ११३ (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)

सीमा तक चित्रण नहीं किया है जहाँ तक उनके पूर्व-शास्त्रीय ग्रन्थों ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने रसिकता के समर्थन में राम-सीता को बसन्त आदि के समारोहों में सामाजिक स्तर पर उतारा अवश्य है; पर उनके उस परिवेश में उनका राजकीय वैभव पूर्णरूपेण विद्यमान है। मर्यादावादी भक्ति-भावना के कारण तुलसी ने अपने राम को उस स्तर पर चित्रित नहीं किया है, जैसा कृष्ण-भक्ति की रसिक परम्परा में कृष्ण के साथ किया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि परम्परागत राम-भक्ति की रसिक भावना से अभिप्रेरित होते हुए भी तुलसी ने कहीं भी उनका अन्धानुसरण नहीं किया है। फलतः गीतावली के इन स्थलों में भी उनकी मौलिकता और मर्यादापरक भक्ति-भावना पूर्ण अक्षुण्ण है।

गीतावली के शेष करुण और मधुर स्थल

गीतावली के उपर्युक्त विवेचित खण्डों में राम के 'बाल-रूप' और 'राज-वेश' ही प्रकाश में आ सके हैं। वहाँ हमने विषय-सामग्री से परिचित होकर यह देख लिया है कि तुलसी के द्वारा स्वीकृत राम-कथा की उपेक्षा उनमें कुछ नवीनताएँ समाविष्ट हैं, जिनमें अन्य काव्यों के समान उनका मर्यादापरक दास्य-भाव सुरक्षित है।

उपर्युक्त स्थलों के विवेचन में 'बालकाण्ड' (अंशतः) और 'लंकाकाण्ड' की भाव-सामग्री ही आकलन का साधन बन सका है। उनके समान शेष काण्ड भी भावापन्न हैं, जिनमें उनके 'किशोर' और 'तापस' रूप के शक्ति-शील-सौंदर्य समाये हुए हैं। हम उनके विवेचन में प्रविष्ट हों उससे पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि उनका यह गेय काव्य है, इससे 'मानस' के समान इसका कथा-स्रोत अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित नहीं रह सका है। काव्य में केवल मधुर और करुण स्थल ही प्रमुखता पा सके हैं अन्य प्रकार के स्थल या तो उपेक्षित हैं अथवा उनका मात्र संकोच है, इससे कथा-प्रवाह भी यत्र-तत्र टूटा है और सभी रसों का सम्यक् सन्निवेश भी नहीं हो सका है।

काव्य के नायक अवतारी राम हैं, जो सज्जनों को पोषित, दुर्जनों को दण्डित तथा धर्म को वर्द्धित करने के लिए शक्ति, बल, सौन्दर्य से युक्त हैं। फ़लतः अपने महामहिम व्यक्तित्व से वह जहाँ कहीं भी प्रस्तुत होते हैं वहाँ सुख और आनन्द की वर्षा हो उठती है। इसके विपरीत उनके वियोग में दुःख और शोक के बादल छा जाते हैं। विगत विवेचित दो स्थलों में उनका 'संयोग' रूप है, इससे उनमें जीवन के विशेष आनन्द की छलकन है। उनमें पग-पग पर नख-शिख के चित्रण हैं तथा परिजन और पुरजन सभी प्रकार के आनन्द समारोह मनाने में निमग्न हैं। ऐसे स्थल गीतावली में अन्यत्र भी है। राम की उपस्थिति से जनकपुरी के नर-नारियाँ और राम-सीता, लक्ष्मण के वन-पक्ष में होने पर ग्रामीण वधुओं को सुख आनन्द और कौतूहल की अनुभूति हुई है। अनन्तर राम के वियोग पर अयोध्या के नर-नारी, कौशल्या-

भरत, शुक, शुकी, घोड़े आदि दुखाब्ध में डूब गए । इन सब में कौशल्या का हृदय जिस मातृ-भावना से रोया है वह तुलसी-काव्य में अद्वितीय है । राम के वियोग में सीता-रुदन भी करुण और मार्मिक है । कहने का आशय यही है कि इस विवेच्य अंश में राम को लेकर पग-पग पर आनन्द और विषाद की घटइाएँ घात प्रतिघात घटित हुई हैं, जो काव्य की गेय शैली के कारण और भी मधुर और करुण हो गई हैं ।

राम के बड़े तथा शरीर के पुष्ट हो जाने पर उनका पारिवारिक जीवन से बाहर जाना आवश्यक ही नहीं अविवार्य था । उस स्थिति में ही संसार में सुख, शांति की व्यवस्था, असुरों का संहार और कर्तव्य तथा मर्यादा की स्थापना सम्भावित थी । फलतः उनको लेने के लिए विश्वामित्र अयोध्या में पधारे और राजा के समक्ष जब उन्होंने राम को ले जाने का प्रस्ताव रखा तब—

रहे ठगि से नृपति सुनि मुनिवर के बयन ।
कहि न सकत कछु, राम-प्रेम बस पुलक गात, भरे नीर नयन ।।

किन्तु दैवी विधान ही ऐसा था उन्हें राम-लक्ष्मण को देना ही पड़ा । आश्रम में पहुँचने पर विश्वामित्र ने अपनी तपस्या पुनः प्रारम्भ की । राम-लक्ष्मण की तत्परता से ताड़का बध हुआ तथा अन्य व्यवधान दूर हुए, फलस्वरूप महर्षि की साधना सफल हुई । यथासमय उन्होंने उनको धनुर्विद्या का विशेष ज्ञान दिया । वे वहाँ रहते हुए आश्रम-जीवन से परिचित और धनुर्विद्या में प्रशिक्षित हुए ।

इस स्थिति में ही महर्षि को सीता-स्वयंवर का सुसंवाद मिला । जब राम लक्ष्मण के साथ वह जनकपुरी जा रहे थे तब मार्ग में उनकी चरण-रज से अहल्या की मुक्ति हुई, जिससे राम का भगवान् रूप प्रमाणित हुआ । जनकपुरी में पहुँचने पर राम-लक्ष्मण सहित पधारे हुए विश्वामित्र का सभी प्रकार स्वागत हुआ और अनन्तर वहाँ के नर-नारियों को राम-शक्ति, शील, सौंदर्य को देखने का अवसर मिला । उनके अप्रतिम सौन्दर्य से नगर के नर-नारी ही केवल मुग्ध नहीं हैं ; किन्तु जनक जैसे विदेह राजर्षि भी परास्त हो उठे हैं ।

जनक बिलोकि बार-बार रघुवर को ।
मुनिपद शीश नाय, आयसु असीस पाय ।
एई बातैं कहत गवन कियो घर को ।।
नींद न परति राति, प्रेम-पन एक भाँति,
सोचत, संकोचत विरंचि-हरि-हर को ।
तुम्हते सुगम सब देव ! देखिबे को अब,
जस हंस किए जोगवत जुग पर को ।।

जनक जी का प्रण और शिवजी का कठोर धनुष नर-नारियों को राम-लक्ष्मण की किशोर अवस्था के कारण निराश अवश्य किए थे ; किन्तु राम के प्रति वे पूर्ण आश्वस्त थे । इनका सौन्दर्य लोगों को प्रीति तथा आनन्द में निमग्न किए था ।

विदग्ध शैली में एक स्त्री द्वारा राम का स्वरूप-कथन देखिए—

नेकु, सुमुखि, चित लाइ चितौ, री।
राजकुंवर-मूरति रचिबे की रुचि सुबिरंचि श्रम कियो है कितौ, री।
नख-सिख सुन्दरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जितौ, री।
साँवर रूप-सुधा भरिबे कहँ नयन-कमल कल-कलस रितौ, री।
मेरे जान इन्हें बोलिबे कारन चतुर जनक ठयो ठाट इतौ, री।
तुलसी प्रभु भजिहैं संभु-धनु, भूरिभाग सिय-मातु-पितौ, री॥

राम के सौन्दर्य से वे इतनी अभिभूत हैं कि वे निरन्तर उसको देखती ही रहना चाहती हैं और परस्पर यह विचार करती हैं कि क्यों न कोई राजा को समझा दे कि वह प्रण को छोड़कर सीता को राम के साथ परिणयसूत्र में बाँध दें।

प्रेम-बिबस माँगत महेस सौं देखत ही रहिए नित ए, री।
कै ए सदा बसहु इन्ह नयनन्हि, कै ए नयन जाहु नित ए, री।
कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि, बड़े भाग आए इत ए, री।
कुलिस-कठोर कहाँ संकर-धनु, मृदुमूरति किसोर किए ए री॥

× × ×

तुलसी नृपहि ऐसी कहि न बुझावै कोउ,
'पन औ कुंवर दोऊ प्रेम की तुला धौं तारू॥

इस चित्र का दूसरा पक्ष पुष्प-वाटिका में राम-सीता के सम्मिलन में पूर्ण होता है, जहाँ एक दूसरे को देखकर वे परस्पर आकृष्ट हो उठे हैं। उपर्युक्त सभी स्थलों में राम अपने रूप और गुण के कारण आलम्बन हैं, व्यक्ति-भेद के कारण जनक जी में वात्सल्य, नर-नारियों में शान्त और सीता में श्रृंगार रस का उद्रेक है।

राम-सीता के विवाह काल का वर्णन तुलसी ने बड़ी ही भावुकता के साथ प्रस्तुत किया है—

दूलह राम, सीय दुलही री।
धन-दामिन बर बरन, हरन-मन, सुन्दरता नख-सिख निबहीं, री।
ब्याह-विभूषन-बसन विभूषित, सखि अवली लखि ठगि सी रही री।
जीवन जनम लाहु, लोचन फल इतनोइ, लह्यो आजु सही री।
सुखमा सुरभि-सिंगार छीर दुहि मयन अमियमय कियो है, रही री।
मथि माखन सिय-राम सँवारे, सकल भुवन छवि मनहु मही, री॥
तुलसीदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल, न जाति कही, री।
रूप-रासि विरची विरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही, री॥

इस पद में 'दूलह राम' और 'दुलही सीता' के सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। सखियों ने न कभी ऐसा सौंदर्य देखा था और न वे कभी देख सकेंगी। 'जीवन-जनम-लाहु लोचन फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही री'। तुलसी ने अपनी भावना की

सार्थकता के लिए उपमा, साङ्गरूपक, उत्प्रेक्षा आदि की सजीव योजना प्रस्तुत कर दी है। उनका यही सौंदर्य, जब वे बनवास के लिए जाते हुए वन-पथ पर होते हैं, ग्रामीण बधुओं की प्रशंसा का पात्र बनता है। वे उनके मनोहर रूप पर मुग्ध हैं। तुलसी ने यह स्थल भी आलंकारिक शैली में प्रस्तुत किया है—

मनोहरता के मानो ऐन।
स्यामल गौर किसोर पथिक दोउ, सुमुखिन निरखि भरि नैन ॥
बीच बधू बिधुबदनि बिराजति, कहुँ कोउ है न।
मानहु रति-ऋतुनाथ सहित मुनिवेष बनाए है मैन ॥
किधौं सिंगार सुषमा सुप्रेम मिलि चले जग चित-बित लैन।
अदभुत त्रयी किधौं पठई है विधि मग-लोगन्ह सुख दैन ॥

इस गीत में उत्प्रेक्षा और सन्देह की अद्‌भुत छटा कवि द्वारा प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार अन्य गीतों में भो समतामूलक अलंकारों के प्रश्रय से उनके अगों और धनुषों को चित्रित किया गया है। वे वधुएँ मंत्र-मुग्ध सी देखती हुई उनके सौंदर्य सुधा को 'नेत्र रूपी दोनों' से पान करती हैं।

तुलसी स्वामी स्वामिनि जोहे मोही हैं भामिनी,
सोभा सुधा पिए करि अँखिया दोनी।

कवि द्वारा बड़ा ही कोमल रूपक प्रस्तुत किया गया है। इतना ही नहीं बन-पथ पर उनके रूप की सर्वप्रियता भी प्रकट होती है। वे जहाँ भी गए नर-नारी उन्हीं के होकर रह गए—

जेहि जेहि मग सिय-राम-लषन गए,
तहँ तहँ नर-नारि बिनु छर छरिगे।
निरखि निकाई-अधिकाई बिथकित भए।
बच बिय नैन-सर-सोभा सुधा भरिगे।
जोते बिनु, बए बिनु, निफन निराए बिनु,
सुकृत-सुखेत सुख-सालि फूलि फरिगे।
मुनिहु मनोरथ को अगम अलभ्य लाभ,
सुगम सो राम लघु लोगनि को करिगे ॥

वस्तुतः अपनी लोक-संग्रही और लोक-रंजनी दृष्टि से उन्होंने अग-जग को मुग्ध कर लिया। उनके जीवन का यही महत्तम स्वरूप था, जिसके कारण उन्होंने वनवास का जीवन सहर्ष स्वीकृत किया था। नर-नारियाँ अब भी उनकी स्मृति और चिन्ता में निमग्न हैं और एक नारी की तो यह दशा है कि वह अपने को ही विस्मृत किए दे रही है—

सखि! जब तें सीता समेत देखे दोउ भाई।
तबतें परै न कल कछू न सोहाई ॥

नख सिख नीके-नीके निरखि निकाई।
तन-सुधि गई, मन अनत न जाई॥
हेरनि-हँसनी हिय लिए हैं चाराई।
पावन-प्रेम बिबस भई हौं पराई॥

वन-पथ पर चलते हुए चित्रकूट में पहुँचने पर रामचन्द्र वहाँ कुछ काल के लिए वस गए, इससे वहाँ का सौंदर्य आशातीत अभिवृद्धि को प्राप्त हुआ। राजपरिवार के ये वनवासी अपनी नवीन परिस्थितियों में अभ्यस्त होने का प्रयास करने लगे। उधर उनके संसर्ग से वहाँ की लताएँ, वृक्ष, पशु-पक्षी, नदी और झरने अपने त्रिगुणित उत्साह से प्रदर्शित हो उठे। मुनि और तपस्वियों को भी उनके कारण स्वच्छन्द जीवन की नवीन अनुभूति हुई। चित्रकूट में राम-लक्ष्मण-सीता की एक झाँकी देखिए—

लोने लाल लषन, सलोने राम, लोनी सिय,
चारु चित्रकूट बैठे सुरतरु तर है।
गोरे-साँवरे सरीर पीत नील नीरज से,
प्रेम रूप सुखमा के मनसिज सार हैं॥
लोने नख-सिख निरूपम, निरखन जोग,
बड़े उर-कंधर, बिसाल भुजवर हैं।
लोने लोने लोचन, जटनि के मुकुट लोने।
लोने बदननि जीते कोटि सुधाकर हैं॥
लोने लोने धनुष, विसिष कर कमलनि,
लोने मुनिवर, करि लोने सरघर हैं।
प्रिया प्रिय बंधु को दिखावत बिटप बेलि,
मंजु कुंज, सिलातल, दल, फूल फरे हैं॥

उनके दिव्य सौंदर्य के विवरण प्रस्फुटित करने में वस्तुतः अनुप्रास की छटा सप्राण हो उठी है। गठित शब्दों का लालित्य मन को मुग्ध करने में पूर्ण समर्थ है।

राम और उनके अनुजों को राजा, रानियों, परिजन, पुरजन आदि ने एक दीर्घ साध के उपरान्त पाया था। सभी ही उनके कारण आनन्दित और सुखी थे; किन्तु उनका सुख और आनन्द स्थायी रूप से न रह सका। उनके बड़े होते ही विश्वामित्र की दृष्टि उन पर केन्द्रित हो उठी। राजा की अनिच्छा थी किन्तु उन्हें राम और लक्ष्मण देने ही पड़े। सहयोग से यह सच है कि विश्वामित्र की साधना सफल हुई और लोकोपकार भी हुआ; किन्तु अयोध्या की प्रजा और राज समाज के लिए उनका वियोग भी प्रस्तुत हो गया। उनके वियोग जनित दुःख के अश्रु जब राम और उनके अनुज विवाहित होकर जनकपुर से लौटे थे, वे अवश्य कुछ क्षणों के लिए पोंछ सके थे; किन्तु उनका सुखोपयोग कितने दिन रह सका। कैकेयी का स्वार्थ उनकी प्रतिस्पर्धा में आ डटा, अनन्तर उनका दीर्घ प्रवाश हुआ और वे रोते कलपते ही रह

गए ।

दशरथ धन्य थे जिन्होंने रामपरक वात्सल्य के लिए अपनी प्राणाहुति ही दे दी । इस क्षेत्र में वह अकेले ही हैं । दूसरे उस कोटि तक नहीं पहुँच सके, यह सच है ; किन्तु उस दुर्घटना ने उन्हें चैन से नहीं बैठने दिया, यह भी सच है । गीतावली उन सभी का उन्मन वातावरण समाहित किए हैं ।

राम के विश्वामित्र के साथ जाते ही कौशल्या का मातृ-हृदय सिसक उठा—

मेरे बालक कैसे धौं मग निबहहिंगे ?
भूख, पियास, सीत स्रम सकुचनि क्यों कौसिकहि कहहिंगे ?
को भोर उबटि अन्हवैहैं, काढ़ि कलेऊ दैहैं ?
को भूषन पहिराइ, निछावरि करि लोचन-सुख लैहैं ?
नयन निमेषनि ज्यों जोगवैं नित पितु-परिजन-महतारी ।
ते पठए ऋषि साथ निसाचर मारन भक्त रखवारी ।।

राम-लक्ष्मण के बालरूप होने के कारण भूख, प्यास, शीत और श्रम से बाधित होने के लिये कौशल्या का सशंकित होना स्वाभाविक है । राम और उनके अनुज राज-पुत्र होने के साथ वृद्ध माता-पिता के पुत्र भी थे । इससे परिजन-पुरजन की उनके प्रति ममता होनी ही चाहिये । फिर कौशल्या का मातृ-हृदय ठहरा उसका आकुल-व्याकुल होना स्वाभाविक है । राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ भेजने में वह केवल राजा को ही दोषी नहीं ठहरातीं ; किन्तु कुल-गुरु, सचिव आदि सभी का दोष सिद्ध करती हैं—

ऋषि नृप-सीस ठगौरी सी डारी ।
कुलगुर, सचिव, निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी ।।
सिरिस-सुमन-सुकुमार कुंवर दोउ, सूर सरोष सुरारी ।
पठए बिनहि सहाय पयादेहि केलि-बान-धनुधारी ।।

राम के वियोग की अनुभूति से कौशल्या के हृदय ने सदैव रुदन किया है । उनके वनवास के निर्णय पर उसका मातृ-हृदय नहीं माना है । यद्यपि वह रघुकुल की मर्यादा समझती थीं और यह भी जानती थी कि राजा दशरथ और रानी कैकेयी से उनको अयोध्या-त्याग का आदेश मिल चुका है; किन्तु फिर भी वह कह ही उठी—

सुनहु राम मेरे प्रान पियारे ।
वारौं सत्यबचन श्रुति-सम्मत, जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे ।
बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पायो, सो तो नाहिं सँभारे ।
हरि तजि धरमसील भयो चाहत, नृपति नारिबस सरबस हारे ।।

× × ×

जदपि नाथ तात ! मायाबस सुखनिधान सुत तुम्हहिं बिसारे ।
तदपि हमहि त्यागहु जनि रघुपति, दीनबन्धु, दयालु, मेरे बारे ।।

यद्यपि इन पंक्तियों में वात्सल्य समाहित है; किन्तु 'जाते हों विछुरत चरन तिहारे' आदि शब्दों में जननी की मर्यादा पर आघात पड़ता है। इस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि राम अवतारी थे और विष्णू के रूप में उनकी कोख से जन्मे थे। वह उनके स्वरूप को समझती थीं। इसी से तुलसी-काव्य में ऐसे स्थल क्षम्य है।

उपर्युक्त वात्सल्य भावना की शृंखला में ही कौशल्या की निम्न पंक्तियाँ भी रखी जा सकती हैं—

रहि चलिये सुन्दर रघुनायक।
जो सुत तात-वचन-पालन-रत, जननिउ तात ! मानिबे लायक ।।

× × ×

राम ! हौं कौन जतन घर रहिहौं ?
बार-बार भरि अंक गोद लै ललन कौन सों कहिहौं ।।

कौशल्या का मातृत्व उपर्युक्त के समान समय-समय पर प्रस्फुटित हुआ है। राम को लेकर उसकी वाणी की मार्मिकता वस्तुतः शेष तुलसी-काव्य की अपेक्षा गीतावली में सबसे अधिक मुखर है।

राजा और रानी से राम के लिये वनवास का आदेश हो जाने पर सीता और लक्ष्मण उनके साथ ही जाने में अपने कर्त्तव्य का निर्धारण करते हैं। यह स्थल मानस में गीतावली की अपेक्षा विस्तार से चित्रित हुआ है; किन्तु उनके वन-पथ पर प्रयाण करने के दृश्यों को तुलसीदास ने जिस भावुक और सजीव-शैली में अंकित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

राम-सीता-लक्ष्मण वन के मार्ग से चले जा रहे हैं। अभ्यस्त न होने के कारण सीता का थक जाना स्वाभाविक है। राम को भी उनकी परिस्थिति अवगत है। वस्तुतः दोनों पक्षों की सहृदयता मर्मस्पर्शी है—

कहौ सो विपिन हैं धौं केतिक दूरि।
जहाँ गवन कियो, कुंवर कोसलपति, बूझति सिय पिय पतिहि बिसूरि ।।
प्राननाथ परदेस पयादेहि चले, सुख सकल तजे तृन तूरि।
करौं बयारि, बिलंबिय विटपतर, झारौं हौं चरन-सरोरुह-धूरि ।।
तुलसिदास प्रभु प्रियावचन सुनि, नीरज नयन नीर आए पूरि।
कानन कहाँ अबहिं सुनु सुन्दरि, रघुपति फिरि चितए हित भूरि ।।

वन-पथ पर अविश्रान्त रूप से चलने पर थकान की अनुभूति ने सीता को राम के भी थक जाने की प्रतीति दी है। फलतः राम की सेवा करना उनका कर्त्तव्य था। यों ही केवल अपनी थकान के उन्मूलन के लिए सीता ने ये वचन नहीं कहे हैं। उस स्थिति में सीता के चरित्र का पतन ही होता। राम को सीता की कर्त्तव्य-निष्ठा और सहानुभूति का पूर्ण ज्ञान था। इसीसे 'अरी सुन्दरि ! अभी वन कहाँ ?' कहने के साथ वह व्यथा में निमग्न हो गए हैं। यदि यह कहकर राम विश्राम ले लेते तो यह चित्रण

अपूर्ण ही रह जाता। वस्तुतः राम ने अपने पति-सम्बन्ध को विशिष्ट रूप से निभाया है—

रघुपति फिरि चितए हित भूरि।

× × ×

फिरि फिरि राम सीय तनु हेरत।

राम की इस प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि ने सीता को अवश्य चलने का प्रोत्साहन और बल दिया है। इस स्थल के समान ही वन-पथ पर उनके स्वरूपों को देखकर ग्रामीण बधुओं और किरातिनियों के मानसों में जो प्रतिक्रियाएँ हुई हैं और वचनावलियाँ प्रस्फुटित हुई हैं, उन सभी से तुलसीदास जी की भावुकता ही व्यक्त होती है।

राम के वियोग से अयोध्या विधुरा हो उठी है। दशरथ, कौशल्या परिजन और पुरजन सभी ही उनके लिए शोक संतप्त हैं। राज भवन की शुक-सारिका भी परिस्थिति विशेष से चिन्तित हैं। सारिका को संसार में अन्धकार लगता है और राम क इस वियोग के लिये वह दासी रानी और राजा को दोष देती है। इन शब्दों के साथ ही शुक भी विधाता के साथ कर्म को विपरीत मानता है। शुक सारिका की इन भावनाओं से राम की सर्वप्रियता और पशु-पक्षियों तक से उनकी अभिन्नता अवगत होती है। कौशल्या अपने विलाप में उनके वियोग के कारण अश्वों की दयनीय स्थिति का भी उल्लेख करती है।

राम के बनवास से अयोध्या के जीवन में भी अस्तव्यस्तताएँ घटित हुईं और परिवार की एकसूत्रता का विघटन हुआ है—उनकी अनुभूति ने भरत को अत्यधिक मर्माहत किया है। उन्होंने कैकेयी से न कहते हुये भी बहुत कुछ कहा है। अपनी उस ग्लानि की स्थिति में भी उन्होंने जननी की मर्यादा को अक्षुण्ण रखा है—

जननी! तू जननी? तौ कहा कहौं बिधि केहि खोरि न लाई।

× × ×

ताते हौं देत न दूषन तोहू।
राम बिरोधी उर कठोर तें प्रगट कियो है बिधि मोहू।

भरत अपनी दयनीय स्थिति समझते थे। ग्लानि-वश कौशल्या के समक्ष जाने पर उनके हृदय का अन्तरतम रुदन कर उठा। उनकी वाणी में राम के प्रति अनन्य श्रद्धा और आचरण में निर्दोषता समाहित थी—

जो पै हौं मातु पते महँ ह्वै हौं।
तौ जननी! जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं?
क्यों हौं आजु होत सुचि सपथनि? कौन मानि है साथी?
महिमा मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिषन बाँची?
गहि न जाति रसना काहू की, कहौ जाहि जोइ सूझै।

दीनबंधु कारुण्य-सिन्धु बिनु कौन हिये की बूझै ?
तुलसी राम वियोग विषम-विष-विकल नारि-नर भारी।
भरत-सनेह-सुधा सींचे सब भए तेहि समय सुखारी ।।

भरत की स्थिति और आचरण को कौशल्या सम्यक् रूप से जानती थीं। भरत रूप में ही राम रूप देखकर उसका उदास वात्सल्य पुनः जागृत हो उठा। वह उनके समक्ष उसे कैकेयी का दोष न मानकर 'विधाता बावौं' मानती है—

काहे को खोरि कैकयिहि लावौं !
धरहु धीर बलि जाँउ, तात ! मोको आज विधाता बावौं।
सुनिबे जोग वियोग राम को हौं न होउँ प्यारे।
सो मेरे नयननि आगे तें रघुपति बनहिं सिधारे ।।
तुलसीदास समुझाइ भरत कहँ आंसु पोंछि उर लाए।
उपजी प्रीति जनि प्रभु के हित, मनहु राम फिरि आए ।।

कौशल्या की भावना ने उन्हें निर्दोष ही नहीं सिद्ध किया; किन्तु उनके माध्यम से अपनी व्यग्रता के लिए उसने शान्ति और विश्राम भी सहेज लिया। उसका आचरण अयोध्या के राज-परिवार में सबसे अधिक उदार और व्यापक है। इसी से वह इस अनर्थ स्थित में भी सभी को समेटे चल रही है। राम सम्बन्धी वियोग उसे क्षण-क्षण पर व्यग्र करता रहा है, तत्सम्बन्धी उसकी वेदना बड़ी करुण है।

राम के बनवास के लिए प्रस्थान कर जाने पर अयोध्या के राजभवन की सम्पूर्ण व्यवस्थाओं में व्यतिक्रम प्रस्तुत हो गया। राजद्वार परन्तु वेदों और बन्दीजनों की ध्वनियाँ श्रुतिगोचर हो रही है। परिवार की पुत्रवधुएँ सीता को अग्रसर कर कौशल्या का आशीर्वाद लेने आ रही हैं परन्तु वहाँ न राम दीखता है, जिससे सुमित्रा के सम्बन्ध में वह पूछ पाती। इस विप्रलम्भ की दारुण दशा की स्मृति स्थिति को और भी करुण. तथा मार्मिक बना रही है।

आजु को भोर, और सो, भाई।
सुनौं न द्वार वेद-वंदी-धुनि, गुनिगन-गिरा सोहाई ।।
निज निज सुन्दर पति-सदननि तें रूप-सील-छवि छाई।
लेन असीस सीय आगे करि मो पैं सुतबधू न आई ।।
बूझी हौं न बिहँसि मेरे रघुवर 'कहाँ री सुमित्रा माता।'
तुलसी मनहु महासुख मेरो देखि न सकेउ बिधाता ।।

परिवार में इधर-उधर आने-जाने पर उसे राम के कहीं धनुष-बाण और कहीं पनहियाँ मिल जाती हैं, जिससे उसकी विरह-वेदना द्विगुणित हो जाती है। राम से शून्य भवनों को देखकर वह आकुल हो उठती है।

जब जब भवन बिलोकति सूनो।
तब-तब विकल होति कौसल्या दिन-दिन प्रति दुख दूनो ।।

सुमिरत बाल-बिनोद राम के सुंदर मुनि मन हारी।
होत हृदय अति सूल समुझि पद-पंकज अजिर-बिहारी॥
को अब प्रात कलेउ माँगत रूठि चलैगो, माई।
स्याम-तामरस-नैन स्रवत जल काहि लेउँ उर लाई॥
जीवौं तौ बिपति सहौं निसिबासर, मरौं तौ मन पछितायो।
चलत विपिन भरि नयन राम को बदन न देखन पायो॥

राम-सीता-लक्ष्मण की अनुपस्थिति पर भी स्मृति-वश वे सदैव कौशल्या के समक्ष प्रस्तुत रहते हैं। वह भ्रान्ति में पड़ी हुई यह नहीं सोच पाती हैं कि राम का वन-गमन सत्य है अथवा असत्य है। उसका भ्रम बड़ा मनोवैज्ञानिक है—

दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे।
करत न प्रान पयान सुनहु, सखि ! अरुझि परी यह लेखे॥

वियोग में इस प्रकार अहर्निश घुलते हुए भी वह उनके आगमन की आशा और संयोग के सुख की अनुभूति से सिहर उठती है।

जनक सुता कब सासु कहैं मोहि, रामलषन कहैं मैया।
बाहु जोरि कब अजिर चलहिंगे स्याम-गौर दोउ भैया॥

चित्रकूट में राम-भरत मिलाप की महत्त्वपूर्ण घटना का जैसा उल्लेख 'राम-चरित मानस' में है, वैसा गीतावली में नहीं है। मानव-जीवन की परिस्थितियों के विविध रूप जैसे मानस में उपलब्ध हैं वैसे यहाँ नहीं हैं। गीत-काव्य होने के कारण यद्यपि वैसा यहाँ सम्भव भी नहीं था; किन्तु फिर भी राम-भरत मिलाप की घटना की मूल भावना यहाँ पूर्ण रूप से अक्षुण्ण है। राम के आचरण में यदि दृढ़ता और स्नेह है तो भरत में दीनता, विनम्रता, भक्ति, विश्वास, ग्लानि, व्यंग्य सभी कुछ है। राम भरत की भावनाओं का इस प्रकार समाधान करते हैं—

काहे को मानत हानि हिये हो ?
प्रीति-नीति-गुन-सील-धरम कहँ, तुम अवलंब दिये हो॥
तात ! जात जानिबे न ए दिन, करि प्रमान पितु बानी॥
ऐहौं बेगि, धरहु धीरज उर कठिन कालगति जानी।
तुलसिदास अनुजहि प्रबोधि प्रभु चरन पीठ निज दीन्हें।
मनहु सबनि के प्रान-पाहरु भरत सीस धरि लीन्हें॥

चित्रकूट की उपर्युक्त घटना के अनन्तर भरत के साथ राम को लौटाल लाने की दृढ़ भावना मानस में सहेजे हुए जो गए,थे वे चिरसंगिनी निराशा को ही अपने साथ में ला सके। मर्यादा पुरुषोत्तम मर्यादा-पालन की सीमा से टस से मस न हुए, जिससे अयोध्या का दुर्भाग्य सौभाग्य में परिणित न हो सका। कौशल्या उस दयनीय स्थिति में कैकेयी द्वारा माँगे हुए वरदानों की प्रतिक्रियाओं पर विचार करती है। राम-सीता लक्ष्मण को बनवास हुआ, प्रियतम को स्वर्ग मिला, भरत को विरहाग्नि में

जलना पड़ा, पुरजनों की अश्रुधारा कभी रुकती नहीं—भला इन सबके पीछे कैकेयी का चातुर्य कहाँ परिलक्षित होता है। वह कैकेयी के साथ अपने मातृ-हृदय पर भी विचार करती है और उद्विग्न तथा खिन्न होकर रह जाती है—

हाथ मींजबो हाथ रह्यो।
लगी न संग चित्रकूटहि तें, ह्याँ कहा जात बह्यो॥
पति सुरपुर, सिय-राम-लषन बन, मुनिव्रत भरत गह्यो।
हौं रहि घर मसान-पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो॥
मेरोइ हिय कठोर करिबे कहँ, विधु कहु कुलिस लह्यो।
तुलसी बन पहुँचाइ फिरि सुत, क्यों कछु परत कह्यो॥

राम-जननी होकर भी इस प्रकार जीवन धारण करने में कौशल्या की आत्म-ग्लानि की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। वह अपने मुख पर 'राम' शब्द लाने में भी संकोच करती हैं। कौशल्या का यह चित्र मनोवैज्ञानिक तथ्य पर चित्रित है—

हौं तो समुझि रही अपनो सो।
राम-लषन-सिय को सुख मोकहँ भयो, सखी सपनो सो॥
जिनके बिरह-बिषाद बँटावन खग-मृग जीव दुखारी।
मोहि कहा सजनी समुझावति हौं तिन्हकी महतारी॥
भरत-दसा सुनि, सुमिरि भूप-गति, देखि दीन पुरवासी।
तुलसी 'राम' कहति हौं सकुचति, ह्वैहै जग उपहाँसी॥

राम के वियोग से केवल उनका परिवार, परिजन पुरजन ही नहीं दग्ध हैं, किन्तु खग-मृग भी दुखी हैं। शुक-सारिका की परिस्थिति यदि करुण है तो राम के घोड़े भी अपने स्वामी के स्मरण में निर्बल हो रहे हैं—

आली ! हौं इन्हहिं बुझावौं कैसे ?
लेत हिये भरि भरि पति को हित, मातुहेतु सुत जैसे॥
बार बार हिहिनात हेरि उत, जो बोलै कोउ द्वारे।
अंग लगाइ लिए बारे तें करुनामय सुत प्यारे॥
लोचन सजल, सदा सोवत से, खान-पान बिसराए।
चितवत चौंकि नाम सुनि, सोचत राम-सुरति उर आए॥
तुलसी प्रभु के बिरह-बधिक हठि राजहँस से जोरे।
ऐसेहु दुखित देखि हौं जीवति राम-लषन के घोरे॥

सभी के प्रयत्न और अनुरोध करने पर भी राम अयोध्या नहीं लौट सके हैं। उनको सबोध होने के नाते राम द्वारा समझा दिया गया है अथवा वे परिस्थिति विशेष की गहनता को हृदयंगम कर शान्त होकर रह गये हैं। 'राम लखन के घोरे' अपनी अबोधता के कारण मानव के समान समझ कैसे रख सकते हैं; किन्तु अपने स्वामी के लाड़-दुलार के अभाव में वे सूख रहे हैं, अपना भोजन त्याग कर वे सदैव सजल नेत्र

रहते हैं; उनकी स्मृति से वे सदैव शोकाकुल हैं—इनकी इन परिस्थितयों के आधार पर कौशल्या का 'ए वर बाजि विलोकि आपने, बहुरो बनहि सिधावौ' कथन बड़ा ही मनोवैज्ञानिक है—

राघौ ! एक बार फिरि आवौ ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरो बनहि सिधावौ ।
जे पय प्याइ, पोखि कर पंकज, बार बार चुचुकारे ।
क्यों जीवहिं, मेरे राम लाडिले, ते अब निपट बिसारे ।।
भरत सौगुनी सार करत हैं, अति प्रिय जाति तिहारे ।
तदपि दिनहि दिन होत झाँवरे, मनहु कमल हिय मारे ।।
सुनहु पथिक जो राम मिलहिं बन, कहियो मातु सँदेसो ।
तुलसी मोहि और सबहिन ते इन्ह को बड़ो अँदेसो ।।

उपर्युक्त के अनन्तर कौशल्या की विरह-वेदना लंकाकाण्ड में पुनः मुखर हो उठी है । अन्यों के समान वह भी राम-प्रतीक्षा में निमग्न हैं । उसका 'सगुन मनाना' और 'क्षेमकरी से राम आगमन का अनुमान करना' आदि से उसके मातृ हृदय की करुण-भावना ही व्यक्त होती है —

अली ! अब राम-लषन कित ह्वैहैं ।
चित्रकूट तज्यौ तबतें न लही सुधि बधू समेत कुसल सुत ह्वैहैं ।।
× × ×
जिन्हहि विलोकि सोचिहैं लाल द्रुम, खग-मृग-मुनि लोचन जल च्वैहैं ।
तुलसिदास तिन्ह की जननी हौं, मो-सी निठुर-चित औरो कहुँ ह्वैहैं ।।

जननी होकर भी जो जीवन के इतने दारुण आघात सहन करती चले और जीवन अक्षुण्ण रखे, अवश्य उसे माता कहलाने का अधिकार नहीं, इस भावना के कारण ही वह राम-वियोग में अपने मातृत्व को निरन्तर चुनौती देती चली हैं । फिर भी तथ्य तो यह है कि वह जीवित रही है । फलतः उसके अनुकूल ही वह आचरण कर रही हैं—

बैठी सगुन मनावति माता ।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर, कहहु काग फुरि बाता ।।
दूध-भात की दोनी दैहौं, सोने चोंच मढ़ैहौं ।
जब सिय सहित बिलोकि नयन भरि राम-लषन उर लैहौं ।।
× × ×
छेमकरी ! बलि बोलि सुबानी ।
कुसल छेम सिय-राम-लषन कब ऐहैं, अब अवध रजधानी ।।
ससि-मुखि, कुंकुम-बरनि, सुलोचनि, मोचनि सोचनि वेद बखानी ।
देवि ! दया करि देहि दरस फल, जोरि पानि बिनवहि सब रानी ।।

इस प्रकार काग और क्षेमकरी की प्रतीक्षा करने में अपने विरह निमग्ना जीवन का अंग मानकर कौशल्या सामान्य माता के स्तर पर उतर आई हैं। वस्तुतः कौशल्या के राम-विषयक विरह में उसका कहीं भी राजमाता का स्वरूप व्यक्त नहीं होता है। यही कारण है कि उसका चरित्र सर्व सुलभ और स्वाभाविक है।

गीतावली के अरण्यकाण्ड और सुन्दरकाण्ड वस्तुतः काव्य माधुरी के दृष्टि से बड़े ही उत्कृष्ट हैं। उनकी घटनाओं के वर्णन में भी तुलसी की भावुकता का पूर्णयोग रहा है। मारीच वध के उपरान्त राम और लक्ष्मण जब अपनी कुटी की ओर प्रयाण करते हैं उन्हें प्रकृति बड़ी ही धूमिल और उदासीन प्रतीत होती है। वहाँ के पशु-पक्षी न कलरव करते हैं, और न वृक्ष फल दे रहे हैं और न सीता ही दृष्टिगोचर हो रही हैं। इससे राम को यह सब अच्छे लक्षण प्रतीत नहीं होते—

औरै सो सब समाजु, कुसल न देखौं आजु,
गहबर हिय कहैं कौशलमात।

पंचवटी से समीप आकर और उसे अपनी कुटी समझ कर उनका हृदय अमंगल की भावना से भर गया। सीता को न देख कर उनका मानस उनके विरह की अनुभूति से रुदन कर उठा—

आश्रम निरखि भले, द्रुम न फले न फूले,
अलि-खग-मृग मानो कबहुँ न हे।
मुनि न मुनिबधूटी, उजरी परनकुटी,
पंचबटी पहिचानि ठाड़ेई रहे॥
उठीं न सलिल लिए, प्रेम प्रमुदित हिए,
प्रिया न पुलकि प्रिय बचन कहे।
पल्लव-साल न हेरी, प्रानबल्लभ न टेरी,
विरह विथकि लखि लषन गहे॥
देखे रघुपति-गति बिबुध बिकल अति,
तुलसी गहन, बिनु दहन दहे।
अनुज दियो भरोसो, तो लौं है सोचु खरो सो,
सिय-समाचार प्रभु जौलौं न लहे॥

सीता के विरह के कारण प्रसूत राम के वचनों को सुनकर देवताओं को भी पीड़ा हुई। उनसे सीता की सुधि प्राप्त कर उन्हें चेतना की अनुभूति हुई। इसी समय रावण द्वारा आहत जटायु से उनकी भेंट हुई। उनकी उस स्थिति को देखकर राम की सहृदयता और सहानुभूति का वेग प्रवाहित हो उठा। महाकवि तुलसी ने यह स्थल बड़ी भावुकता से चित्रित किया है—

राघौ गीध गोद करि लीन्हो।
नयन सरोज सनेह-सलिल सुचि, मनहु अरघजल दीन्हो॥

सुनहु, लषन ! खगपतिहि मिले बन मैं पितु मरन न जान्यो ।
सहि न सक्यौ सो कठिन विधाता, बड़ो पछु आजुहि मान्यो ।।
बहु बिधि राम कह्यौं तन राखनु, परम धीर नहि डोल्यो ।
रोकि प्रेम, अवलोकि बदन बिधु बचन मनोहर बोल्यो ।।
तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं ।
जाको नाम मरत मुनि दुरलभ तुमहि कहाँ पुनि पैहौं ।।

राम ने उनसे जावन रखने के लिए बहुत कुछ कहा । यह भी कहा कि वह जो चाहें माँग ले; किन्तु जटायु ने अपने जीवन की निष्कृति के लिए राम भगवान् के समक्ष ही अपनी ऐहिक लीला समाप्त करना श्रेयस्कर समझा । जटायु दशरथ के मित्र होने के नाते स्वर्ग में पहुँचकर सीता-हरण का वृत्त उनसे अवश्य कहेंगे इससे उन्हें दुःख होगा । इससे राम अपने पितृव्य जटायु को उनके प्रयाण-वेला से पूर्व संकोच के साथ अपना निम्न संदेश कथन करते हैं—

मेरो सुनियो, तात सँदेसो ।
सीय-हरन जनि कहेहु पिता सों, ह्वै है अधिक अँदेसो ।
रावरे पुन्य प्रताप-अनल महँ अलप दिननि रिपु दहि हैं ।
कुल समेत सुर सभा दसानन, समाचार सब कहि हैं ।।

राम के इस सन्देश में असन्दिग्ध रूप से उनकी दूरदर्शिता और विश्वास सन्निहित है । दशरथ जैसे पिता जो उनके वियोग में रोते कलपते गए हैं अब वहाँ स्वर्ग में पीड़ित हों, यह उन्हें पसन्द नहीं था । यहाँ पितृ-भावना का उत्कृष्ट स्वरूप उनकी वाणी से प्रस्फुटित हो उठा हैं।

शवरी की भक्ति-भावना का अन्य काव्यों के समान उसमें भी उल्लेख है । अनन्तर सुन्दरकाण्ड में सीता-शोध में प्रवृत्त हनुमान द्वारा अशोक वन में जाकर सीता के समक्ष राम-मुद्रिका डालने पर सीता और मुद्रिका में जिस संवाद की व्यवस्था तुलसीदास ने की है वह बड़ी ही मधुर और करुण है—

बोलि, बलि मूंदरी ! सानुज कुसल कोसलपालु ।
अमिय-वचन सुनाइ मेटहि विरह-ज्वाला-जालु ।।
कहत हित अपमान मैं कियो, होत हिय सोइ सालु ।
रोष छमि सुधि करत कबहू ललित लछिमन लालु ।।
परसपर पति देवरहि का होति चरचा चालु ।
देवि ! कहु केहि हेत बोले विपुल बानर-भालु ।।
सीताविधि समरथ सुसाहिब दीनबन्धु दयालु ।
दास तुलसी प्रभुहि काहु न कह्यो मेरो हालु ।।

सीता राम-लक्ष्मण की कुशलता जानने के लिए आतुर हैं । हित की कहने पर भी जिन लक्ष्मण का उसके द्वारा अपमान हुआ, क्या वह कभी उसका स्मरण करते

हैं ? दोनों भाइयों में किस विषय को लेकर चर्चा चलती है ? इस प्रकार के प्रश्न उनकी मनोदशा को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ है। मुद्रिका द्वारा भी सीता की जिज्ञासाओं का उत्तर दिया गया है, जिससे उनके सम्बन्ध में राम द्वारा की जाने वाली सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का उन्हें पता चल जाता है। सीता और मुद्रिका का यह वृत्त-विनिमय बड़ा ही करुण है। हनुमान जैसे धीर-वीर भी उसको सुनकर अपनी अश्रु-धारा न रोक सके—

सुवन समीर को धीर धुरीन, बीर बड़ोइ।
देखि गति सिय-मुद्रिका की बाल ज्यों दियो रोइ।

हनुमान ने वृक्ष से उतरकर सीता को प्रणाम कर अपना परिचय दिया। उनमें बल था, साहस और राम-कर्म के लिए निष्ठा थी। इसी से वह निम्न वचन कह सके—

निकरि अरि, रघुबीर-बल लैजाउँ जौ हठि आज।
उरौं आयसु भंग ते, अरु बिगरिहै सुरकाज।।

उनकी वाणी में वीर रस का पूर्ण समावेश है। इस स्थल पर सीता ने हनुमान को रामदूत समझकर अपने जीवन की चूकों और अपराधों पर विहंगम दृष्टि डाली है—

तात ! तोहू सों कहत होति हिय गलानि।
मनको प्रथम पन समुझि अछत तनु,
लखि नइ गति भइ मति मलानि।।
पियको बचन परिहर्यो जियके भरोसे,
संग चली बन बड़ो लाभ जानि।।
पीतम-बिरह तौ सनेह सरबसु, सुत !
औसर को चूकिबो सरिस न हानि।।
आरज-सुवन के तो दया दुवनहु पर,
मोहि सोच, मोतें सब बिधि नसानि।।
आपनी भलाई भलो कियो नाथ सब ही को,
मेरे हीं दिन सब बिसरी बानि।।

वस्तुतः सीता का प्रण था कि वह पति के बिना जीवन न रख सकेगी। आज उनसे विमुक्त होकर भी वह सप्राण हैं। राम ने बनवास के लिए प्रस्थान करने से पूर्व उन्हें अयोध्या में रहने के लिए समझाया था; किन्तु प्रथम प्रण पूर्ण करने की भावना से उन्होंने उनके आदेश और उपदेश का उल्लंघन किया। वस्तुतः पति-वियोग नारी जीवन के लिए उसका सर्वस्व लुटने के समान है। सीता अपने को उपर्युक्त परिस्थितियों में भी जीवित देखकर यह समझती हैं कि उनके द्वारा सभी विलोम ही हुआ है। फिर भी राम के भगवान् रूप पर उन्हें विश्वास होता है कि उनके द्वारा

उनकी निष्कृति होगी और अवश्य होगी—

कबहूँ, कपि ! राघव आवहिंगे ?
मेरे नयन चकोर प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगे ।।
मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे ।
अंग अंग छबि भिन्न भिन्न सुख निरखि निरखि तहँ तहँ छावहिंगे ।
बिरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों, कृपादृष्टि-जल पलुहावहिंगे ।
निज बियोग-दुख जानि दयानिधि मधुर बचन कहि समुझावहिंगे ।।

वस्तुतः सीता की यह स्थिति बड़ी करुण है । उनको विप्रलंभ शीर्ष पर उपस्थित हो उठा है । हनुमान को प्राप्त कर वह आश्वस्त हो उठीं थीं ; किन्तु सीता-शोध के उपरान्त उनका जाना आवश्यक था । जाने के लिए उनके प्रस्तुत होने पर सीता के धैर्य का बाँध टूट पड़ा—शरीर शिथिल हो उठा और नेत्रों में अश्रु छलछला आए । यों कहने को बहुत था ; किन्तु राम के चित्त की स्थिति को सोचकर वह दुःख के घूँट पीकर रह गईं । हनुमान जैसा वीर भी उस स्थिति को देखकर बिलबिला कर रह गया—

कपि के चलत सिय को मनु गह बरि आयो ।
पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो ।।
कहन चह्यो सँदेस नहि कह्यो, पिय के जिय की जानि हृदय-दुसह दुखरायो ।
देखि दसा व्याकुल हरीस, ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो ।।

हनुमान ने सीता के समीप पहुँचकर सीता की वियोग-स्थिति का यथातथ्य चित्रण उनको सुनाया—

तुम्हरे बिरह भई गति जौन ।
चित दै सुनहु, राम करुनानिधि ! जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न ।।
लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचनन कोन ।
'हा' धुनि खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन ।
जेहि बाटिका बसति, तहँ खग-मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन ।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहु, तेहि मग पग न धर्‌यो तिहुँ पौन ।।
तुलसिदास प्रभु ! दसा सीय की मुख करि कहत होत अति मौन ।
दीजै दरस, दूरि कीजै दुख, हौं तुम आरत-आरति-दौन ।।

पद में ऊहात्मक भावनाओं का सहयोग लिया गया है, जो सीता के विरहाधिक्य का द्योतन करती हैं । अतिशयोक्ति के कारण पद में भले ही स्वाभाविकता तिरोहित हो उठी हो ; किन्तु पद की तृतीय और चतुर्थ पंक्तियों में भरी हुई स्वाभाविकता ने हनुमान के सन्देश और सीता की वियोग-स्थिति को अवश्य गरिमा प्रदान कर दी है । 'लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरन्तर लोचनन-कोन' में 'उदाहरण' और 'हा ध्वनि-खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन'

में रूपक की छटा सजीव हो उठी है।

सुन्दरकाण्ड में विभीषण शरणागति का विवरण भी गोस्वामी तुलसीदास द्वारा बड़ी सहृदयता और भावुकता से चित्रित किया गया है। रावण से अपमानित होकर विभीषण गीतावली में सीधा राम की शरण में नहीं पहुँचा है। वह सुमेरू पर्वत पर अपने अग्रज कुबेर के अभिमत और शिव जी के इङ्गित और आशीर्वाद से अभिप्रेरित होकर राम की शरण में गया है। तुलसी के अन्य रामचरित काव्यों की अपेक्षा यह स्थल यहाँ विशेष है।

गीतावली का लंकाकाण्ड रामचरित मानस की अपेक्षा कहीं सूक्ष्म है। इसमें राम-रावण के युद्ध का संकेत मात्र ही है। लक्ष्मण के शक्ति लगने से उनके मूर्छित हो जाने पर राम का शोक अबाध रूप से प्रस्फुटित हो उठा है। वस्तुतः लक्ष्मण का व्यक्तित्व ही ऐसा निस्पृह और निष्कपट रहा है कि वह भाई के आदर्श के लिए कहीं भी रखा जा सकता है। उन्होंने अपने अग्रज की सेवा में कुछ उठा नहीं रखा। आज वह अपने कर्तव्य की सार्थकता के लिए अपने प्राणों को भी होमने के लिए प्रस्तुत हो गए हैं। वस्तुतः यह तथ्य राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम को भी विचलित करने में समर्थ है—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
विपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको॥
सुनु, सुग्रीव! साँचेहू मोपर फेर्‍यो बदन विधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लखन-सो भ्राता॥
गिरि, कानन जैहैं साखामृग, हौं पुनि अनुज सँघाती।
ह्वैहै कहा विभीषन की गति, रही सोच-भरि छाती॥
तुलसी सुनि प्रभु-बचन भालु-कपि सकल-विकल हिय हारे।
जामवंत हनुमंत बोलि तब, औसर जानि प्रचारे॥

सम्पूर्ण पद में 'करुण रस' छलछला रहा है। लक्ष्मण के वियोग के कारण 'शोक' स्थायीभाव को विभीषण की शरणागति परिस्थित की विवशता उद्दीपन प्रदान करती है।

राम के गाढ़े समय में यदि किसी ने उनको आश्रय दिया तो उसका श्रेय हनुमान को है। जाम्बवान की अभिप्रेरणा से उनका प्रसुप्त वीरत्व जागृत हो उठा है—

जौ हौं अब अनुसासन पावौ।
तो चन्द्रमहि निचोरि चैल-ज्यौं, आनि सुधा सिर नावौं॥
कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृत-कुंड महि लावौं।
भेंदि भुवन, करि भानु बाहिरो तुरह राहु दै तावौं॥
बिबुध-बेद बरबस आनौ धरि, तौ प्रभु अनुग कहावौं।
पटकौं मीच नीच मूषक-ज्यों, सबहि को पापु बहावौं॥

तुम्हरिहि कृपा, प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं।
दीजै सोइ आयसु तुलसी-प्रभु जेहि तुम्हरे मन भावौं।।

वीररस का स्थायीभाव उत्साह सम्पूर्ण पद में समाहित है। हनुमान आलम्बन विभाव में है।

अनन्तर लंकाकाण्ड में रामचरित का परम्परागत स्वरूप ही विद्यमान मिलेगा। हाँ, राम के अयोध्या आगमन की प्रतीक्षा में कौशल्या की उत्सुकता और आकुलता अवश्य उल्लेखनीय है। वस्तुतः उनकी वाणी मातृत्व और वात्सल्य से आप्लावित हो उठा है, जो बड़ा ही मार्मिक है।

३. विनयपत्रिका

तुलसीदास का आत्म-चरित—तुलसीदास का लौकिक जीवन जितना साधारण था उसके विपरीत उनके जीवन का उद्देश्य राम-भक्ति और उनकी लीलाओं का गान उतना ही असाधारण और महान था, जिसकी पूर्ति के लिए उन्होंने विविध काव्य रचकर अपने कवि-कर्म को सार्थक किया। इस महदुद्देश्य के समक्ष शेष सभी नगण्य और हेय था, इससे उनके जीवन-सम्बन्धी वृत्त भी उसमें प्रतिष्ठित न हो सके। यत्र-तत्र सांकेतिक रूप में जो प्रस्फुटित भी हैं, वह वस्तुतः कहने की भावना से व्यक्त न होकर आराध्य के प्रति पूज्य दृष्टि, निष्ठा और विनय के प्रसंग में संघटित हो उठे हैं, उन्हीं को तुलसी के जीवन का अन्तःसाक्ष्य कह सकते हैं। इस रूप में विनयपत्रिका में भी कवि के सम्बन्ध में कुछ स्थल उपलब्ध हैं, जिन पर यहाँ विचार करना पूर्ण समीचीन है।

वेणीमाधवदास और रघुबरदास ने तुलसीदास को सरयूपारी द्विवेदी ब्राह्मण माना है, उनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था।[1] विनय-पत्रिका में माता-पिता के नाम का अवश्य संकेत नहीं है; किन्तु 'सुकुल' में जन्म लेने का उन्होंने अवश्य उल्लेख किया है—

दियो सुकुल जनम, सरीर सुन्दर, हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पण्डित परमपद, पावत पुरारि-मुरारि को।

—(विनयपत्रिका—१३५)

उपर्युक्त पंक्तियों में ब्राह्मण वंश में उनके जन्म लेने का प्रत्यक्ष प्रमाण समाहित है। यह वंश ही ऐसा है जिसमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चार फलों का विशेष ध्यान रखा गया है और शिव तथा कृष्ण के परम पद को प्राप्त किया जाता रहा है। कवितावली में भी उन्होंने 'जायो कुल मंगन' कहा है। जिससे उपर्युक्त तथ्य प्रमाणित

---

१. श्री श्यामसुन्दरदास—गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ २८

—(एकेडमी १९३१)

हो जाता है।

राम नाम के प्रताप और भक्ति के कारण दृष्टि-विनोद के मध्य में तुलसी ने जननी-जनक द्वारा त्यागने और ब्रह्मा द्वारा विचित्र बनाने की बात भी अपने सम्बन्ध में कह डाली है। विविध दैव दुर्विपाकों के मध्य में उन्होंने जीवन के दारुण क्षणों को काट डाला है। आज राम के कारण भले ही वह जीवन में अश्वस्त हो उठे हों; किन्तु विगत जीवन की कसक तो उनके मानस में प्रस्तुत थी ही, इसी से उस तथ्य का उन्होंने एक विश्वास के साथ प्रस्फुटन किया है—

जननी-जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहू सृज्यो अवडेरे।
मोहुँ सो कोऊ-कोउ कहत रामहि को, सो प्रसंग केहि केरे।।
फिरयौ ललात बिनु नाम उदर लगि, दुखउ दुखित मोहि हेरे।
नाम-प्रसाद लहत रसाल फल, अब हौं बबुर बहेरे।
साधत साधु लोक-परलोकहि, सुनि गुनि जतन घनेरे।
तुलसी के अवलम्ब नाम को, एक गाँठि कइ फेरे।।

—(विनयपत्रिका २२७)

माता-पिता द्वारा त्यागे जाने और बाल्य जीवन की करुण स्थितियों का दिग्दर्शन कवितावली[1] में भी चित्रित किया गया है। यह तथ्य वेणीमाधवदास के 'मूल गोसाईं-चरित' से भी समर्थित है।

दैन्य सम्बन्धी प्रतारणा के सम्बन्ध में विनयपत्रिका में तुलसी को बार-बार कहने का अवकाश मिला है। वस्तुतः यह तथ्य ही ऐसा था जिसके बल पर वह अपने राम को अभिप्रेरित करने में प्रवृत्त हैं। विनयपत्रिका के एकाध स्थल और देखिए—

द्वार द्वार दीनता कही, काढ़ि रद, परि पाहू।
हैं दयालु दुनी दस दिसा, दुख-दोष-दलन-छम, कियो न सँभाषन काहू।।
तनु-जन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यों मातु-पिताहू।
काहे को रोष, दोष काहि धौं, मेरे ही अभाग मोसों सकुचत छुइ सब छाहू।।

—(वही २७५)

---

१. मातु-पिता जग जाय तज्यो विधिहु न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर कूकर टूकन लागि ललाई।।
× × ×
बारें ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हौ चारि फल चारि ही चनक को।।
× × ×
जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस,
खाये टूक सबके विदित बात दुनी सो।। —(कवितावली)

स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो टोटक, औचट उलटि न हेरो।
—(विनयपत्रिका १७२)

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
राम रावरे बिन भये जनमि-जनमि जग दुख दसहू दिसि पायो ।।
आस विबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो ।
हा हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार, परी न छार, मुह बायो ।।
—(वही—२७६)

यद्यपि ये सब भावनाएँ राम की भक्ति की ओर ही उन्मुख हैं तथापि प्रसंगतः वह अपने जीवन की ओर भी दृष्टिपात करते चले हैं, इसीसे उसके कुछ महत्वपूर्ण स्थल प्रकाश में आ गए हैं।

राम का गुलाम होने के कारण लोगों ने तुलसीदास का 'रामबोला' नाम रख दिया है। लोग उन्हें नीच कहते हैं; किन्तु उन्हें इसमें जरा भी लज्जा और संकोच का अनुभव नहीं होता है। वह अपने रामपरक ब्रह्मानन्द में निमग्न रहते हैं और सच्चे मनोराज्य की अनुभूति करते हैं। वेणीमाधवदास के 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार उनका एक नाम 'रामबोला' भी था। इसी तथ्य की सफल अभिव्यक्ति इस स्थल पर हो उठी है—

राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यौ राम,
काम यहै, नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हैं।
रोटी-लूगा नीके राखै, आगे हू की वेद भाखै,
भलो ह्वैहै तेरो, ताते आनँद लहत हौं।
लोग कहैं पोच, सो न सोच न संकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं ।।
तुलसी अकाज-काज राम ही के रीझे-खीझ,
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं ।।
—(वही—७६)

उपर्युक्त भावना और भक्त-जीवन के सच्चे मनोराज्य की यह अभिव्यक्ति ही कवितावली में भी हुई है।[1]

तुलसी ने भक्ति के वशीभूत हो सदैव राम-कृपा की याचना की है। वृद्धा-

---

१. धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोई।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारि न सोऊ ।।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाके रुचै सो कहौ कछु कोऊ।
माँगि कै खैबो, मसीत को सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ ।।
—(कवितावली)

वस्था के कारण उनकी इस सम्बन्ध की चिन्ता द्विगुणित हो उठी है। विनयपत्रिका की निम्न पंक्ति इसी तथ्य का सफल प्रस्फुटन करती है—

तुलसिदास अपनाइये, कीजै न ढील, अब जीवन-अवधि अति नेरे।

—(विनयपत्रिका २७३)

विनयपत्रिका के उपर्युक्त कतिपय स्थलों से तुलसी के जीवन पर यत्किञ्चित् प्रकाश पड़ जाता है, समग्र जीवन पर नहीं। वस्तुतः विनयपत्रिका में क्या अन्य काव्यों में भी उन्होंने अपनी जीवन-गाथा को प्रस्तुत करने का कभी उद्देश्य नहीं बनाया; यदि बनाया होता तो काव्य न्यायतः भटक उठता; किन्तु तुलसी-जीवन की रूप-रेखा तो स्पष्ट हो जाती। सच तो यह है कि तुलसी एक संकीर्ण हृदय लेकर नहीं जन्मे थे। इसी से वह अपने जीवन की कोई बात अधिकारपूर्वक कहते प्रतीत नहीं होते। उनकी यह भावना विनयपत्रिका में भी सार्थ है। इसी से माता-पिता के त्याग, रामबोला बाल्य-जीवन का नाम, दैन्य दुःख आदि उनके जीवन की कुछ परिस्थितियाँ ही प्रकाश में आ सका है, सम्पूर्ण के प्रकाश में आने का न अवकाश ही था और न औचित्य ही।

तुलसी की भक्ति

तुलसी के राम संसार में जड़-चेतन के एकमात्र स्वामी और पोषक हैं। इसीसे निष्ठा अक्षुण्ण रखे हुए वह उनके प्रति पग-पग पर अपनी भक्ति-भावना का नैवेद्य चढ़ा सके हैं, जिसके सम्यक् प्रमाण यों उनके सभी काव्यों में उपलब्ध हैं; किन्तु उसका जैसा सटीक और व्यापक रूप विनयपत्रिका में प्रस्फुटित है वैसा अवशिष्ट काव्यों में नहीं।

नारद-भक्ति-सूत्र में गुणमहात्म्य, रूप, पूजा, स्मरण, दास्य, सख्य, कान्त, वात्सल्य, आत्मनिवेदन, तन्मयता, परमविरह आदि ग्यारह रामानुजी भक्तियों का उल्लेख है। इन सभी में ब्रह्म के प्रति अनन्य भाव रखा जा सकता है; किन्तु इसकी परिणति जिस सरलता और निष्कपटता से दास्यभक्ति में हो सकती है वैसी अन्यों में नहीं। भक्त भगवान रूप अपने आराध्य से अपने जीवन, संसार, पाप, पुण्य, सत्कर्म, दुष्कर्म आदि सभी के सम्बन्ध में कहने का सुख अनुभव करता है और उनकी कृपा तथा सहानुभूति को प्राप्त करने की सतत अभिलाषा रखता है। सच तो यह है कि इस भक्ति में मन के पाप मिटने-मिटाने की कठिनाई नहीं होती और साध्य सरलता से पूर्ण हो जाता है। इस वैशिष्ट्य के कारण ही रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैत में इस भक्ति का प्रतिपादन किया था, जिसके परम्परागत रूप को प्राप्त कर तुलसी ने अपने भक्त-जीवन को सार्थक किया।

'यों 'मानस' जैसे महाकाव्य में सैद्धान्तिक रूप से भक्ति का प्रतिपादन है और स्थल-स्थल पर कौशल्या, भरत, निषाद, हनुमान, शवरी आदि के जीवन में भी

उसकी परिणति हुई है; किन्तु रामचरित की कथा के जीवन में डूबती-उतराती प्रतीत होती है। इसके विपरीत विनयपत्रिका में प्रथम पद से लेकर अन्तिम पद तक उसका अविच्छिन्न स्रोत आप्लावित है और विनय के माध्यम से भक्ति की जितनी भी स्थितियाँ और वृत्तियाँ हो सकती हैं भक्त कवि तुलसी ने उन सभी को इसमें समेटने की पूर्ण चेष्टा की है।

तुलसी के राम अंशी होने के कारण व्यापक और पूज्य हैं। उनकी इन विशिष्टिताओं के कारण ही उन्होंने उनका भक्त होना स्वीकार किया है और चाहते हैं कि वह उनकी गणना भी अपने भक्तों के मध्य में कर लें—

सकल विस्व-वदित, सकल-सुर सेवित,
आगम-निगम कहैं रावरेई गुन ग्राम।
इहै जानि तुलसी तिहारो जन भयो,
न्यारो कै गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम॥

—(विनयपत्रिका ७७)

आराध्य की यह प्रतिष्ठा ही विनयपत्रिका के प्रत्येक पद में पिरोई हुई मिलती है। इस भावना के बल पर वह श्रद्धान्वित प्रेम तो उनके श्री चरणों में अर्पित कर ही सके हैं; किन्तु उनके आलम्बन स्वरूप उनके महत्व और अपने दैन्य को प्रकट करने का अवकाश भी उन्हें मिल गया हैं। फलतः इन दोनों स्वरूपों के विविध अनुभावों को ही हम विनयपत्रिका में पग-पग पर देखते हैं। तुलसी को अपने आराध्य में विश्वास और निष्ठा हैं—

राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो।
'राम सो खरो है कौन, मोसों कौन खोटो॥'

—(विनयपत्रिका ७२)

× × ×

'तू दयालु दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी! तू पाप-पुंज हारी।
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मात, गुरु-सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावै।
ज्यों ज्यों तुलसी कृपालु, चरन सरन पावै॥'

—(विनयपत्रिका ७९)

तुलसी का भक्त-हृदय इस स्थल पर अपने आराध्य के श्री चरण पकड़कर एक विश्वास के साथ बैठ गया है। लौकिक विचारों और पापपूर्ण वातावरण ने पग-पग

पर उनके मानस के साथ आँख-मिचौनी खेली, छलना ने उन्हें कहीं का न रखा, अपने ही कहे जाने वालों ने विश्वासघात किया, दैवी शक्तियाँ भी उनके कल्याण के लिए अग्रसर न हुई—इस प्रकार की चतुर्दिक निराशाओं में तुलसी जीवन-निर्माण की अपनी बाजी हार गये। इन निराश्रय और निस्सम्वल परिस्थितियों में ही उन्हें अपनी आत्मा के अन्तराल में आशा की ज्योति मिली, अपनी विवशता की दुहाई दी, साथ ही प्रभु और अपने मध्य के विविध नाते बताकर 'चरन-सरन' के लिए अटूट प्रार्थना कर आत्मसमर्पण कर दिया।

भक्ति के क्षेत्र में अपने आराध्य के समक्ष आत्मसमर्पण बड़ी बात होती है। सच तो यह है कि आत्म-निष्कृति के लिये इससे श्रेष्ठ अन्य साधन ही नहीं है। अहंकार और मायिक स्वरूप स्वयमेव तिरोहित हो जाते हैं। अन्यथा भक्त नवधा भक्ति जप, योग, तीर्थ आदि कितने ही वाह्य साधन अंगीकृत कर चले, मन का द्वैत नहीं मिटता है। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों के मध्य में ऐसी चौड़ी खाई बनी रहती है, जिसका पाट सकना भक्त के लिए असंभव है।

तुलसी ने अपने राम के समक्ष आत्मसमर्पण कर एक निष्ठा ग्रहण कर ली। फलतः वह सदैव के लिये आश्वस्त हो गये। उनका राम साधारण नहीं असाधारण है—

'जानकी-जीवन, जग-जीवन जगत-हित,
जगदीस, रघुनाथ, राजीवलोचन राम।
सरद-विधु-बदन, सुख सील, श्रीसदन,
सहज सुन्दर तनु सोभा अगनित काम॥
—(विनयपत्रिका ७७)

× × ×

'सुनि सीता-पति-सील स्वभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नरखेहर खाउ॥
सिसुपन तें पितु, मातु, बंधु, गुरु, सेवक, सचिव सखाउ।
कहत राम विधु-बदन रिसोहैं, सपनेंहुँ लख्यो न काउ॥
—(विनयपत्रिका १००)

× × ×

लोक-वेद हूँ विदित बात सुनि-समुझि,
मोह-मोहित विकल मति थिति न लहति।
छोटे-बड़े, खोटे-खरे, मोटेऊ दूबरे,
राम! रावरे निबाहे सबही की निबहति॥
सतरंज को सो राज, काठ को सबै समाज,
महाराज बाजी रची, प्रथम न हति।
तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो-जीतिबो नाथ,

बहु बेश, बहु मुख सारदा कहति ।।

—(विनयपत्रिका २४६)

राम के ऐसे ही असाधारण और महत्तम स्वरूप को तुलसी ने अपनी भक्ति का आलम्बन माना है। वह शक्तिशील और सौन्दर्य से युक्त हैं। ये तत्व प्राथमिक रूप में विद्यमान होने के कारण वह अलौकिक और दिव्य हैं। उनके ऐसे अप्रितम होने के कारण ही उनकी महत्ताओं का गान करने में तुलसी ने गौरव और आश्रय स्वरूप अपने अभावों, पापों, लौकिक विकारों आदि का उल्लेख कर सुख और सन्तोष की अनुभूति की है।

प्रभु के महत्व के समक्ष तुलसी अपने जीवन की ओर देखते हैं। उन्हें अपने दैन्य, अभाव और लघुत्व आदि को दिखाने का साहस होता है। प्रभु के शक्ति, शील और सौंदर्य की आभा में उन्हें अपने पाप महापाप और अपना जीवन महापापी अनुभव होता है। प्रभु के इस महत्व के प्रकाश में उन्हें पश्चात्ताप की प्रेरणा मिलती है। और वह एक-एक कर अपने पाप की गठरी खोलने लगते हैं—

'जानत हूँ निज पाप जलधि जिय, जल सीकर सम सुनत लगै ।
रज सम पर-अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरिसम रजते निदशैं ।।
परगुन सुनत दाह, पर दूषन सुनत हरख बहुतेरो ।
आप पाप को नगर बसावत, सहि न सकत पर खेरो ।।

—(विनयपत्रिका १४३)

त्रिगुणात्मक विश्व में इस प्रकार के विकार अन्यों में भी होना स्वाभाविक है। सम्भव है प्रभु इन्हें साधारण समझकर उनकी उपेक्षा कर दें। फलतः वह प्रभु को 'पतित पावन' समझकर अपने महापातकी स्वरूप को व्यक्त कर उठते हैं—

(१) **माधव जू मो सम मन्द न कोऊ ।**
जद्यपि मीन-पतंग हीन मति मोहि नहिं पूजै ओऊ ।।

× × ×

मेरे अघ सारद अनेक जुग गनत पार नहिं पावैं ।

—(विनयपत्रिका ९२)

(२) **माधव मो समान जग माहीं ।**
सब विधि हीन, मलीन, दीन अति लीन-विषय कोउ नाहीं ।।

—(विनयपत्रिका ११४)

× × ×

(३) **जनम गयो बदिहिं बरबीति ।**
परमारथ पाले न पर्यो कछु अनुदिन अधिक अनीति

—(विनयपत्रिका २३४)

(४) ऐसेहि जनम समूह सिराने।
प्राननाथ रघुनाथ से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने॥
—(विनयपत्रिका २३५)

(५) मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो।
थाके लिये सुनहु करुनामय, मैं जग जनमि-जनमि दुख रोयो॥
—(वही—२४५)

इस प्रकार के अन्य स्थलों को भी तुलसी के जीवन के साथ संगीत बिठाकर यदि हम विचार करें तो वस्तुतः उनके साथ अन्याय और अविचार होगा। उनका भक्त-हृदय सभी कुछ कह डालने के लिये आतुर है। जो सर्वव्यापक है क्यों वह अन्तस्तल की जान न लेगा। इसी से संसार या जीवन के जो भी पाप हृदय में है, उनके उल्लेख में भी तुलसी को सुख की अनुभूति होती है। तुलसी की इस वृत्ति से प्रायश्चित तो हो ही रहा है; किन्तु वह अपने कथन की उस सीमा पर पहुँचना चाहते हैं जहाँ वह अपने प्रभु से यह कहने का साहस कर सकें—

तुलसिदास प्रभु ! कृपा करहू अब, मैं निज दोष कछू नहिं गोयो।

तुलसी की इस करुण दशा में तो प्रभु कृपा प्राप्त कर लेना कठिन न होगा। विश्वस्त होते हुये भी उनका मन व्यग्र हो उठता है। फिर प्रभु को उनके प्रभुत्व और महत्व का स्मरण दिलाते हैं—

मैं हरि पतित पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित पावन, दोउ बानक बने॥ —(वही—१६०)

इस भावना के साथ ही 'नाहिन कछु औगुन तुम्हार अपराध मोर मैं माना' कहते हुए तुलसी साहसिक हो उठे हैं—

तो सों प्रभु जो पै कहूँ कोउ होतो।
तौं सहि निपट निरादर निसिदिन रटि लटि ऐसो घटि को तो।
—(वही—१६१)

जो पै दूसरो कोउ होइ।
तौ हौं बारहि बार प्रभु कत दुःख सुनावौं रोइ॥
× × ×
आपसे कहुँ सौं पिये मोहि जो पै अतिहि घिनात।
दास तुलसी औरे विधि क्यों चरन परिहरि जात॥
—(विनयपत्रिका २१७)

कहे बिनु रह्यो न परत, कहे राम ! रस न रहत,
तुमसे सुसाहिब की ओट जन खोटो-खरो।
काल की, करम की कुसाँसति सहत।
× × ×

मेरी तौ थोरी है, सुधरैगी बिगरियौ, बलि,
राम ! रावरी सौं, रही रावरी चहत ।।

—(विनयपत्रिका २५६)

तुलसी की यह स्पष्टवादिता प्रभु के प्रति उनकी अनन्यता के कारण है। प्रभु के सामीप्य के बल पर उन्होंने अपने कहने के अधिकार का उपयोग किया है। ऐसी भावनाएँ यदि तुलसी के अहंकार और धृष्टता के अन्तर्गत मान ली जायें तो यह भी उनके हृदय के साथ अन्याय होगा। पापों और विकारों के कारण सम्भव है उनके प्रभु उनसे घृणा करने लगे हों। इससे 'आपसे सौंपिये' कितनी मीठी चुटकी है। तुलसी अपना सुधार और कल्याण अपने माध्यम से न चाहकर प्रभु के माध्यम से चाहते हैं। अन्ततः उनकी बिगड़ी तो सुधरेगी ही; किन्तु उनकी यह सब चाहना प्रभु के प्रभुत्व को सुरक्षित रखने के लिये है।

इस भक्ति-भावना के बल पर तुलसी जीवन की उस निष्काम स्थिति पर पहुँच जाते हैं, जहाँ लौकिकता का पूर्ण ह्रास हो जाता है—

इहै परम फल, परम बड़ाई।
नख सिख रुचिर बिंदुमाधव छवि निरखहिं नयन अघाई।

× × ×

चहौं न सुगति, संपति कछु, रिधि, सिधि, विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई।।

× × ×

या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होंहि सिमिट इक ठाईं।।

—(विनयपत्रिका १०३)

तुलसी अपने राम से शुभगति, सद्बुद्धि, धन-सम्पत्ति, ऋद्धि-सिद्धि और बड़ाई प्रदान करने की विनय नहीं करते, उनकी उनसे इतनी ही प्रार्थना है कि उनके चरण कमलों में उनका अनन्य और निष्काम प्रेम बढ़ता रहे। इसके अतिरिक्त सांसारिक प्रेम, विश्वास और सम्बन्ध को भी वह केवल राम में ही केन्द्रस्थ देखना चाहते हैं। वस्तुतः ऐसी निष्ठा और मनोकामना ही भक्त-जीवन का सर्वस्व है।

'विनयपत्रिका' में समाहित तुलसी की विनय-भावना क्रमिक रूप से राम-चरणों की ओर उन्मुख हुई है। अपनी अनन्य निष्ठा और विश्वास रखे हुए राम के समक्ष उन्होंने अपनी दीनता, मानमर्षता, ममदर्शना, विचारणा, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य आदि विनय की सातों भूमिकाएँ प्रस्तुत की है, जिनमें उनके प्रति उनकी श्रद्धा पूर्णरूप से अभिव्यंजित है। भक्ति का यही रूप होता है जो तुलसी के द्वारा विनयपत्रिका में प्रस्फुटित हो उठा है।

दर्शन-तत्त्व

गोस्वामी तुलसीदास रामानन्द की शिष्य-परम्परा के कवि थे, फलतः विशिष्टाद्वैतीदर्शन की प्राण-प्रतिष्ठा ही उनके काव्यों में हुई है। प्रसंगतः यत्र-तत्र अद्वैत और द्वैत के तत्त्व उनके काव्यों में भले ही उपलब्ध हों; किन्तु उनकी परिणति उक्त दर्शन में ही हुई है। फलस्वरूप उसी का पोषण और पल्लवन उनके समग्र साहित्य में समाहित है।

विनयपत्रिका तुलसी का विनय-काव्य है, जिसमें उनके सम्प्रदाय की भक्ति-भावना, जो दास्याशक्ति पर आधारित है, साकार हो उठी है। इसके फलस्वरूप ही राम के प्रति उनको अनन्य निष्ठा और पूज्य भावनाओं का प्रस्फुटन भी हुआ है। भक्ति के अतिरिक्त जीव, माया आदि के सम्बन्ध में भी उनकी भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं; किन्तु उन्होंने ब्रह्म (राम) अंशी का ही अंश प्रतिपादित किया है। राम की यह सर्वोपरिता विशिष्टाद्वैत का स्पष्ट तत्त्व है, इस नाते उनको राम के प्रति अपनी अनन्यता और आस्था स्थिर रखने में सुविधा हुई और इस बल से ही वह अपनी लघुता का सम्यक् विवरण प्रस्तुत कर सके हैं।

उपर्युक्त भावनाओं का विनयपत्रिका में कहाँ तक पोषण है, इसके लिए उसके विवेचन में प्रवेश करना आवश्यक है। उसके फलस्वरूप उसके दार्शनिक तत्त्वों पर भी प्रकाश पड़ सकेगा।

ब्रह्म

विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों के अनुसार विश्व में चित् (जीव, चेतन, आत्मा आदि), अचित् (जड़, प्रकृति, माया आदि) और ब्रह्म (ईश्वर, परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर, भगवान्, श्रीराम आदि) तीन विधायक तत्त्व हैं। चित् और अचित् व्याप्य और ब्रह्म व्यापक है। व्याप्य पदार्थ व्यापक में सन्निविष्ट रहता है, फलतः चित् और अचित् दोनों की ही ब्रह्म में स्थिति है। अपने अपृथकत्त्व के कारण ये दोनों तत्त्व विशेषण हैं और अपने अभेद स्वरूप के कारण ब्रह्म विशेष्य है। इन विशेषताओं और अंशी होने के अद्वैत तत्त्व के कारण ही इस सम्प्रदाय का विशिष्टाद्वैत नाम पड़ा।

ब्रह्म जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इसीलिए वह अपने को जगत रूप में प्रकट कर विविध प्रकार की लीलाएँ किया करता है। अवतारवाद की इस भावना की विनयपत्रिका में पूर्ण प्रतिष्ठा है। तुलसी विनयपत्रिका—५२ पद में ब्रह्म के दशावतारों के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा और राम में भगवान् स्वरूप की मान्यता अभिव्यक्त करते हैं—

कौशलाधीश, जगदीश, जगदेकहित, अमितगुण, विपुल, विस्तार लीला।
गायंति तव चरित सुपवित्र श्रुति, शेष-शुक-शंभु सनकादि मुनि मननशीला।

—(विनयपत्रिका ५२)

राम के माहात्म्य और ब्रह्मत्त्व का पूर्ण स्वरूप विनयपत्रिका की प्रारम्भिक स्तुतियों में विद्यमान है, जिनमें गणश, सूर्य, शिव, देवी, गंगा, यमुना, काशी, हनुमान लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता आदि की स्तुतियों में वह राम-भक्ति और कृष्ण की अनन्य कामना करते हैं। उन सभी में राम की सर्वोपरिता स्वयंसिद्ध है। उसके इस ब्रह्मत्व से तुलसी स्वयं प्रभावित हैं, इसी से उनके समर्थ और सर्वज्ञ रूप से अपने लिए कृपा की कामना करते हैं—

देव ! दूसरो कौन दीन को दयालु ।
सील-निधान सुजान-सिरोमनि सरनागत-प्रिय प्रनत-पालु ॥
को समरथ सरबग्य सकल प्रभु, सिव-सनेह-मानस मरालु ।
को साहिब किये मीत प्रीतिबस खग निसिचर कपि भील भालु ॥
नाथ हाथ माया-प्रपंच सब, जीव-दोष-गुन-करम-कालु ।
तुलसिदास भलो पोच रावरो, नेकु निरखि कीजिए निहालु ॥

—(विनयपत्रिका १५४)

ब्रह्म अंशी और कवि तथा माया उसके अंश है, इस तथ्य का प्रतिपादन ही, 'नाथ हाथ माया-प्रपंच सब, जीव-दोष-गुन-करम-कालु' से होता है। 'माया' और 'जीव' का यों अपना अस्तित्व भी है; किन्तु ब्रह्म के समक्ष वे पंगु हैं और पूर्णरूप से उसी के आधीन हैं। इसमें अद्वैत का भाव तो है; किन्तु आचार्य शंकर के समान यह 'ज्ञान' तत्त्व के आश्रित नहीं है, इसमें कर्म और भक्ति के लिए पूर्ण अवकाश है। यह भावना ही निम्न पंक्तियों में तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत की गई है—

सिद्ध साधक साध्य, वाच्य वाचक रूप, मंत्र-जापक जाप्य, सृष्टि-सृष्ट,
परम कारन कजंनाभ जलदादतनु, सगुन निर्गुन सकल दृश्य दृष्टा ॥

— (वही—५३)

ब्रह्म के उपर्युक्त गुणों के कारण ही माया और जीवात्मा उसी के आश्रय हैं। माया के प्राबल्य के कारण जीवात्मा को अज्ञानान्धकार घेर लेता है और मोह की फाँस जो उसके अन्तस्तल में पड़ जाती हैं उसे संसार में अत्यधिक भटकती है। अन्त में हरि और गुरु की करुणा से ही उसकी निष्कृति होती है—

माधव ! मोह-फाँस क्यों टूटै ।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यन्तर ग्रन्थि न छूटै ।
तुलसिदास हरि-गुरु-करुना बिनु विमल विवेक न होई ।
बिनु विवेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई ॥

—(वही—११५)

मोह-शृंखला से जीव को मुक्त करने का श्रेय यदि किसी को है तो ब्रह्म को ही है—

सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ़ विचार जिय मोरे ।

तुलसिदास प्रभु मोह-सृंखला, छुटिहि तुम्हारे छोरे ॥

—(विनयपत्रिका ११४)

जीव को बन्धन में डालने के सम्बन्ध में माया के विविध प्रकार के चित्र विनयपत्रिका में तुलसी द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं; किन्तु उपर्युक्त के समान जीव-निष्कृति के साधन भी कवि द्वारा वर्णित किए गए हैं। इन सबके मूल में हरि-कृपा ही प्रमुख है—

कृपा-डोरि बनसी पद अंकुस, परम प्रेम-मृदु-चारो।
एहि विधि बेधि हरहु मेरो दुःख, कौतुक राम तिहारो ॥
हैं श्रुति बिदित उपाय सकल सुर केहि-केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास येहि जीव मोह-रजु, जेहि बाँध्यो सोइ छोरै ॥

—(विनयपत्रिका १०२)

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि जीव को 'मोह-रजु' में बाँधने का श्रेय जिसको है उसी को श्रेय उसके मुक्त करने का भी है। इस प्रकार ब्रह्म की महत्ता स्वयं सिद्ध है।

ब्रह्म की सृष्टि के सम्बन्ध में सम्प्रदायों के मध्य में विचारान्तर है। अद्वैतवादी शंकराचार्य के अनुयायी उसे असत्य द्वैत और विशिष्टाद्वैतवादी उसे सत्य तथा द्वैताद्वैतवादी, श्री निम्बाकाचार्य के अनुयायी, उसे सत्यासत्य दोनों मानते हैं। यह तीनों सिद्धान्त क्रमशः ज्ञान, कर्म और योग के हैं, तुलसी साम्प्रदायिक सिद्धान्तों और विचारों को भ्रममात्र मानकर आत्मिक तत्त्व को जानने और पहचानने के लिए केवल 'ब्रह्म' की एक मात्र शरण में जाना ही पर्याप्त समझते हैं—

केशव कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहि मन रहिये ॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहि, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोयें मिटै न, मरे भीति दुख पाइय इहि तनु हेरे ॥
रविकर नीर बसै अति दारून मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥

—(वही—१११)

इस प्रकार तुलसी मतमतान्तरों से भी कहीं आगे जाना चाहते हैं, यहाँ उनका विशिष्टाद्वैती भाव भी पिछड़ गया है। सच तो यह है कि भक्त के लिए ब्रह्म की अनन्यता ही पर्याप्त है, उसी की यहाँ पर पूर्ण अभिप्रेरणा है।

जीव

जीव ईश्वर-अंश होने के कारण अविनाशी, चेतन, निर्मल और सुख की राशि

होता है; किन्तु माया के आधीन हो जाने पर वही 'कीर' और 'मरकट' के समान बन्धन में पड़ जाता है। इस प्रकार चेतन (जीव) और जड़ (माया) में गाँठ पड़ जाती है। यद्यपि वह गाँठ असत्य है; किन्तु उसका खुल सकना कठिन है। माया के बन्धन से ही जीव संसारी बन गया। न उसका गाँठ छूट पाती है और न वह सुखी हो पाता है।[1] इस गाँठ के खुलने और माया के बन्धन से मुक्त होने का यदि कोई साधन है तो भगवान् की अनन्य निष्ठा और भक्ति। जीव माया के वशीभूत होकर विविध प्रकार से वांछित और पीड़ित रहता है, ब्रह्म जब चाहता है तब माया तिरोहित हो जाती है। उस समय जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति पर पहुँच जाता है, अनन्तर उसे मुक्ति का पथ सुलभ हो जाता है।

कवि की ये विशिष्टाद्वैती परिस्थितियाँ ही विनयपत्रिका की पृष्ठ-भूमि में स्थित हैं। तुलसी ने माया के कारण जीव की परवशता सांसारिकता और अनन्तर इन बन्धनों से मुक्त होने के लिए ब्रह्म की कृपा-कामना की अभिव्यक्तियाँ पग-पग पर प्रस्तुत की हैं—

नाचत ही निसि दिवस पर्‌यो।
तब ही ते न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धर्‌यो॥
बहु वासना विविध कंचुकि भूषन लोभादि भरयो।
चर अरु अचर गगन जल थल में कौन न स्वांग करयो॥
जेहि गुनतें बस होहु रीझि करि सो मोहि सब बिसरयो।
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु दीजै रहन परयो॥

—(विनयपत्रिका ९१)

जीव की वस्तु-स्थिति का स्वाभाविक वर्णन इन पंक्तियों में है। जीव की संज्ञा प्राप्त करने के उपरान्त उसने आवागमन के चक्र में पड़कर विविध प्रकार के स्वाँग किये हैं। आज वह सतोगुणी भावनाओं से पूर्ण रिक्त है, ऐसी स्थिति में वह भगवान् के द्वार पर किसी प्रकार पड़ा रहना चाहता है। ऊपर की भावना निम्न

---

१. ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो मायावस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रन्थि परिगाई। जदपि मृषा छूटति कठिनाई॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥
ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्विघ्न पंथ निर्वहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम पद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

—(मानस—उत्तरकाण्ड)

पंक्तियों में भी पिरोई हुई है—

जिव जबतें हरितें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो।
मायावस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रमते दारून दुख पायो।।

—(विनयपत्रिका १३६)

जीव की स्थिति ब्रह्म और माया दोनों के आधीन हैं। ब्रह्म से वियुक्त होकर वह आवागमन के आधीन हो जाता है और लौकिक आकर्षण उसे फँसाकर विविध प्रकार से नचाते हैं। यह वस्तुतः अविद्या के स्वरूप में माया ही है, जिससे जीव शान्त नहीं हो पाता है—

पसु लौं पसुपाल ईस बाँधत छोरत नहत।

—(वही—१३३)

पराधीन देव दीन हौं, स्वाधीन गुसाईं।
बोलनिहारे सों करै बलि विनय कि झाईं।।
अपु देखि मोहि देखिये जन मानिय साँचो।
बड़ी ओट राम नाम की जेहि लई सो बाँचो।।

—(वही—१४६)

प्रत्येक स्थिति में जीव की निष्कृति ब्रह्म के ही आधीन है अन्यथा उसका भ्रम अधिकाधिक बढ़ता जाता है[1] और वह सांसारिकता में निमग्न होता जाता है। इन परिस्थितियों से मुक्त होने का यदि कोई साधन है तो भगवान की भक्ति और सन्तों की संगति ही है—

तुलसीदास सब बिधि प्रपंच जग, जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-भगति संत-संगति बिनु को भव त्रास नसावै।।

—(वही—१२१)

यह विशिष्टाद्वैती भावना है। भक्ति के साधन से ही भटका हुआ जीव माया से मुक्त होकर ब्रह्म के साथ अद्वैत हो जाता है, इसमें ब्रह्म के लिए अनन्य भाव और निष्ठा सभी कुछ हैं।

माया

माया ब्रह्म के आधीन वह तत्त्व है जो जीव को निरन्तर भ्रमित किए रहता है। उसका उन्मूलन तभी सम्भव है जब ब्रह्म की जीव पर कृपा होती है, उस समय उसका विवेक जागृत हो जाता है और अविद्या का नाश हो जाता है। तुलसी ने सांसारिक अविवेक और माया-मोह से पीड़ित तथा बाधित होकर ही विनय की पत्रिका श्रीराम के चरणों में अर्पित की है, क्योंकि उन्हें विश्वास है कि राम-कृपा से

---

१. विनयपत्रिका, पद ११६, १२० एवं १२१

ही जीव माया के क्लेश से उन्मुक्त हो सकता है—

तुलसी ने विनयपत्रिका में माया के प्रभाव को स्थल-स्थल पर वर्णित कर राम के समक्ष कल्याण-कामना के लिए अवकाश प्राप्त कर लिया है। कहीं-कहीं जीव को समझाने के लिए वह उसके भ्रम और कष्टों का भी वर्णन करते हैं किन्तु उनके साथ वह राम-निष्ठा के महत्प्रभाव का उल्लेख करना कहीं भी नहीं भूलते हैं—

जागु जागु, जीव जड़! जोहै जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी।।
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-सन्ताप रे।
बूड़्यो मृग-वारि खायो जेवरी को साँप रे।।
कहै वेद-बुध तू तो बूझि मनमाहिं रे।
दोष-दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे।।

'जीव का मृग-तृष्णा में डूबना' और 'रस्सी के सर्प द्वारा डसा जाना'—ये दोनों भ्रमात्मक माया के ही लक्षण हैं, इनसे मुक्ति केवल जीव के जागरण पर ही सम्भावित हैं।

माया के प्रभाव से शरीर के अंग-प्रत्यंग सभी मलीन हो जाते हैं—पर-स्त्रियों के देखने से नेत्र, विषयों के भोग से मन, सुख रूप, स्व-स्वरूप के त्याग से जीव पर-निंद्रा से कान, दूसरों के दोष-कथन से वचन मलीन हो गए हैं और राम-चरणों को भूल जाने से मल पीछे लगा फिरता है, यह सब माया का प्रभाव हैं और जन्म-जन्मातर जीव के पीछे लगा हुआ है—उसके छूटने का यदि कोई अचूक साधन है तो वह है राम-चरण के प्रति अनुराग रूपी जल।

मोहजनित मल लाग विविध विधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित अधिक अधिक लपटाई।।
× × ×
तुलसीदास व्रत-दान,ग्यान-तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै।
रामचरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै।।

—(विनयपत्रिका ८२)

उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण इन्द्रियों ने जीव को जैसा भटकाया है, वह भटका है, इससे मन को कहीं भी विश्राम नहीं मिला है।[1] माया के प्रभाव से मन ऐसा मूर्ख हो गया है कि वह राम-भक्ति-सुरसरिता के स्थान पर ओस-कण की आशा करता है और कुचाल चलता हुआ असह्य दुःख सहन करता है।[2]

माया के प्रभाव से देव, दनुज, मुनि, नाग आदि सभी प्रताड़ित हैं, इससे

---

१. विनयपत्रिका, पद ८८
२. विनयपत्रिका, पद ९०

तुलसी उनके आश्रय की कामना न करके ब्रह्म स्वरूप राम के आश्रय की हीं अभिलाषा करते हैं—

देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब माया-बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे॥
—(विनयपत्रिका १०१)

देव, दनुज आदि की अक्षमता और अशक्तता के कारण ही तुलसी के मानस में राम के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और निष्ठा घर कर चुकी है। फलतः अपनी भक्ति-भावना की अर्चना वह उनके चरणों में आश्वस्त होकर चढ़ाते चले हैं। उन्हें विश्वास है कि राम-कृपा से जीव अपने स्व-स्वरूप को प्राप्त कर सुख की अक्षय निधि का भोग कर सकेगा। विशिष्टाद्वैती में माया ब्रह्म के वैसे ही अधीन है जैसे जीव गाया के। इससे माया के उन्मूलन के लिए ब्रह्म को प्रसन्न करना जीव का परम कर्तव्य हो जाता है। इसी से वह राम-भक्ति की ओर उन्मुख है और माया के प्रभावों के कथन के साथ राम-कृपा की महत्ता को नहीं भूले हैं। इस तथ्य के कारण ही उनका भक्त-हृदय वड़ा सबल हो गया है।

भक्ति

संसार के मायिक बन्धनों से मुक्त होने और ईश्वरीय सामीप्य के लिए यदि विश्व में कोई सरल साधन है तो भक्ति है। यद्यपि 'ज्ञान' से भी 'कैवल्य पद' सुलभ होता है; किन्तु उसमें पतन का अधिक अवकाश है। उसकी अपेक्षा भक्ति अधिक सरल और सुग्राह्य है। भक्ति में भक्त 'कैवल्य पद' कामना नहीं करता; किन्तु वह वलात् उसके समीप आता है। इसके अतिरिक्त उसका विवेक सदैव जागृत रहता है। मोह, लोभ, और अविद्या आदि उसे जीवन की किसी स्थिति में बाधित नहीं कर पाती है।[1] भक्ति की इस महत्ता को तुससी का भावुक हृदय भली प्रकार समझा

---

१. ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्विघ्न पंथ निर्वहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआई॥
× × ×
राम भगति चिंतामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर॥
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिस दिआ घृत बाती॥
मोह-दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
राम-भगत मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥
मारे मन प्रभु अस विस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
—(रामचरितमानस—उत्तरकाण्ड)

था, इसी से विनयपत्रिका में राम की कृपा के लिए वह विविध प्रकार से अनुनय-विनय करते हैं। इसकी महत्ता समझकर तुलसी राम-नाम के अतिरिक्त अन्यत्र प्रवृत्त होना नहीं चाहते। निम्न पंक्तियों में तुलसी के भक्त-हृदय का सच्चा मनोराज्य है—

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम कृपा भव-निसा सिरानी जागे फिरि न डसैहौं।।
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहौं।।
परवस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं।।

—(विनयपत्रिका १०५)

इस अनन्यता के फलस्वरूप ही वह राम-कथा के अतिरिक्त अपने कानों से दूसरी बात सुनना, जिह्वा से दूसरी चर्चा करना नेत्रों से अन्य को देखना और दूसरे के समक्ष अपने मस्तक को झुकाना नहीं चाहते हैं—

जानकी-जीवन की बलि जैहौं।
चित कहै राम सीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं।।
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन विलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं।।
नातो-नेह नाथ सों करि सब नातो-नेह वहैहौं।

—(वही—१०४)

तुलसी राम के चरणों में अविचल अनुराग के अतिक्ति 'सुगति', 'सुमति' 'संपति', 'ऋद्धि', 'सिद्धि', बड़ाई आदि किसी की कामना नहीं करते और सांसारिक प्रेमों को केवल राम में ही केन्द्रित कर देना चाहते हैं—

चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि, सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई।।
या जग मे जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीत सगाई।
ते सब तुलसीदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाई।।

—(वही—१०३)

राम-भक्ति साधु-संगति के ही आश्रित है।[1] जब राम भक्त पर द्रवित हो जाते हैं तब साधु-संगति प्रिय लगने लगती है, सुख-दुःख समान प्रतीत होने लगते हैं और मद, मोह, लोभ, विषाद, क्रोध आदि सरलता से पलायन कर जाते हैं।

---

१. सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई।।
अस विचारि जोइ कर सतसंगा। राम-भगति तेहि सुलभ विहंगा।।
—(रामचरितमानस—उत्तरकाण्ड)

रघुपति-भगति सुलभ सुखकारी। सो त्रयताप सोकभय हारी।
बिनु सतसंग भगति न होई। ते तब मिलैं द्रवैं जब सोई॥

उपर्युक्त कतिपय स्थलों की भावना से यह स्पष्ट है कि तुलसी का मानस भक्ति के गौरव को भली प्रकार समझ चुका था। यद्यपि भक्ति के लिए किसी मर्यादा की आवश्यकता नहीं है; किन्तु तुलसी की विनयपत्रिका में भावना की पूर्ण मर्यादा प्रतिष्ठित है। अपने संयत आचरण से वह राम की भक्ति के समीप पहुँचना चाहते हैं, इसी से क्रमिक रूप से उनकी भक्ति गाढ़ हो उठी है और अन्त में राम के द्वारा विनयपत्रिका के 'सही' होने पर उनकी भक्ति की मान्यता सिद्ध हो गई है।

तुलसीदास विशिष्टाद्वैती सम्प्रदाय के अन्तर्गत अवश्य थे; किन्तु उनका दर्शन कहीं भी तार्किक नहीं है। वह दार्शनिक की अपेक्षा महाकवि और महाकवि की अपेक्षा भक्त अधिक हैं। इसी से दास्यासक्ति की भक्ति से उनकी भावनाएँ सिद्ध हैं।

रस-तत्त्व—रस-निष्पत्ति का मूलाधार आलम्बन के प्रति हमारी स्थायी भावना है। उसके प्रति जिस हृदय में प्रेम, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा, विस्मय और निर्वेद आदि अंकुरित होते हैं वह आश्रय कहलाता है। स्थायीभाव को उद्दीप्त करने वाले विभावों को उद्दीपन कहा जाता है। उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बनगत और (२) बाह्य। आलम्बन को लेकर आश्रय की जो चेष्टाएँ, वाणी आदि प्रस्फुटित होती है उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये अनुभाव सात्विक और कायिक होते हैं। संचारी या व्यभिचारी भाव रस-परिपाक में सहायक होते हैं। ये घटित और विनष्ट होते रहते हैं। स्थायीभावों के आधार पर आज हमारे काव्य में श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त नौ रसों की मान्यता है। रस की कोटि में आजकल वात्सल्य और भक्ति इन दो रसों की और गणना की जाती है। यों भक्ति में आराध्य के प्रति रति होने के कारण वह श्रृंगार और शान्त में समा जाती है; किन्तु कालान्तर में श्रृंगार का भाव दाम्पत्य रति से लिया जाने लगा। इससे उसकी अलग व्यवस्था ही समीचीन जँचती हैं।

राम, कृष्ण या किसी आराध्य के प्रति पाँच प्रकार की रति (भक्ति) होती है—(१) शान्ति, (२) प्रीति, (३) प्रेम, (४) अनुकम्पा, (५) कान्त,आदि। इन्हीं को क्रमशः शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव (श्रृंगार) के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' के उपर्युक्त विधान की अपेक्षा 'नारद-भक्ति-सूत्र' में भक्ति-रति की और भी विशद व्याख्या है। उसमें इस रति के ग्यारह विभेद किए गए हैं—

(१) गुणमाहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणा-

सक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति (७) कान्तासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयतासक्ति और (११) परम विरहासक्ति।

उपर्युक्त आसक्तियों पर यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो गुणमाहात्मय (शम), हास्य, सख्य, कान्त और वात्सल्य ही प्रमुख सिद्ध होती हैं, शेष रूप, पूजा, स्मरण, आत्मनिवेदन, तन्मयता और परम विरह आदि वे आसक्तियाँ हैं जो प्रत्येक भक्त में अपने आराध्य के लिए होती ही हैं।

तुलसी-गीति-काव्य में रस-निरूपण के लिए प्रविष्ट होने से पूर्व इस तथ्य से अवगत हो लेना चाहिए कि तुलसी और सूर महाकवि की अपेक्षा भक्त पहले हैं। यह तत्त्व उनमें बड़ा सबल है। प्रत्येक काव्य में यह तत्त्व प्रमुख रूपेण प्रतिपादित किया गया है। यदि सूर की भक्ति का 'भ्रमरगीत' में उत्कर्ष है तो तुलसी की विनयपत्रिका में तुलसी की भक्ति का उत्कर्ष। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में ऐसे निमग्न हुए हैं कि आज भी वे भावुक भक्तों और सहृदय साहित्यिकों को मुग्ध किए हैं। तुलसी के गीति-काव्यों के विवेचन में यह कहा जा चुका है कि 'विनयपत्रिका' में ही भक्ति-तत्त्व नहीं है किन्तु श्री कृष्णगीतावली और गीतावली में भी यह पूर्णरूप से विद्यमान है।

शृङ्गार रस—तुलसी ने अपने गीति-काव्यों में कृष्ण और राम को नायक चुना है। दोनों चरित-नायक विष्णु के अवतार हैं। तुलसी मर्यादावादी कवि थे। इससे भी उनके प्रति उनकी पूज्य भावना रही है। इसके अतिरिक्त यह भी तथ्य है कि भक्ति-काल तक हिन्दी-काव्य में आचार्य भरत की प्रतिपादित रस-पद्धति का प्रयोग हुआ है, जिससे शृंगार असंगत न हो सका जैसा मम्मट और विश्वनाथ की पद्धति के अनुगमन में रीतिकाल के कवियों की रचनाओं में हुआ। इससे कृष्ण और राम के सम्बन्ध में तुलसी का शृंगार विडम्बना की सीमा तक नहीं पहुँचा है।

शृंगार के संयोग और वियोग दो पक्ष हैं। प्रथम नायक की उपस्थिति और साक्षात्कार में और द्वितीय उसके प्रवास-गमन पर अनुपस्थिति में प्रतिष्ठित होता है। कृष्ण के जीवन की एक स्थिति (१२ वर्ष) तक पूर्ण संयोग है जिसमें कृष्ण गोकुल में रहकर राधा और गोपियों के माधुर्य के विषय रहे हैं। दोनों पक्षों ने एक दूसरे को अपनी प्रेम-माधुरी से छकाने का प्रयत्न किया है। अनन्तर कृष्ण के मथुरा और फिर वहाँ से द्वारिका चले जाने पर गोपियों के पक्ष में सोलहों आना वियोग आ उपस्थित हुआ है। राम के जीवन में शृंगार को दोनों पक्षों की ऐसी क्रम-वद्धता नहीं है। राम के बाल-जीवन की सहचारियों का जो अपने स्वच्छन्द प्रेम से उनको रिझाती, यदि तुलसी ने व्यवस्था की होती तब सम्भव था कि वियोग पक्ष में उनकी विरह-विदग्ध वाणी प्रस्फुटित होती; किन्तु मर्यादा-पोषण में वह ऐसा नहीं कर सके। इससे राम-चरित हैं में संयोग-वियोग के यत्र-तत्र स्थल ही उपलब्ध होते।

संयोग

श्री कृष्णगीतावली—कृष्ण जब शिशु थे तभी अपने अलौकिक स्वरूप के

कारण आकर्षण के विषय थे; किन्तु जब माता की गोद छोड़कर वह इधर-उधर घूमने फिरने लगे तब तो नित्य ही गोपियाँ उनके सम्बन्ध के उपालम्भ लाने लगीं। इन उपालम्भों के उत्तर में कृष्ण की वचन-विदग्धता के साथ गोपियों का उनके प्रति प्रेम भी अभिवृद्धि पर है—

मो कहँ झूठहुँ दोष लगावहिं।
मैया इन्हहि बानि पर घर की। नाना जुगुति बनावहिं॥
इन्ह के लिएँ खेलिबो छाँड्यो। तऊ न उबरन पावहिं॥
भाजन फोरि बोरिकर गोरस। देन उरहनो आवहिं॥
कबहुँक बाल रोवाइ, पानि गहि, मिस करि उठि उठि धावहिं।
करहिं आपु, सिर धरहिं आनके, वचन विरंचि हरावहिं॥

× × ×

अबहु उरहनो दै गई. बहुरौ फिरि आई।
सुनु मैया! तेरी सौं करौं, याकी टेव लरन की।
सकुच बेंचि सी खाई॥

× × ×

जौ लौं हौं कान्ह रहौं गुन गोए,
तौलौं तुमहि पत्यात लोग सब।
सुसुकि सभीत साँचु सो रोए,
गरजति कहा तरजिनन्हि तरजति।
बरजत सैंन नैंन के कोए,
तुलसी मुदित मातु सुत लखि।
बिथकी है ग्वालि नैंन मन मोए॥

इन सब परिस्थितियों में गोपियों के आकर्षण-विन्दु कृष्ण थे। कृष्ण स्वभावतः ऊधमी थे; किन्तु सब दोष उन्हीं का नहीं था। गोपियों का हृदय मनमोहन कृष्ण के समक्ष परास्त था, इसी से वे घर पर बैठी नहीं रह सकती थीं। फलतः वे आकर उपालम्भ भी देती हैं और अपने नेत्रों के संकेत से उनके विरुद्ध कुछ न कहने के लिए मना भी करती हैं। प्रेम से परास्त वे विवश थीं। इनमें कृष्ण आलम्बन और गोपियाँ आश्रय हैं। रति स्थायीभाव के कारण अन्तिम गीत में गोपियाँ का गर्जना, तर्जनी अँगुली से डाँटना और नेत्रों के संकेत से मना करना कायिक अनुभाव हैं और उनका थकित होना संचारीभाव है। सूरसागर के समान श्री कृष्णगीतावली में रति की विविध परिस्थितियों का प्रस्फुटन नहीं हो सका है। फिर भी गोपियों के उपालम्भ, उलूखल बन्धन, यमुना तट पर वंशी-वादन आदि से गोपियों के रति के संयोग पक्ष का स्पष्टीकरण हो जाता है।

वियोग

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोप, गोपियों आदि सभी के लिए वियोग की स्थिति घटित हो गई थी। वह जब तक रहे जीवन में उल्लास और अनुराग था अब उनके बिना विरह-विदग्ध हो वह रुदन करती अपने जीवन को कोसती हैं। सरसता के विनाश के कारण जीवन में नीरसता का साम्राज्य उपस्थिति हो गया था—

> **जब ते ब्रज तजि गए कन्हाई।**
> **तब ते विरह रवि उदित एकरस सखि! बिछुरन वृष पाई॥**
> **घटत न तेज, चलत नाहिन रथ, रह्यो उर नभ पर छाई।**
> **इन्द्रिय रूप रासि सोचहि सुठि, सुधि सब की बिसराई॥**
> **भयो सोक भय कोक कोकनद भ्रम भ्रमरनि सुखदाई।**
> **चित चकोर, मन मोर, कुमुद मुद, सकल विकल अधिकाई॥**
> **तनु तड़ाग बल बारि सुखन लाग्यो परि कुरूपता काई।**
> **प्रान मीन दिन दीन दूबरे दसा दुसह अब आई॥**
> **तुलसीदास मनोरथ मन मृग मरत जहाँ तहँ धाई।**
> **राम स्याम सावन भादौं बिनु जिय की जरनि न जाई॥**

तुलसीदास ने विरह का वृष राशि के सूर्य के साथ सांग रूपक प्रस्तुत कर गोपियों की दुःख दशा का वर्णन प्रस्तुत किया है। विरह रूपी प्रचण्ड सूर्य स्थिर होकर हृदय रूपी आकाश पर छा रहा है। शोक रूपी चकवा, भय रूपी कमल तथा भ्रम रूपी भ्रमर आदि अधिक सुखी हैं और चित्त रूपी चकोर, मन रूपी मयूर और मोह रूपी कुमुद अत्यन्त व्याकुल हैं। शरीर रूपी सरोवर का बल रूपी जल सूखने लगा है; उस पर कुरूपता रूपी काई पड़ गई, प्राण रूपी मछलियाँ दुर्बल हो गई। मन के मनोरथ रूपी हिरण भी ताप से मर रहे हैं। इस दयनीय स्थिति में वे बलराम और घनश्याम रूपी श्रावण-भाद्रपद की कामना करती हैं क्योंकि उनके बिना हृदय की जलन शान्त न होगी।

सम्पूर्ण पद में वियोग की स्थितियाँ दृष्टव्य हैं। बलराम और कृष्ण आलम्बन हैं और गोपियाँ आश्रय। इन्द्रियों का सबकी सुधि भुलाकर उनका स्मरण न करना, शोक, भय और भ्रम की अभिवृद्धि होना, चित्त, मन और मोद का व्याकुल होना, शरीर के बल का सूखना, प्राण का दुर्बल होना, मनोरथों का तड़पना आदि अनुभाव हैं। इस प्रकार वियोग शृंगार सभी प्रकार पुष्ट है।

अपनी इस विरह-दशा में उन्होंने नेत्रों और मन के लिए भी मधुर उक्तियाँ कही हैं, जो मार्मिक हैं—

> **बिछुरत श्री ब्रजराज आजु, इन नयनन की परतीति गई।**
> **उड़ि न लगे हरि संग सहज तजि, ह्वै न गए सखि स्याम मई॥**

× × ×

नहिं कछु दोष स्याम को माई,
जो दुख मैं पायों सजनी सुन।
सो तौ सबै मन की चतुराई,
निज हित लागि तबहिं ए बंचक।
सब अगनि बसि प्रीति बढ़ाई
अब नँदलाल गवन सुनि मधुबन,
तनुहि तजत नहि बार लगाई।

वियोग के श्रृंगार के अन्तर्गत ही तुलसीदास ने भी भ्रमरगीत की योजना की है। उद्धव के द्वारा ज्ञानयोग के ही सन्देश कह देने के उपरान्त श्री कृष्णगीतावली के भ्रमरगीत प्रारम्भ हुए हैं। उद्धव के ज्ञानपरक संदेश के लिए गोपियाँ बुरा इसलिये नहीं मान रही हैं कि यदि उन्होंने कृष्ण के साथ उनके संयोग-काल के आनन्द-विलास देखे होते तो उन्हें दोष देना ठीक भी था। उद्धव भला गोपियों के सौभाग्य को क्या जाने, इससे वह जो कहते हैं कह लेने देना ही उचित है—

मधुकर ! कहहु कहन जो पारौ।
बलि नाहिन अपराध रावरो, सकुचि साध जनि मारौ॥
नहि तुम ब्रज बसि नंदलाल को बाल बिनोद निहारौ।
नाहिन रास रसिक रस चाख्यो, तातें डेल सो डारौ॥
तुलसी जौ न गए प्रीतम संग प्रान त्यागि तनु न्यारौ।
तौ सुनिबो देखिबो बहुत अब कहा करम सों चारौ॥

गोपियाँ अपने उत्तर-प्रत्युत्तर में कृष्ण को भी नहीं छोड़ती हैं। उनकी व्यंगोक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं। एक स्थल का कथन देखिए—

भली कही, आली हमहु पहिचाने,
हरि निर्गुन, निर्लेप, निरपने।
निपट निठुर, निज काज सयाने॥
ब्रज को बिरह, अरु संग महर को
कुबरिहि बरत न नेकु लजाने॥
समुझि सो प्रीति की रीति स्याम की
सोई बावरि जो परेखो उर आने॥

वह निर्गुण, निर्लेप, निर्दयी, स्वार्थी सभी हैं। एक ओर तो ब्रजवासियों का विरह और यशोदा के वात्सल्य की उपेक्षा और दूसरी ओर कुब्जा को वरण करने की चेष्टा। उनके प्रेम का यही स्पष्ट प्रमाण है। इस उक्ति में वियोग की मधुर व्यंजना ही हुई है। सम्पूर्ण भ्रमरगीतों में आलम्बन कृष्ण है और गोपियाँ आश्रय हैं। स्थल-स्थल पर विरह-दशा में विनष्ट हो जाने में यदि किसी ने आश्रय दिया है तो नेत्राश्रुओं ने ही। इससे यत्र-तत्र उनके सम्बन्ध में मधुर व्यंजना प्रस्फुटित की गई है—

पावक विरह, समीर स्वास
तनु तूल, मिले तुम जारनिहारे।
तिन्हहि निदरि अपने हित कारन,
राखत नयन निपुन रखवारे।।

संयोग और वियोग दोनों अवसरों के स्थलों पर दृष्टिपात करने से हम उनमें अविच्छेद्य तारतम्य पाते हैं। सयोग में जितने हास, परिहास, विनोद, आनन्द, आदि की अनुभूतियों से गोपियाँ प्रसन्न और आह्लादित हैं। वियोग में दुःख, रुदन, स्मृति आदि उनको उतना ही मर्माहत किए हैं। यह अवश्य सत्य है कि इन दोनों अवसरों पर जो भाव-धारा सूर की प्रस्फुटित हुई है उस उच्च कोटि में तो तुलसी की भाव-धारा नहीं आती है; किन्तु परिस्थितियों के दिग्दर्शन कराने में वह पूर्ण सफल हुए हैं, यह सत्य है।

गीतावली

संयोग (शृंगार)—शक्ति-शील-सौन्दर्य से युक्त राम अपनी लीलाएँ करते हुए जहाँ भी पहुँचे हैं, नर-नारी और पशु-पक्षी सभी ही उनके दिव्य सौन्दर्य पर मुग्ध हुए हैं। बालकाण्ड में सीता-स्वयंबर और विवाह के अवसरों पर सीता के अतिरिक्त जनकपुर की नारियाँ, अयोध्याकाण्ड में उनके वन-पथ में होने पर ग्रामीण बधुएँ, उत्तर काण्ड में राम के नख-शिख के सौन्दर्य पर अयोध्या के नर-नारी तथा अरण्यकाण्ड में राम के पंचवटी के आवास पर पशुपक्षी सभी ही उनको देखकर मुग्ध और आनन्दित हैं।

माधुर्य भाव के प्राधान्य होने पर भी गीतावली के इन उपर्युक्त स्थलों का शृंगार मर्यादापरक ही रहा है। श्री कृष्ण के सौन्दर्य पर मतवाली होकर गोपियाँ जिस प्रकार लोक-जीवन संकोच और पारिवारिक मर्यादा को तिलांजलि देकर अपना आचरण प्रदर्शित करती हैं, वैसा आचरण राम के उपर्युक्त स्थलों की नारियाँ नहीं करती हैं। राम स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम हैं उसी प्रकार ये नारियाँ भी मर्यादा में निमग्न हैं। फलस्वरूप तुलसी का उपर्युक्त स्थलों का शृंगार भी शिष्ट और वरिष्ट हैं—

पूजि पारबती भले भाय पाँय परिकै।
सजल, सुलोचन, सिथिल तनु पुलकित।।
आवै न वचन मन रह्यो प्रेम भरिकै।
अंतरजामिनि भवभामिनि स्वामिनी सों हौं।।
कही चाहौं बात, अंत तौ हौं लरिकै।
मूरति कृपाल मंजु माल दै बोलत भई।।
पूजो मन कामना भखतो वरु बरिकै।
राम काम तरु पाई, बेलि ज्यौं बौड़ी बनाइ।।
माँग-कोषि, तोषि-पोषि, फैलि-फूलि फरिकै।

रहौगी, कहौगी तव, सांची कही अंबा सिय ।।
गहे पाँय द्वै, उठाय, माथे हाथ धरिकै ।
मुदित असीस सुनि, सीस नाइ पुनि पुनि ।।
विदा भई देवी सौं जननि उर डरिकै ।
हरषी सहेली, भयो भावतो, गावती गीत,
गवनी भवन तुलसीस-हियो हरिकै ।।

उपर्युक्त पद में सीता की अपनी मन-भावनी इच्छा के कह सकने के पूर्व ही राम को वर-रूप में प्राप्त करने की शुभाशीष गौरी प्रदान कर देती है, इससे वह उनके दोनों चरणों को ग्रहण कर लेती हैं। इससे व्यक्त है कि वह राम के सौन्दर्य पर रीझ चुकी थीं। सीता के समान राम भी उनके अप्रितम सौन्दर्य पर मुग्ध थे, यह 'गवनी भवन तुलसीस हियो हरिकै' से व्यक्त है। सम्पूर्ण पद में स्थायीभाव 'रति' का प्रभाव विद्यमान है। राम और सीता एक दूसरे के लिए आलम्बन और आश्रय दोनों हैं।

राम के सौन्दर्य की मुग्धता के कितने ही पद गीतावली में विद्यमान हैं। जनकपुरी की एक सखी का कथन देखिए—

नेकु, सुमुख, चित लाइ चितौ, री,
राजकुँवर-मूरति रचिवे की रुचि सुविरंचि श्रम कियो है कितौ, री।
नख-सिख सुन्दरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जितौ, री,
साँवर रूप-सुधा भरिवे कहँ नयन-कमल कल-कलस रितौ, री।
मेरे जान इन्हे बोलिवे कारन चतुर जनक ठयो ठाट इतौ, री,
तुलसी प्रभु भजिहैं संभु-धनु, भूरिभाग सिय-मातु-पितौ, री ।।

उपर्युक्त में राम आलम्बन है। निम्न पद में राम और सीता दोनों आलम्बन हैं और सखियाँ आश्रय हैं—

दूलह राम सीय दुलही री
घन दामिनि बर बरन, हरन मन, सुन्दरता नख सिख निबही, री।
जीवन-जनम-लाहु-लोचन-फल, है इतनोइ लह्यौ आजु ;सही, री,
व्याह-विभूषन-बसन विभूषत, सखि अबलों लखि ठगि सो रही, री।
सुखमा सुरभि सिंगार-छीर दुहि, मयन अमियमय कियो है दही, री,
मथि माखन सिय राम सँवारे, सकल भुवन छवि मनहुँ मही, री।
तुलसीदास जोरी देखत सुख, सोभा अतुल न जाति कही, री ।।
रूप रासि बिरची विरंचि मनो सिला लवनि रति-काम लही, री ।।

राम सीता के सौन्दर्य की अनुभूति में सात्विक अनुभाव विद्यमान है। राम-सीता-लक्ष्मण के वन-गमन पर ग्रामीण वधुएँ उन्हें देखकर उनकी रूप माधुरी पर मुग्ध हैं—

मनोहरता के मानो ऐन।
स्यामल गौर किसोर पथिक दोउ, सुमुखि निरखि भरि नैन।।
बीच बधू बिधुबदनि विराजति, उपमा कहुँ कोऊ है न।
मानहु रति-ऋतुनाथ सहित मुनि-वेष बनाए है मैन।।
किधौं सिंगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग-चित-वित लैन।
अद्भुत त्रयी किधौं पठई है विधि मग लोगन्हि सुख दैन।।
सुनि सुचि सरल सनेह सुहावने ग्राम बन्धुन्ह के बैन।
तुलसी प्रभु तरु तर बिलँवे, किए प्रेम कनौड़े कैन।।

तुलसी ने अपने आराध्य के प्रभुत्व को अन्तिम पंक्ति में वर्णित किया है, वह वस्तुतः अपने भक्ति-भावना के कारण विवश हो उठे हैं; किन्तु मूल में ग्रामीण वधुएं ही उन पर मोहित हैं जिसके प्रभाव से रूपक, उत्प्रेक्षा और सन्देह अलंकारों के आश्रय से उनके रूप का गान करने में वे प्रवृत्त हैं।

उत्तरकाण्ड में भी संयोग शृंगार के इसी प्रकार के अपूर्व स्थल हैं जिनमें राम के व्यक्तित्व का सौंदर्य, शक्ति और शील के गुणों से युक्त विशेष मनमोहक हो उठा है—

आजु रघुवीर-छवि जात नहिं कछु कही।
सुभग सिंहासनासीन सीताखन, भुवन अभिराम बहु काम सोभा सही।

× × ×

देखौ, राघव-वदन विराजत चारू।
जान न बरनि, बिलोकत ही सुख, मुख किधौं छवि वर नारि सिंगारू।।

इन सब पदों में राम के नख-शिख-सौंदर्य का सम्यक् उल्लेख हो उठा है। उपर्युक्त स्थलों में हमने देखा है कि राम का रूप या उनके साथ लक्ष्मण और सीता का लावण्य मानव जाति को ही मुग्ध करने वाला रहा है; किन्तु राम चराचर के स्वामी लोक-रक्षक और लोक-रंजक हैं। उनके प्रति पशु-पक्षियों में भी 'रति' भाव रहा है। राम के वन-गमन में मोर, कोकिल, चकोर तथा पशु-पक्षी भी उन पर मोहित हैं। उपर्युक्त के समान इस पद में भी राम ही आलम्बन और पशु-पक्षी आश्रय हैं। पक्षियों का उनके सौंदर्य को देखकर बोल उठना ही अनुभाव है—

देखो राम-पथिक नाचत मुदित मोर।
मानत मनहु सतड़ित ललित घन, धनु सुरधनु, गरजनि टंकोर।।
कँपै कलाप बर बरहि फिरावत, गावत कल कोकिल किसोर।
जहँ जहँ प्रभु विचरत तहँ तहँ सुख, दण्डकवन कौतुक न थोर।।

उपर्युक्त सभी स्थलों में राम के दर्शन-मात्र से ही संयोग शृंगार की व्यवस्था है। आलम्बन और आश्रय दोनों के संयोग के अनन्तर यदि उद्दीपन विभाव से 'रति' उद्दीप्त हुई होती तो व्यभिचारी भाव भी उत्पन्न और तिरोहित होते। राम और

सीता के जीवन में ही ऐसे अवसर न थे जो पति-पत्नी का माधुर्य भाव अधिक गहरा हो पाता फिर अन्य स्थलों पर वैसे होने की कैसे आशा की जा सकती है ? इस स्थिति के मूल में तुलसी की मर्यादा की भावना ही काम कर रही है।

वियोग – वियोग शृंगार का पुष्ट स्वरूप सुन्दरकाण्ड में सीता के चरित्र में विद्यमान है। रावण के द्वारा हर लाए जाने पर जब अशोक-वन में वह रखी जाती हैं तब राम के वियोग में वह शोकाकुल हैं। राम के संकेत पर हनुमान के सीता के समीप पहुँचने पर वह आश्वस्त अवश्य हो उठती हैं ; किन्तु उनके वियोग के दुःख का बाँध भी टूट उठता है—

तात तोहूँ सो कहत होति हिय गलानि।
मन को प्रथम पनु समुझि अछत तनु, लखि नइ गति भइ मति मलानि ॥
पिय को बचन परिहर्‌यो जिय के भरोसे संग चली बन बड़ो लाभ जानि।
पीतम-बिरह तौ सनेह सरबस सुत औसर को चूकिबो सरिस न हानि ॥
आरज सुवन के तो दया दुबनहु पर, मोहि सोच मोते सब विधि नसानि।
आपनी भलाई भलो कियो नाथ सबही को मेरे ही दिन सब बिसरि बानि ॥

इस पद में सीता की 'रति' आलम्बन राम के प्रति है। 'मन को प्रथम पनु' (पति के बिना जीवित न रहूँगी) और राम के वचनों का उल्लंघन उद्दीपन विभाव है। अपने आचरण और नवीन परिस्थितियों में भी उसका जीवन अक्षुण्ण है। इसे सोचकर उनका वियोग अभिवृद्धि पर है। उसका विरह-जनित कष्ट कब विनष्ट होगा, इसकी करुण जिज्ञासा वह हनुमान के समक्ष प्रस्तुत करती हुई अपने मानस के रुदन का उल्लेख करती है—

कहु कपि ! कब रघुनाथ कृपा करि, हरिहैं निज वियोग-संभव दुख।
× × ×
बिरह-अनल स्वासा-समीर निज तनु जरिबे कहँ रही न कछू सक।
अति बल जल बरषत दोउ लोचन, दिन अस रैन रहत एकहि तक ॥
सुदृढ़ ज्ञान अवलम्बि सुनहु सुत ! राखति प्रान बिचारि दहन मत।
सगुन रूप, लीला-विलास-सुख सुमिरति करति रहति अन्तरगत ॥
सुनुं हनुमंत ! अनन्त-बन्धु करुना सुभाव सीतल कोमल अति।
तुलसीदास यहि त्रास जानि जिय बरु दुख सहौं प्रगट कहि न सकत ॥

सीता के वियोग में मर्यादा और भारतीय नारी की संकोच-भावना विद्यमान है। अपने सम्पूर्ण दुःखों को जो उन्होंने सहे हैं यदि वह कहे तो राम को व्यथा होगी वस्तुतः इस मर्म से अपने विरह-जनित दुःखों का उल्लेख वह छिपा ले गई हैं।

कबहूँ कपि ! राघव आवहिंगे ?
मेरे नयन चकोर प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगे।

इन शब्दों में कितनी करुण व्यथा समाहित है। मर्यादा पुरुषोत्तम की पत्नी होकर

निशाचर की वन्दिनी वनी, अपने दुर्भाग्य को सोचकर उनका मर्माहत रहना स्वाभाविक है। अपनी उस स्थिति में हनुमान के चलने पर राम को सन्देश कहने की इच्छा हुई ; किन्तु प्रियतम के मानस स्वभाव को जानकर मूक होकर रह गई—

कपि के चलत सिय को मनु गहबरि आयो।
पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो॥
कहन चह्यो सँदेस, नहिं कह्यो, पिय के जिय की जानि हृदय दुसह दुखरायो।
देखि दसा व्याकुल हरीस, ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो॥

हनुमान जब राम के समीप पहुँचे उन्होंने सीता की शोध की चर्चा के साथ उनकी विरह निमग्ना स्थिति का भी करुण विवरण प्रस्तुत कर दिया—

रघुकुल तिलक ! वियोग तिहारे।
मैं देखी जब जानकी, ननहु विरह-मूरति मन मारे॥

× × ×

अतिहि अधिक दरसन की आरति।
राम-वियोग असोक-विटप तर सीय निमेष कलप सम टारति॥

इन परिस्थितियों के साथ उन्होंने सीता की उस दशा का भी वर्णन किया है। जिसमें उनके नेत्र चित्र के समान थे, हाथ-पैर गढ़े हुए से जान पड़ते थे तथा कान मढ़े हुए थे जिससे पुकारने पर भी नहीं सुन पाती थीं। वह जिह्वा से राम का नाम रटती रहती है, हाथ अधिक देर तक मस्तक पर ही रखा रहता है तथा नेत्र सर्वदा अपने चरणों की ओर ही देखते रहते हैं। सीता का इससे भी अधिक करुण चित्र हनुमान ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है—

तुम्हरे बिरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु, राम करुनानिधि ! जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न॥
लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचनन कोन।
'हा' धुनि खगी लाज-पिंजरी मँह राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन॥

× × ×

तुलसिदास प्रभु दसा सीय की मुख करि कहत होति अति गौन।
दीजै दरस, दूरि कीजै दुख, हौ तुम्ह आरत-आरति-दौन॥

सीता की यह विरह-स्थिति बड़ी ही मर्यादित और शिष्ट है। नेत्र-आँसुओं से आप्लावित रहते हों और विरह-ज्वाला जिसे दग्ध किए दे रही हो वह 'हा' की ध्वनि भी प्रस्फुटित न कर सके। वस्तुतः उनकी कितनी करुण स्थिति रही होगी।

सीता की इन दशाओं को सुनकर राम भी कम मर्माहत नहीं हुए। शरीर प्रेम से पुलकित होकर शिथिल हो गया, नेत्रों में अश्रु छलछला आए, चाहा कि सीता की कुशल पूछ लें किन्तु वाणी ही न फूट सकी, विवशता थी। फलतः सेना को सजाकर चलने के लिए लक्ष्मण और सुग्रीव को संकेत कर दिया।

सीता के मर्यादित चरित्र का ऐसा अनुपम चित्र हिन्दी-काव्य में कहीं उपलब्ध नहीं है। उनके स्वरूप, आचरण और भावना में भारतीय ललना का आदर्श विद्यमान है। सूर की राधा प्रारम्भ में कृष्ण के साथ जितनी चपल और प्रगल्भ हैं उतनी ही गम्भीर वह कृष्ण के विरह में हो उठी हैं। निस्सन्देह उनके इस स्वरूप में भी भारतीय नारी का आदर्श समाहित है; किन्तु उनकी गम्भीरता की परणिति, कृष्ण का रुक्मणी से विवाह कर लेना और उनका द्वारिकाधीश हो जाना इन तथ्यों पर भी आधारित हो सकती है। सच तो यह है कि राधा का सम्पूर्ण चित्र सीता की मर्यादित भावनाओं के समक्ष स्थिर नहीं रह सकता। वह अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं।

अन्य स्थलों पर भी वियोग श्रृंगार कवि द्वारा मार्मिक भावनाओं के साथ चित्रित किया गया है। ग्रामीण वधुएँ, जिन्होंने राम-सीता-लक्ष्मण के सौन्दर्य को देखा था, उनके लौटने का ध्यान करती हैं—

पुनि न फिरे दोउ बीर बटाऊ।
स्यामल-गौर, सहज सुंदर, सखि ! बारक बहुरि बिलोकिबे काऊ।

× × ×

बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही,
गए जो पथिक गोरे-साँवरे सलोने।
सखि ! संग नारि सुकुमारि रही॥

उनके अप्रतिम सौन्दर्य को स्मरण करके एक वधू आकुल है। उसे अन्य कुछ अच्छा ही नहीं लगता—

सखि ! जबते सीता समेत देखे दोउ भाई।
तबते परै न कल, कछू न सोहाई॥
नख-सिख नीके, नीके निरखि निकाई।
तन सुधि गई, मन अनत न जाई॥

सीता के वियोग की अनुभूति से राम भी आकुल हुए हैं। इसका सफल चित्र किष्किंधाकाण्ड में विद्यमान है। जब सुग्रीव ने सीता के वस्त्र और आभूषण उनके समक्ष प्रस्तुत किए थे तो राम का शरीर पुलकित हो उठा, उनके नेत्रों में जल भर आया। सीता के शील-स्नेह और गुणों को कहने में संकोच है किन्तु हृदय उनके स्मरण से उमड़ उठा है। राम की मर्यादा यहाँ भी शत-प्रतिशत रूप से विद्यमान है—

भूषन बसन बिलोकत सिय के।
प्रेम बिबस मन, कम्प पुलक तनु, नीरज नयन नीर भरे पिय के॥
सकुचत कहत, सुमिरि उर उमगत, सील-सनेह-सगुन-गन तिय के।
स्वामि दसा लखि लखन सखा कपि, पिघले हैं आँच माँठ मानो घिय के॥

उपर्युक्त स्थलों पर दृष्टिपात करने से यह पूर्ण स्पष्ट है कि श्रृंगार के दोनों पक्षों में मर्यादा और संकोच समान भाव से उपस्थिति रहे हैं। मध्यकाल के सम्पूर्ण

काव्य में मर्यादा का ऐसा स्वरूप तुलसीदास के काव्यों में ही उपलब्ध है फिर भी यह सन्तोष है कि उनके चित्र पूर्ण सुस्पष्ट और आदर्शपूर्ण हैं।

हास्य—'विकृताकारवाग्वेषचेष्टादे कुहकाद्भवेत'—हास्य रस का प्रादुर्भाव विकृत आकार, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि पर निर्भर है। इसका स्थायीभाव हास होता है। हास्य के स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित छः भेद माने जाते हैं।

तुलसी के तीनों गीति-काव्यों में हास का प्रायः अभाव है। गीतावली में दो स्थल हैं जो हास्य रस की अनुभूति देते हैं। दोनों में राम के व्यक्तित्व के माहात्म्य को लेकर हास्स की व्यवस्था की गई है। राम के चरण-कमलों की रज से शापित अहिल्या ने शिला से नारी रूप प्राप्त कर लिया है। इसी तथ्य पर 'हास' स्थायीभाव की स्थापना है। राम की चरण-रज के प्रभाव से एक मुनि-पत्नी का कथन है—

परत पद-पंकज ऋषि-रवनी।
भई है प्रकृत अति दिव्य देह धरि मानो त्रिभुवन-छवि-छवनी॥
देखि बड़ो आचरण पुलकि तनु कहति मुदित मुनि-भवनी।
जो चलिहैं रघुनाथ पयादेहि, सिला न रहिहि अवनी॥

इसमें अन्तिम पंक्ति में 'हास' है जहाँ मुनि-पत्नी का यह भाव है कि यदि राम पैदल चलते हैं तो सम्पूर्ण शिलाएं 'नारी' का रूप धारण कर लेंगी। इसी स्थल का 'कवितावली' का हास्य और भी अधिक शिष्ट है।

राम के इसी प्रभाव को लेकर विश्वामित्र जी ने राजा जनक से परिहास किया है—

सिलाछोर छवत अहल्या भई दिव्य देह,
गुन पेखे पारस के पंकरुह पायके।
राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भए,
रावरेहु सतानन्द पूत भए माय के॥

—(गीतावली, बालकाण्ड ६७)

अहल्या के रमणी-जीवन से गौतम सपत्नीक हुए और पुरोहित शतानन्द अपनी माता के पुत्र हुए। दोनों स्थल ही शिष्ट हैं। अन्तिम स्थल में 'खसम' शब्द ग्रामीण है इससे कुछ अखरता अवश्य है। दोनों स्थलों में सभ्य समाज का हास्य है। प्रथम को 'स्मित' और द्वितीय को 'हसित' हास्य के अन्तर्गत रखना उचित होगा।

करुण—इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण रस की उत्पत्ति होती है। इसका स्थायीभाव शोक है और विनष्ट व्यक्ति आलम्बन विभाव में होता है। दाहकर्म उद्दीपन, प्रारब्ध की निन्दा, रोदन, विवर्णता, निश्वास आदि अनुभाव तथा निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, विषाद, जड़ता, उन्माद आदि व्यभिचारी होते हैं।

गीतावली के अयोध्याकाण्ड में दशरथ के निधन तथा लंकाकाण्ड में लक्ष्मण के मूर्छित होने पर राम का विलाप है। इन सभी स्थलों पर 'शोक' स्थायीभाव विद्यमान है।

मोको बिधुबदन बिलोकन दीजै।
राम लषन मेरी यहै भेंट, बलि, जाउ जहाँ मोहि मिलि लीजै॥
सुनि पितु-बचन चरन गहे रघुपति, भूप अंक भरि लीन्हें।
अजहुँ अवनि बिदरत दरार मिस सो अवसर सुधि कीन्हे॥
पुनि सिर नाइ गवन कियो प्रभु, मुरछित भूप न जाग्यो।
करम चोर नृप-पथिक मारि मानो राम-रतन लै भागो॥

यदि राजा का निधन न हुआ होता तो ये पंक्तियाँ विप्रलम्भ वात्सल्य के अन्तर्गत ही प्रतिष्ठित हुई होतीं क्योंकि उन्हें राम-दर्शन की उपलब्धि की आशा रहती। राम-वियोग से उनकी मृत्यु निश्चित है। इस कारण राम की वियोग-वेला के शाक के आवेग को वह सहन न कर सके और मूर्छित हो गए। राम राजा के ममत्व को जानते थे, फलतः अन्तिम प्रणाम कर वह अपने कर्तव्य-पथ पर प्रवृत्त हो गए।

सुमंत के लौट आने पर वह उनसे राम की कुशल भी न ज्ञात कर सके। विधाता ने संकोचवश उन्हें मूक ही रखा जिस मुख से बन का आदेश दिया उसी से कुशल पूछना पितृ-पक्ष में अत्याचार और विडम्बना ही सिद्ध करता। फलतः

'हा रघुपति कहि परयौ अवनि, जनु जल तें मीन बिलगायो।'

शोक-विह्वल राजा का पश्चाताप यहीं समाप्त नहीं हो जाता है। उन्हें विश्वास है कि निधनोपरान्त भी उनका मानसिक क्लेश विनष्ट न होगा। इसी कारण वह सुमन्त को मृत्यु रूप अमृत पिला देने के लिए संकेत करते हैं—

मुएहु न मिटैगो मेरो मानसिक पछिताउ।
नारिबस न बिचारि कीन्हो काज, सोचत राउ॥
सुनि सुमंत! कि आनि सुन्दर सुवन सहित जिआउ।
दास तुलसी नतरु मोको मरन अमिय पियाउ॥

लंकाकांड में मेघनाद की शक्ति के प्रभाव से लक्ष्मण को मूर्छित देखकर मर्यादा पुरुषोत्तम अपने धैर्य को न रोक सके। लक्ष्मण-सा भाई, जिसने भ्रातृ-भावना से आकर्षित हो परिवार का, पत्नी का तथा राज्य का सुख छोड़ा हो और आज राम को उस संकट में छोड़कर जो अपनी ऐहिक लीला समाप्त कर रहा हो, शोचनीय है ही। राम शोक के आवेग को न रोक सके, उनकी अश्रुधारा प्रवाहित हो उठी—

राम-लषन उर लाय लए हैं।
भरे नीर राजीव नयन, सब अँग परिताप तए हैं॥
कहत ससोक बिलोकि बंधु मुख बचन प्रीति गुथए हैं।
सेवक सखा भगति-भायप-गुन चाहत अब अथए हैं॥

लक्ष्मण की मूर्छा में उनके निधन को देखकर राम ने अपनी परिस्थिति का अनुमान लगा लिया था। उनके समक्ष कोई ऐसा न था जिस पर वह आश्वस्त और विश्वस्त होते। इसी से लक्ष्मण के लिए उनकी निम्न विचार-धाराएँ प्रस्फुटित हो उठी हैं—

मो पै तौ न कछू ह्वै आई।
ओर निबाहि भली विधि भायप चल्यो लषन सो भाई।।
पुर, पितु मातु, सकल सुख परिहरि जेहि बन बिपति बँटाई।
ता सँग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यो न प्रान पठाई।।

× × ×

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बन्धु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको।।
सुनु, सुग्रीव ! साँचेहू मो पर फेरयो बदन विधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यौ लखन सो भ्राता।।

इन सभी स्थलों पर 'शोक' का स्थायीभाव विद्यमान है। लक्ष्मण आलम्बन और राम आश्रय हैं। लक्ष्मण की भायप-भगति और विधाता का प्रतिकूल होना उद्दीपन विभाव है। नेत्रों में अश्रु भर आना अनुभाव है।

वीर

गीतावली—वीर चार प्रकार के होते हैं—दानवीर, धर्मवीर, दयावीर, युद्धवीर आदि।

उपर्युक्त सभी प्रकार के वीरों में युद्धवीर के स्वरूप का स्पष्ट प्रस्फुटन नहीं हो सका है। गीतावली में राम-रावण का युद्ध ही नहीं हुआ है। इससे राम के युद्धवीर का संकेत भर है—'रिपु रन जीति अनुज संग सोभित' इत्यादि। जटायु को रावण से अवश्य युद्ध करना पड़ा है। जब वह सीता को हरण कर लिए आ रहा है—

फिरत न बारहि बार प्रचारयो।
चपरि चोंच चंगुल हय हति रथ खंड-खंड करि डारयो।।
विरथ विकल कियो छीनि लीन्हि सिय, घन धायनि अकुलान्यो।
तब असि काढ़ि, काटि पर पाँवर लै प्रभु-प्रिया भरान्यो।

इसमें स्थायोभाव 'उत्साह' है और जटायु आलम्बन है। रस के अन्य तत्वों (उद्दीपन विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी विभाव) का अभाव है। हनुमान के रावण के साथ संकट में तथा लक्ष्मण की मूर्छा में संजीवनी बूटी लेने के लिए प्रस्थान करने के लिए कहने पर स्थायीभाव उत्साह का अच्छा प्रस्फुटन है।

दया वीर, दान वीर और धर्मवीर के रूप राम की लीलाओं में समाहित हैं।

राक्षसों की अधमता के कारण पीड़ित समाज और पतित धर्म को अभ्युत्थान के पथ पर लगा देना उनके जीवन का लक्ष्य था। वह शक्ति, शील और सौन्दर्य से युक्त कर्म पथ पर निरन्तर आरूढ़ रहे। अहिल्या के उद्धार, शबरी से भेंट तथा सुग्रीव और विभीषण को संकट-मुक्त और शरणागत की भावना द्वारा रक्षित करने के भाव में यदि दया है तो विभीषण को लंका का राज्य प्रदान करने में उनकी अप्रतिम दान वीरता भी थी।

श्री कृष्णगीतावली—इन्द्र के कोप करने पर कृष्ण ने व्रजवासियों की रक्षा के लिए गोवर्धन-धारण किया था। उनके इस कृत्य की पृष्ठभूमि में स्थायीभाव उत्साह विद्यमान है। अपने गोकुल में रहने तक उन्होंने व्रज की रक्षा के लिए जो भी कृत्य किए, उन सभी में उनके धर्मवीर और दयावीर का रूप छिपा हुआ है—

व्रज पर घन घमंड करि आए।
अति अपमान विचारि आपनो कोपि सुरेस पठाए।।
दमकति दुसह दसहुँ दिसि दामिनि, भयो तम गगन गँभीर।
गरजन घोर बारिधर धावत प्रेरित प्रबल समीर।।
सुनि हँसि उठयो नंद को नाहरु, लियो कर कुधर उठाइ।
तुलसिदास मघवा अपनी सो करि गयो गर्व गँवाइ।।

कृष्ण के इस स्वरूप में उत्साह का स्थायीभाव विद्यमान है। उसी के अनुसार वह तत्कालीन संकट को विनष्ट करने में समर्थ हो सके थे।

रौद्र रस—इस रस का स्थायीभाव क्रोध है और आलम्बन शत्रु, विपक्षी या धृष्ट व्यक्ति रहा करता है। उसके लिए अपराध ही उद्दीपन विभाव में होते हैं, आश्रय के नेत्रों का लाल-लाल होना, होंठ फड़कना अनुभाव; अमर्ष, मोह, मद, उग्रता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। गीतावली में निम्न स्थलों पर रौद्र रस विद्यमान है—

ऐसे तैं क्यों कटु वचन कह्यो, री ?
'राम जाहु कानन' कठोर तेरो कैसे धौं हृदय रह्यो, री।।

इसी प्रकार अंगद ने भी रावण को अपशब्द कहे हैं—

सुनु खल ! मैं तोहि बहुत बुझायो।
एतो मान सठ ! भयो मोहबस, जानतहू चाहत विष खायो।।

इन सभी स्थलों पर रौद्र रस की निष्पत्ति हुई है।

वात्सल्य रस—इस रस का स्थायीभाव 'अपत्य स्नेह', आलम्बन पुत्र, उद्दीपन विभाव पुत्र की चेष्टाएँ, अनुभाव आलिंगन, अंग स्पर्श, देखना, आनन्दाश्रु आना; व्यभिचारी अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व आदि होते हैं।

'श्री कृष्णगीतावली' के प्रारम्भिक १७ गीतों और गीतावली मे बालकांड के प्रथम ४६ गीतों में वात्सल्य रस आप्लावित है। श्री कृष्ण गीतावली के वात्सल्य

के पदों के मध्य में कृष्ण और गोपियों की परस्पर नोक-झोंक चलती रही है। केवल प्रथम और द्वितीय दो पद ऐसे हैं जो गोपियों के उपालम्भ से मुक्त रह सके हैं। शेष में उनके उपालम्भों के साथ यशोदा का वात्सल्य पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होता रहा है। इन सभी पदों में कृष्ण आलम्बन रहे हैं।

लै उछंग गोविंद मुख बार बार निरखै।
पुलकित तनु आनँदघन छन छन मन हरषै॥
सुन्दर मुख मोहि देखाउ इच्छा अति मोरे।
मम समान पुन्य पुंज बालक नहिं तोरे॥

दूसरे पद में रोटी को लेकर कृष्ण और यशोदा का वार्तालाप प्रस्तुत किया गया है जो पूर्ण अभिनयात्मक है—

"छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै तू।
दै री, मैया।" "ले कन्हैया" सो कब ? "अबहिं तात।"
"सिगरियै हौंहीं खैहों, बलदाऊ को न दहौं।"
"सो, क्यों ?" "भटू तेरो कहा" कहि इत उत जात॥

गोपियों के उपालम्भों की स्थिति में यशोदा का हृदय सदैव कृष्ण के प्रति ममत्वपूर्ण रहा है। गोपियों से वह स्पष्ट कहती हैं -

कबहुँ न जात पराये धामहि।
खेलत ही देखौं निज आँगन सदा सहित बलरामहि॥

गोपियों के उपालम्भ प्रयत्न करने पर भी जब कम नहीं हुए यशोदा ने एक मनोवैज्ञानिक युक्ति सोच निकाली। उन्हें विवाह का प्रलोभन दे दिया, कुछ प्रभाव तो पड़ा किन्तु वह यशोदा और गोपियों के परिहास के भी साधन बन गए—

छाँड़ो मेरे ललन ! ललित लरिकाई।
ऐहैं सुत ! देखुवार कालि तेरे,
बबै ब्याह की बात चलाई।
डरिहैं सासु ससुर चोरी सुनि,
हँसिहैं नई दुलहिन सुहाई॥

बुढ़ौती अवस्था में कृष्ण जैसे पुत्र को प्राप्त कर यशोदा का मानस वात्सल्य से छलकता ही रहा है। यों गोपियों के उपालम्भ पर उनका उलूखल बन्धन भी हुआ, यशोदा ने उन्हें दण्डित भी किया; किन्तु क्या उन परिस्थितियों में उनका हृदय कृष्ण के लिये अकुलाया न होगा; अवश्य ही उन्हें क्लेश की अनुभूति हुई होगी; किन्तु वह वैसा करने के लिए विवश थी। वहाँ उनकी कठोरता में भी वात्सल्य की कोमलता छिपी है।

गीतावली में अपने अन्य काव्यों की अपेक्षा तुलसी ने राम के बाल-जीवन के चित्रण को प्रमुखता दी है। सूर द्वारा चित्रित अभिनयात्मक कृष्ण का बाल-चरित

और उसमें समाहित वात्सल्य भाव अवश्य ही प्रचार और प्रसार पा चुका होगा; किन्तु तुलसी उससे प्रभावित नहीं हुए हैं। इसके कारण हैं—राम का मर्यादा पुरुषोत्तम का स्वरूप और तुलसी की दास्य भक्ति आदि; किन्तु उस वर्णनात्मक गम्भीरता में भी राम तथा अन्य भाइयों के प्रति वात्सल्य का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है।

पौढ़िये लालन, पालने हौं झुलावौं।
कर, पद, मुख, चख कमल लसत लखि लोचन भँवर भुलावौं॥
बाल विनोद मोद मंजुलमनि किलकनि खानि खुलावौं।
तेइ अनुराग लग गुहिबे कहँ मति मृगनयनि बुलावौं॥
तुलसी भनित भली भामिनि उर सो पहिराइ फुलावौं।
चारु चरित रघुबर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चितु लावौं॥

स्थायीभाव पुत्र-प्रेम है, राम आलम्बन है। उनके कर, पद, मुख और चख का सौन्दर्य उद्दीपन विभाव है और शेष सम्पूर्ण पद अनुभावों को प्रस्फुटित करता है।

सोइये लाल लाडिले रघुराई।
मगन मोद लिये गोद सुमित्रा बार-बार बलि जाई॥

× × ×

ललन लोने लेरुआ, बलि मैया।
सुख सोइये नींद बेरिया भई, चारु-चरित चारयो भैया॥

इन पदों की भाव-धारा से स्पष्ट है कि चारों भाई तीन माताओं को समान प्रिय और लड़ैते थे। इससे सभी का माताओं से वात्सल्य प्राप्त करते रहना स्वाभाविक था। सभी पुत्रों को आँगन में खेलते देखकर माताएँ प्रसन्न हो उठती थीं।

छँगन मँगन अँगना खेलत चारु चारयो भाई।
सानुज भरत लाल लषन राम लोने लोने,
लरिका लखि मुदित मातु समुदाई॥

इस प्रकार गीतावली के इन पदों में वात्सल्य रस का पूर्ण परिपाक हो उठा है।

भक्ति रस—तुलसी भक्त प्रथम हैं। उनके व्यक्तित्व के अन्य तथ्य या गुण भक्ति के अनन्तर ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकेंगे। रत्नावली की प्रेरणा से उन्होंने राम से अपना सम्बन्ध सर्वप्रथम जोड़ा है अनन्तर वियोगी या सन्यासी का जीवन स्वयं ही परिचालित हो उठा है। इस तथ्य के आधार पर ही 'सियाराममय सब जग जानी' वह देखने लगे थे और उनकी चेतना राम के सत् स्वरूप को लोक-जीवन में व्यापक देखकर आनन्द की अनुभूति कर उठी थी। इस तथ्य का प्रमाण अन्य काव्यों के अतिरिक्त उनके गीति-काव्यों में भी उपलब्ध है।

कृष्ण के चरित से तुलसी ने माधुर्य भक्ति और राम के चरित से मर्यादापरक दास्य भक्ति का पोषण किया है; किन्तु दोनों अवतारों के प्रति उनकी पूर्ण

श्रद्धा, निष्ठा और पूज्य भावना रही है।

तुलसी के दोनों आराध्यों ने नारायण होकर भी नर के रूप में मथुरा और अयोध्या में जन्म लिया था। वे दोनों लोक-रंजन और लोक-रक्षण के लिए विविध प्रकार की चारित्रिक लीलाएँ कर रहे हैं। इस तथ्य को उन्होंने कहीं भी विस्मृत नहीं कर दिया है। फलतः उनके चरित-गान में उन्होंने सदैव अपनी भक्ति-परक पूज्य-भावना उनको अर्पित की है। श्री कृष्णगीतावली और गीतावली के पदों के अन्त में प्रायः अपनी इस भक्त-शैली का वह निर्वाह करते चले हैं। विनयपत्रिका में तो इस भावना का स्रोत उसके प्रत्येक पद में प्रवाहित हो उठा है, जो अपनी मधुर सरसता और विनीत-भावना से सभी को आकर्षित कर लेता है। अब उनके भक्ति-तत्व का उनके काव्यों में विचार कर लेना उचित है।

श्री कृष्णगीतावली—इस काव्य में यत्र-तत्र तो भक्त कवि की आस्था विद्यमान है ही; किन्तु अन्तिम दो पदों में कृष्ण के भक्त-मर्यादा-रक्षण का भाव भी तुलसी द्वारा पुष्ट किया गया है, जिनमें समाहित प्रेरणा से कृष्ण के अलौकिक रूप की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है।

द्रोपदी सोचती है कि भले ही वह जुए में हारी हुई हो; किन्तु शूरवीर पाँचों पतियों और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य आदि के समक्ष वह सुरक्षित ही रहेगी। उसका यह विश्वास और आशा निराशा में परिणत हो गई जब दुःशासन ने उसको नग्न करने के लिए क्रोध के साथ अपने दोनों हाथों से उसकी साड़ी पकड़ ली, उस समय अशरण शरण गोलोक-विहारी ने उसकी रक्षा की—

अपनेनि को अपनो बिलोकि बल,
सकल आस बिस्वास बिसारी।
हाथ उठाइ अनाथनाथ सों,
'पाहि पाहि प्रभु! पाहि पुकारी।
तुलसी परखि प्रतीति प्रीति गति,
आरतपाल कृपालु मुरारी।
बसन वेष राखी विसेषि लखि,
विरुदावलि मूरति नर नारी॥

भगवान के इस प्रकार के लोक-रक्षक रूप से ही भक्त आश्वस्त और विश्वस्त होता है। जन-मात्र इन लीलाओं में अपने संकटों और आपत्तियों के समाधानों की अनुभूति कर आस्थाशील हो जाता है। इसी से श्री कृष्णगीतावली के अन्तिम पद में तुलसी भी कृष्ण से भक्ति-पथ पर चलने का आशीष चाहते हैं।

जुग जुग जग साके केसव के,
समन कलेस कुसाज सुसाजी।
तुलसी को न होइ सुन कीरति,

कृष्न कृपालु भगति पथ-राजी ।।

इन दो तथा अन्य पदों में भी कृष्ण के प्रति रामानुजी भक्ति का प्रस्फुटन किया गया है ।

गीतावली—रामानुजी भक्ति का स्वरूप गीतावली में भी पूर्णरूप से विद्यमान है । यों स्थल-स्थल पर राम के शक्ति-शील-सौन्दर्य के स्वरूप मानव मात्र को प्रभावित किए है ; किंतु जटायु से भेंट, शबरी से भेंट तथा विभीषण शरणागति आदि स्थलों पर भक्ति का स्वरूप प्रतिपादित होता है । ये सभी अपनी भक्ति-भावना के कारण भक्तों के प्रतीक हैं ।

रावण के द्वारा क्षत-विक्षत किए हुए पक्षिराज जटायु जब मरणासन्न थे उन्हें सीता की सुधि राम को न दे सकने के कारण अतीव आकुलता थी ; किंतु सौभाग्य से उसी समय राम आ पहुँचे उन्होंने जटायु को गोद में लेकर उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट किया । राम ने उनसे शरीर रखने के लिए कहा ; किंतु उन्होंने भक्ति-भावना से भरकर इस प्रकार कहा—

तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं ।
जाको नाम मरत मुनि दुरलभ तुमहिं कहाँ पुनि पैहौं ।।

शबरी के जीवन में भी भक्ति-रस का अबाध प्रवाह बहता है । उसकी प्रतीक्षा, आतिथ्य और वाणी में राम के लिए अनन्य निष्ठा विद्यमान है । राम भी भाव के भूखे हैं । फलतः वह उसके आतिथ्य का सुख उपलब्ध करने पहुँच ही जाते हैं । राम के आगमन से पूर्व की उसकी भाव-स्थिति बड़ी मार्मिक है—

प्राननाथ पाहुने ऐहैं राम-लषन मेरे आजु ।
जानत जान-जिय की मृदु चित राम गरीब निवाजु ।।
मृदु चित गरीब निवाज आजु विराजिहैं गृह आइकै ।
ब्रह्मादि संकर-गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइकै ।।
लहि नाथ हौं रघुनाथ-बानो पतित पावन पाइकै ।
दुहु ओर लाहु धाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै ।।

भक्ति-रस में निमग्न भक्त के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति इस प्रकार की भाव-धारा व्यक्त करने में सार्थकता ही क्या समझेगा ? वह अपने लोक-परलोक के लिए एकमात्र आराध्य का ही आश्रय लेकर बैठ जाता है । आराध्य के प्रति उसकी तन्मयता एक-निष्ठा और प्रेम-तत्व उसे मुग्ध रखते हैं । वह सच्चे मनोराज्य में विचरण कर उठता है । विभीषण भी जीवन की कठिन परिस्थितियों में राम-शरण में पहुँचा है तथा उसे सम्यक् आश्वासन और संरक्षण मिला । इसी से राम-महात्म्य में वह गा उठा है—

नाहिन भजिबे जोग बियो ।
श्री रघुवीर समान आन को, पूरन कृपा हियो ।।

विनयपत्रिका—तुलसी के काव्यों में भक्ति-रस का जैसा उत्कर्ष विनयपत्रिका

में हुआ है वैसा अन्य किसी काव्य में नहीं। इस सम्बन्ध में वह हिंदी के शेष साहित्य में भी प्रथम श्रेणी प्राप्त करती है। राम के प्रति अनन्य अनुराग और उनकी कृपा-काँक्षा की कामना या याचना आदि से अन्त तक पदों में पिरोई हुई मिलेगी। तुलसी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रारम्भिक ७० पदों में देवी, देवताओं, तीर्थ-स्थानों, पवित्र नदियों (गंगा और यमुना) राम के पार्षदों, श्री विन्दुमाधव आदि की स्तुतियाँ और वन्दनाएँ की हैं। अनन्तर अन्तिम पद तक उन्होंने अपनी विनय-भावना राम के चरणों तक पहुँचाने की चेष्टा की है।

संसार के काम, क्रोध, मद, लोभ तथा विविध प्रकार के लौकिक विकार, जो जीव-मात्र को पतित और भ्रमित कर देते हैं, ऐसे भव-रोग हैं जिन पर विजय प्राप्त कर लेना बड़ा कठिन है। प्राणी धर्म, कर्म तथा अन्य लोकाचार करता है; किंतु उनमें आत्मानन्द के अभाव के कारण उसका कुछ हित नहीं हो पाता। इस कारण जीवन-पर्यन्त वह भटकता है और अपने निष्कृति के पथ पर नहीं लग पाता है।

जिव जब तें हरितें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो।।
मायावस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो।।

जीवन के इस कटु सत्य को समझकर ही तुलसीदास ने राम के प्रति अनन्य अनुराग की ओर संकेत किया है—

संजम, जप, तप, नेम, धरम, ब्रत बहु भेषज समुदाई।।
तुलसिदास भव-रोग राम पद-प्रेम-हीन नहिं जाई।।

भव-रोग के विनाश के उपचार स्वरूप ही 'राम-पद-प्रेम' विनयपत्रिका की भक्ति का स्थायीभाव है, जो काव्य के अन्तिम पद तक प्रवाहित रहा है।

बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।'
मुदित माथ नावत, बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ हाथ सही है।

तुलसी यही तो चाहते थे। यहीं पर आकर उनकी विनय-भावना विश्राम ले उठी है। तुलसी ने शक्ति-शील-सौंदर्य से युक्त राम को अपना आराध्य माना है। जिनकी लीलाएँ संसार के कल्याण के लिए ही हुई हैं तथा जिन्होंने नर-रूप में अवतार लेकर लोक धर्म, लोक रंजन, लोक रक्षण का महत्तम आदर्श मानवमात्र के समक्ष प्रस्तुत किया—

सोभा-सील-ग्यान-गुन-मंदिर, सुन्दर परम उदारहि।
रंजन संत अखिल अघ-गंजन, भंजन विषय बिकारहि।।

ऐसे विशिष्ट राम और उनके दया-दाक्षिण्य ही इस काव्य के आलम्बन हैं। तुलसी ने अपने आराध्य के महात्म्य और गौरव-गरिमा को विविध प्रकार से कहने की चेष्टा की है। राम-गुण-भाव के साथ ही वह अपने लघुत्व और पतित-भाव का निरन्तर उल्लेख करते गए हैं। इस प्रकार भक्त-भगवान की भावना का सापेक्ष्य स्वरूप समूर्त हो उठा है, जिसमें भक्ति के सम्पूर्ण भाव स्वभावतः सगुम्फित हो उठे हैं।

राम सो बड़ो है कौन कौन मोसो छोटो ।
राम सो खरो है कौन कौन मोसो खोटो ॥

× × ×

कह्यो न परत, बिनु कहे न रह्यो परत,
बड़ो सुख कहत बड़े सों, बलि, दीनता ।
प्रभु की बड़ाई बड़ी, आपनी छोटाई छोटी,
प्रभु की पुनीतता आपनी पाप-पीनता ॥

राम के समक्ष प्रस्तुत किये हुए इन आत्म-निवेदनों और सम्बोधनों में साहित्य के सभी संचारीभाव स्वतः ही प्रतिष्ठित हो उठे हैं ।

सकुचत हौं अति राम कृपानिधि ! क्यों करि विनय सुनावौं ।
सकल धरम विपरीत करत, केहि भाँति नाथ मन भावौं ॥

इस पद में व्रीड़ा (लज्जा) और निम्न पद में 'ग्लानि' संचारीभाव हैं—

ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परिहरि राम-भगति-सुर सरिता आस करत ओस कन की ॥

विविध स्तुतियों में तुलसी ने अपनी रति और भक्ति को अक्षुण्ण रखने की प्रेरणा प्राप्त की है । सम्पूर्ण देव, राम-सभा के पार्षद, तीर्थ-स्थान आदि राम-पद-प्रेम को उद्दीप्त करने के कारण उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत समाहित होंगे । भक्ति-भावना में निमग्न होने की स्थिति में रोमांच (हर्ष और भय) अनुभाव की अनुभूति होती है ।

तुलसी ने अपने आराध्य के स्वरूप को लोक-जीवन में व्याप्त देखा है । जीवनोपयोगी आदर्शों से युक्त होने के कारण उनकी लीलाओं ने उन्हें मुग्ध कर लिया है । इससे वह उनमें आश्वस्त हैं ।

इस प्रकार राम का स्वरूप और व्यक्तित्व स्वयं ही रंजन का साधन बन गया है । इसी एकमात्र भावना के कारण वह राम के चरणों में केवल अपना अनुराग चाहते हैं अन्य किसी प्रकार का स्वार्थं नहीं—

चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु रिधि-सिधि, विपुल बड़ाई ।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ॥

उपर्युक्त भावना में भक्ति का उत्तम आदर्श भरा हुआ है जिसकी तुलसी अभिलाषा कर अपने को कृतार्थ करना चाहते हैं ।

विनयपत्रिका में भक्ति-तत्वों की अपूर्व निधि भरी हुई है । भक्त उनसे अपने आदर्शों की प्राप्ति कर अलौकिक ब्रह्मानन्द की अनुभूति कर सकता है । वह स्वतः भक्ति का आदर्श है और तुलसी उसके कारण भक्त के आदर्श हो उठे हैं ।

: ७ :

तुलसी की गीत-शैली और भाषा

विषय-प्रवेश

तुलसी ने अपने आराध्य राम के शक्ति-शील-सौंदर्य आदि तत्त्वों को व्यापक बनाने के लिये दोहा, चौपाई, सवैया, घनाक्षरी, बरवै पद आदि परम्परागत काव्य-शैलियों को अपने काव्यों के लिए चुना था, जिनमें रामचरित-गान और भक्ति-तत्त्व प्रतिपादन ही उनका प्रमुख लक्ष्य रहा है। इनके साथ ही जीवन की समग्र परि-स्थितियों को भी उन्होंने समेट लिया है, जिससे वे स्वयमेव भारतीय संस्कृति और सामाजिक जीवन के पोषक सिद्ध हुए हैं। इसी से इतना समय व्यतीत हो जाने पर आज भी वे हिन्दू-समाज के प्रतिनिधि काव्य हैं। इसका कारण उपर्युक्त के अतिरिक्त उनकी शैलीगत विशेषताएँ हैं। उन सबका परिचय विषयान्तर है, फलतः इस अध्याय में आलोच्य विषय के अनुसार पद-शैली और भाषा को ही प्रतिपाद्य बना लिया गया है।

द्वितीय अध्याय में संगीत की विधा, प्रगति, साहित्यिक और सामाजिक जीवन पर पड़े उसके प्रभाव के उल्लेख से यह स्पष्ट हो चुका है कि मुसलमानों के आगमन और मिश्रण तथा राजकीय शक्ति के उनके हाथ में होने से भारतीय ललित कलाओं पर काफी प्रभाव पड़ा। संगीत कला भी उस प्रभाव से अछूती न रह सकी। देशी-विदेशी रागों और परम्परागत रागों में विविध स्वरों के मिश्रण से नवीन रागों को जीवन मिला। अमीर खुसरा के प्रयास से भारतीय राग 'हिंडोल' और फारसी राग 'मोकम' मिलकर 'यमन' और 'सारंग', 'सिन्धु' तथा 'मोकम' के क्रिया से राग उशाक प्रयोग में आ उठे। रागों के अतिरिक्त स्वरों के मिश्रण ने भी रागों को नया स्वरूप दिया, परम्परागत राग मल्लार में 'ग' और 'नि' के नवीन प्रयोग मियाँ तानसेन द्वारा किए गए और वह राग 'मियाँ की मल्लार' की संज्ञा लेकर प्रसिद्ध हो गया।[1]

संगीत के विशुद्ध और प्राक्तन तत्त्वों के आस्थाशील सहृदय कलाकारों को रागों के ये नवीन संस्करण प्रिय नहीं लगे। उन्होंने उसके शास्त्रीय स्वरूप को सुर-क्षित रखने का दृढ़ संकल्प कर लिया। फलतः उनके प्रश्रय में उत्तरी भारत की हलचल से दूर वह दक्षिण में कला-प्रेमियों के कण्ठों में अपने को सुरक्षित रखने में समर्थ हो

---

1. H. A. Popley—'The Music of India'—Raga—The Basis of Melody, Page 40

सका। उत्तरी भारत का संगीत दक्षिणी भारत के संगीत से विषम हो उठा, जिससे भारतीय संगीत के दो विभाजन हो गये। वे 'कर्नाटिकी' और 'हिन्दुस्थानी' नामों से प्रसिद्ध हुए, जो भारतीय संगीत में आज भी प्रचलित हैं।

भारतीय संगीत के इतिहास में इन नवोन्मेषों के होने पर भी यह निर्विवाद है कि मुसलमानों के आगमन से पूर्व जिस प्रकार भारतीय संस्कृति में समन्वयता और एक सूत्रता थी उसी प्रकार समग्र संगीत में भी व्यापक एकता और एक स्वरूपता थी। इसका एकमात्र कारण केवल यही था कि वह अपने जीवन और स्वरूप के लिये एक ही शास्त्रीय ग्रन्थों से अनुप्राणित और अभिप्रेरित था।[1] परिस्थिति विशेष से उसके दो विभेद अवश्य हो गये; किन्तु उनके तत्त्वों में आज भी अधिकाधिक साम्य है, जो उनके ऐक्य को प्रमाणित करता है।

शार्ङ्गदेव विरचित 'संगीत रत्नाकर' प्राचीन भारतीय संगीत पद्धति का सर्व-मान्य ग्रन्थ है। उसमें मार्ग रागों के ग्राम राग, शुद्ध राग और उपराग तीन भेद किये गए हैं। उसमें तीस ग्राम रागों के लिए शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, वेसरा और साधारणी पाँच गीत-शैलियाँ[2] विवेचित की गई हैं।

---

१. It should be borne in mind that all these musical systems are but v riations in the application of one common musical theory. They ali pertain to the model system of music expounded in the ancient treatises and their differences are not structural but merely differences in style or classification.

—Alain Danielou—Northern Indian Music, Vol.I, Theory, Page 33

२. पञ्चधा ग्रामरागाः स्युः पञ्चगीतिसमाश्रयात्।
गीतयः पञ्च शुद्धा च भिन्ना गौडी च वेसरा॥
साधारणीति शुद्धा स्यादवक्रैर्ललितैः स्वरैः।
भिन्ना वक्रैः स्वरैः सूक्ष्मैर्मधुरैर्गमकैर्युता॥
गाढैस्त्रिस्थानगमकैरोहाटीललितैः स्वरैः।
अखण्डितस्थितिः स्थानत्रये गौडी मता सताम्॥
ओहाटी कम्पितैर्मन्द्रैर्मृदुद्रुततरैः स्वरैः।
हकारौकारयोगेण हृन्न्यस्ते चिबुके भवेत्॥
वेगवद्भिः स्वरैर्वर्णचतुष्केऽप्यतिरक्तितः।
वेगस्वरा रागगीतिर्वेसरा चोच्यतै बुधैः॥
चतुर्गीतिगतं लक्ष्य श्रिता साधारणी मता।
शुद्धाऽऽदिगीतियोगेन रागाः शुद्धादयो मताः॥—(संगीत रत्नाकर २-२-७)

इन गीतियों के अन्तर्गत विविध रागों का स्वरूप निरूपित किया गया है, जो कर्नाटिकी पद्धति में आज भी पूर्ण रूप से मान्य हैं। यह सत्य है कि हिन्दुस्थानी पद्धति में रागों की गीतियों के ये नाम नहीं हैं; किन्तु उनका स्वरूप वहाँ भी पूर्ण रूप से मान्य है। वहाँ की 'शुद्धागीति' को हिन्दुस्थानी पद्धति में 'ध्रुपद', 'भिन्नागीति' को 'धमार', 'गौड़ी गीति' को 'ठुमरी', 'वेसरागीति' को 'टप्पा' और 'साधारणी गीति को 'ख्याल' कह सकते हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त एक पद्धति के राग द्वितीय पद्धति में विद्यमान हैं—उदाहरणस्वरूप—कर्नाटिकी 'मायामालवगौड़' को हिन्दुस्थानी में 'भैरव' 'हनुमत्तोड़ी', को 'भैरवी', 'चक्रवाह' को 'आनन्द भैरव', 'नट भैरवी' को 'सिन्धु भैरवी' 'खरहरप्रिया' को 'काफी' 'हरिकम्बोजी' को 'खमाज', 'शङ्कराभरण' को 'विलावल' 'शुभपन्तुवरालो' को 'टोडी', 'गमनप्रिया' को 'मारवा', मेचकल्याणी' को 'कल्याण' कह सकते हैं। दोनों पद्धतियों के उपर्युक्त राग स्वर और गान-काल की एक ही व्यवस्था रखते हैं। इस प्रकार यह साम्य दोनों पद्धतियों के एक ही होने का संकेत है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त राग के अंश, ग्रह न्यास आदि लक्षण; वर्ण, अलंकार आदि सिद्धान्त तथा गेयता के लिए स्थायी, अन्तरा संचारी और आयोग आदि चार विभाग भी दोनों पद्धतियों में मान्य हैं। कर्नाटकी पद्धति में रागों के विषय में 'जनक और जन्य' परिपाटी के समान हिन्दुस्थानी पद्धति में 'राग-रागिनी-पुत्र' की परम्परा है। उनके अन्तर्गत ही सजातीय राग-रागनियों के विवेचन और गेयताओं की प्रतिष्ठा होती है। वहाँ प्रथम श्रेणी के राग-संख्या में ७२ हैं जिन्हें 'मेलकर्ता' कहते हैं। उत्तरी हिन्दुस्थानी संगीत में उन्हें मेल (घाट) कहते हैं, जो संख्या में दस हैं। इस प्रकार दोनों पद्धतियों में अधिकाधिक साम्य है।

उपर्युक्त साम्यों के रहने पर भी संगीत के विशुद्ध तत्त्वों को कर्नाटकी पद्धति के अनुसार हिन्दुस्थानी पद्धति सुरक्षित न रह सकी। दक्षिण के हिन्दू-राजाओं के प्रश्रय में भारतीय संगीत अपने मूलगत स्वरूप को बचाए रह सका जबकि उत्तरी भारत में मुसलमानों के सम्मिश्रण से उसका बच सकना कठिन हो गया। फलतः रागों में मिश्रण और उनके स्वराङ्कन (Notation) में भी परिवर्तन और परिवर्द्धन समाविष्ट हुए। इन नवोन्मेषों से हिन्दुस्थानी संगीत की पद्धति दक्षिणी पद्धति से विषम और विभक्त हो गई, जो स्वाभाविक था।

गो० तुलसीदास की सांस्कृतिक वाणी आज सम्पूर्ण देश में प्रतिष्ठित और ग्राह्य है, फिर भी उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रसार उत्तरी भारत में ही हुआ है, उनके काव्यों का सृजन-क्षेत्र और विविध काव्य-शैलियाँ उत्तरी भारत से ही सम्बन्धित हैं। इससे उनकी गीति-शैली का हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति से संबद्ध होना स्वाभाविक है। फलतः इस पद्धति की गीति-शैलियों का विवेचन आवश्यक है, अनन्तर उनमें उनकी गीति-शैली का निर्णय करने में सुविधा हो सकेगी।

हिन्दुस्थानी संगीत की गीति-शैलियाँ

उत्तरी भारत के संगीत में ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, टप्पा, तराना, दादरा, गजल, भजन, कीर्तन, युगलबन्ध, धारु या ध्रुवा, सरगम, सादरा, तिरवट, चतुरंग, रागमाला या रामसागर, स्वरार्थ गीत, चैत, कजरी, रसिया, मांड, जतसार, साजनगीत या रमेश्वर गीत आदि कितनी ही गीत-शैलियाँ प्रयुक्त होती रही हैं। यहाँ के गायक और भक्त-कवि इन्हीं के माध्यम से लोक-रंजन और जीवन-निर्माण के समुचित सन्देश प्रदान करते रहे हैं। उपर्युक्त में ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी और टप्पा ही प्रमुख हैं शेष गीत-शैलियाँ उन्हीं के अन्तर्गत समाहित हो जाती हैं।

तुलसी की गीति-शैली से परिचित होने के लिए इन विविध शैलियों के स्वरूप और गायकी के विषय-क्षेत्र से अवगत हो जाना आवश्यक है। फलतः उपर्युक्त को लेकर प्रत्येक के विवरण प्रस्तुत करना समीचीन है।

१. **ध्रुपद या ध्रुव पद**—यह देश की प्राचीनतम राग-शैली है जो अपने अस्तित्व और स्वरूप में विशुद्ध और स्थिर है। इस शैली के रागों में स्थायी अन्तरा संचारी और आयोग चार तुकें प्रयोग में आती रही हैं। अनन्तर ध्रुपद संक्षिप्त होने लगे और चार तुकों के स्थान पर उसमें 'स्थायी' और 'अन्तरा' केवल दो तुकें ही शेष रह गई हैं।

ध्रुपद के गाने में गम्भीर तालों की आवश्यकता है। यह प्रायः चौताले की लय में गाए जाते हैं और इसमें आड़ा, चौताला, लक्ष्मी, ब्रह्म, रुद्र आदि तालों का प्रयोग किया जाता है। इसमें मींड़, गमक, सूत आदि देने का ही अवकाश रहता है, तान, पल्टा, मुरकी आदि उपयोग में नहीं आते।

ध्रुपदों में गायक नौहार, गोवरहार, खण्डार और डागुर चार वाणियों का प्रयोग करते हैं—प्रथम में बोल अधिक रहते हैं और तान की उपेक्षा होती है, द्वितीय में बोल और तान सम रहते हैं तृतीय में बोल की अपेक्षा तान अधिक रहती है और चतुर्थ में बोल की अपेक्षा तान के आधिक्य के साथ मींड, सूत और गमक का सम्यक् उपयोग होता है।

ध्रुपदों में देवताओं की स्तुतियाँ, भक्ति भावनाएँ, राजाओं की प्रशस्तियाँ, तथा लौकिक श्रृंगार के वर्णन गेय रहते हैं। इस गीत-शैली का पुनरुद्धार ग्वालियर नरेश मानसिंह के दरबारी संगीतज्ञ बैजू बावरा तथा उसके सहयोगी गायकों द्वारा किया गया था अनन्तर स्वामी हरिदास और मियाँ तानसेन की वाणियों और गायकी से उसका पूर्ण उत्कर्ष हुआ।

२. **धमार**—धमार-शैली ध्रुपद-शैली के अन्तर्गत समाहित है। फलस्वरूप इसके गान-विधान उसी के समान हैं। इसमें स्थायी और अन्तरा दो तुकें रहती हैं, कहीं-कहीं चार तुकों का प्रयोग भी मिलता है; किन्तु इसमें ध्रुपद की अपेक्षा बोल तान और लय

सन्वन्धी कल्पना अधिक रहती है। धमार को संगीग में 'होली' भी कहते हैं। इसमें कृष्ण और गोपियों की लीलाओं का गान उपलब्ध होता है।

३. ख्याल— इस शैली के संगीत को जौनपुर के बादशाह हुसेनशाह शर्की (१५वीं शताब्दी, ने आश्रय दिया, फलतः यह सभ्य-समाज में ग्रहण किया जाने लगा। अनन्तर मुहम्मद शाह रङ्गीले (१७१९-४८ ई०) के समय में सदारङ्ग और अदारङ्ग दो बन्धुओं के प्रयास से इस शैली का पूर्ण प्रसार हुआ। वह संगीत में अपनी स्थायी प्रतिष्ठा ाप्त करने में सफल हुई।

ध्रुपद की गायकी में तान गमक आदि के अभाव के कारण गायक को स्वर-साधना में पूर्ण अभ्यस्त होना पड़ता है। ध्रुपद की तुलना में ख्याल सरल होता है, इसमें गमक तान, पलटा, मींड़, सूत आदि की ही व्यवस्था होती है स्वर की नहीं। फलतः यह गीति-शैली जनता को अधिक बोधगम्य हो जाती है। ख्याल-शैली के विषय शृंगार और प्रेम हैं। इसमें स्थायी और अन्तरा दो तुकें और एक ताल, तिताल और धीमा तिताल आदि तालों का उपयोग होता है।

४. ठुमरी—यह संगीत की वह गायकी है, जिसमें केवल प्रेम-तत्व ही रहता है। इसमें केवल मिश्रित ध्वनि के राग ही स्वीकृत होते हैं, विशुद्ध, गम्भीर और करुण राग नहीं। इसी से इस गीति-शैली में खमाज, पीलू, काफी आदि रागों को ही स्थान प्राप्त है, दरबारी, मल्हार, हिण्डोल, भैरव, टोड़ी, मारवा आदि को नहीं। इसमें १६ या १८ मात्राओं की तालों का प्रयोग होता है। फलतः दादरा, कहरवा, रेखता गजल आदि तालें, जो न्यून मात्रा की हैं इसके अन्तर्गत आती हैं।

इस शैली के रागों के गाने में गायक को अपने कण्ठ में सारल्य माधुर्य और कोमलता रखनी पड़ती है और राग की ध्वनि को आकर्षक और रंजन पूर्ण बनाने के लिए गान काल में स्वरों का प्रस्फुटन करना पड़ता है।

५. टप्पा—यह क्षुद्र प्रकृति की गीति-शैली है। इसमें स्थायी और अन्तरा केवल दो तुकें रहती हैं। काफी, झिंझोटी, पीलू, बरवा, मांड़, खमाज, भैरवी आदि इसके राग हैं। ध्रुपद और ख्याल के समान इसमें आलाप की आवश्यकता नहीं होती है किन्तु खटका, गितकड़ी, जमजमा, सांस और अंश मुरकिया से ही गायकी पूर्ण कर ली जाती है।

इस शैली के गान को सर्वप्रथम लखनऊ में मियाँ शोरी ने प्रारम्भ किया था। अनन्तर उनके बनारस पहुँचने पर इसका वहाँ भी प्रचार हो गया। इस शैली के रागों का विषय सदैव शृंगार ही रहता है।

इन सभी शैलियों से परिचित हो लेने पर अब गो० तुलसीदास की शैली के निरूपण में कोई कठिनाई नहीं है।

गो० तुलसीदास की गीति-शैली

१. सैद्धान्तिक-तत्त्व—गीति-शैलियों के उपर्युक्त विवेचन से यह निरूपित है

कि अवतारों देवताओं आदि की अर्चना वन्दना और भक्ति-भावना के लिए ध्रुपद और धमार दो शैलियाँ ही उपर्युक्त हैं अन्य शैलियाँ केवल शृंगार और लोक-रंजन के तत्त्व ही प्रस्तुत करती रही हैं। इस प्रकार इन शैलियों के सरलता से दो भेद हो जाते हैं—प्रथम को आश्रय ब्रह्म के सगुण और निर्गुण संगीतज्ञ भक्त कवियों ने दिया और द्वितीय को आश्रय उन संगीतज्ञों ने दिया जिनका गायकी राजा और नवाबों के आश्रय में पल्लवित हुई थी। प्रथम का संरक्षण ईश्वर के साधक स्वान्तः सुखाय करते थे दूसरे का परान्तः सुखाय होता था ; एक के इकतारा, वीणा और पखावज जीवन में ब्रह्म-निष्ठा के कारण ध्वनित थे दूसरे के राजाओं और नवावों की इच्छाओं के ताल-स्वर पर बजते थे ; एक में अन्तश्चेतना की मस्ती समाहित हो उठी थी दूसरे में, परतंत्रता से उत्पन्न कृत्रिमता। इस प्रकार संगीत दो विविध धाराओं में प्रवाहित हो रहा था और उनके कलाकार अपनी उपासना और साधना से उनको आभारी किए हुए थे।

तुलसीदास राम और कृष्ण के अनन्य भक्त एक निवृत्तिमार्गी सन्त थे। भक्ति-भावना और दार्शनिक सिद्धान्तों में भले ही अन्तर हो किन्तु वह भी गोरखनाथ और कबीर जैसे अद्वैतवादी निर्गुण तथा सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददास आदि अष्टछाप के भक्त कवियों जैसे सगुण सन्तों की ही कोटि में आते हैं। अपनी-अपनी श्रद्धा और निष्ठा के अनुसार अपने-अपने आराध्य ब्रह्म, कृष्ण और राम के प्रति अपनी अनन्यता का प्रतिपादन ही उनकी वाणियों का लक्ष्य था। यह प्रवृत्ति ध्रुपद और धमार गीति-शैलियों से ही मेल खाती है। इससे यह सिद्धान्ततः कहा जा सकता है कि तुलसी अन्य सन्तों के समान ध्रुपद गीति-शैली के ही आभारी थे। उनके गीतों में इसी शैली के विशुद्ध तत्त्व समाहित हैं यह सिद्ध है।

२. **भावात्मक-तत्त्व**—तुलसी के गीत काव्य की भावधारा के सम्बन्ध में इसी प्रबन्ध के ५ और ६ अध्यायों में परिचयात्मक और विवेचनात्मक रूप से विचार किया गया है। वहाँ हम देख चुके हैं कि उनका हृदय गीति-शैली के काव्यों के साथ न्याय करने में सफल हुआ है। यदि विनयपत्रिका में आत्माभिव्यंजन प्रमुख है तो श्री कृष्णगीतावली और गीतावली में घटनाओं के प्रस्फुटन के साथ उनके हृदय ने कथा के मार्मिक और भावुक स्थलों को पहिचाना है और तद्विषयक कोमल चित्रण प्रस्तुत किंए हैं। यह गीति-शैली की ही विशेषता है, जिसका उन्होंने भरपूर उययोग किया है। इस स्थल पर अधिक न कहकर उनके सम्बन्ध में इङ्गित रूप से ही कहा जा रहा है, जिससे उनके भावात्मक तत्त्व पर प्रकाश पड़ सके।

तुलसीदास के 'श्री कृष्णगीतावली' और 'गीतावली' दोनों कृष्ण और राम-चरित परक गीति-काव्य हैं। विष्णु के दोनों अवतारी चरित्रों के प्रति उनकी पूर्ण निष्ठा है, फलतः कथा-कथन के साथ वह किसी भी स्थल पर अपने प्रभु के प्रति अपनी आस्था, विश्वास और भक्ति का परित्याग नहीं कर सके हैं। तुलसी ने यदि राम के प्रति अपनी निष्ठा और आत्मसमर्पण का भाव व्यक्त किया है तो उनका वही

भाव कृष्ण के समक्ष भी अक्षुण्ण रहा है। उनकी आस्था का व्यापक रूप तो विनय-पत्रिका के स्तोत्रों में विद्यमान हैं ही, फिर भला उनकी भक्ति-भावना कृष्ण के प्रति क्यों कुण्ठित हो जाती—

१. इन्ह ही के आए तो बधाए ब्रव नित नए,
नादत बढ़त सब सब सुख जियो है।
नन्दलाल बाल जस सन्त सुर सरबस,
गाइ सो अमिय रस तुलसिहुँ पियो है॥ —(कृ० गी० १६)

२. खेलत खात परसपर उहकत,
छीनत कहत करत रोग दैया।
तुलसी बाल-केलि सुख निरखत,
बरषत सुमन सहित सुर सैया॥ —(वही—१६)

उपर्युक्त के अतिरिक्त श्री कृष्णगीतावली के अन्तिम दो पदों में भक्त-मर्यादा-संरक्षण में पूर्ण समर्थ कृष्ण का स्वरूप ही चित्रित है। यह तथ्य ही गीतावली में भी विद्यमान है—

जो रघुबीर-चरन-चितक, तिन्ह की गति प्रगट दिखाई।
अविरल अमल अनूप दृढ़ तुलसिदास तव पाई॥
—(गीतावली, बालकाण्ड—१)

उत्तरकाण्ड के अन्तिम पद में भी यही भाव-धारा विद्यमान है। इधर वशिष्ठ ने राम का राज्याभिषेक किया है उधर तुलसीदास राजा राम से भक्ति-दान माँगने के लिये अग्रसर हो उठे हैं—

वेद-पुरान विचारि लगन सुभ महाराज अभिषेक कियो।
तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगति-दान तब माँगि लियो॥

यों राम-चरित के अन्तर्गत कथा-प्रसंग में दशरथ, कौशल्या, विश्वामित्र, जटायु, शवरी, विभीषण आदि सभी में राम के प्रति भक्ति-निष्ठा और अनन्यता है; किन्तु तुलसी के भक्त हृदय के कारण काव्य के सभी ही स्थल श्रद्धा-समन्वित हो उठे हैं। इस प्रकार दोनों गीति-काव्यों में दोनों अवतारों की मधुर लीलाएँ प्रस्फुटित हुई है, जिनमें उनके प्रभु-रूप के साथ तुलसी के भक्त-हृदय का सुन्दर समिश्रण हो गया है।

प्रभु की लीलाओं का आदर्श उन्हें समाज को अवगत कराना था, इसी से उन्होंने राम और कृष्ण दोनों के चरित्रों की अधिकाधिक घटनाओं को अपने इन गीत-काव्यों में समाहित कर लिया है। गीति के कारण यह सत्य है कि उन्होंने उनके जीवन की सम्पूर्ण घटनाएँ अवश्य नहीं चुनी हैं। परुष और वीरत्व के स्थलों को उन्होंने छोड़ ही दिया है; किन्तु फिर भी कथा का अन्त और इति उनमें अवश्य ही मिलेगा, उनकी वह उपेक्षा भी नहीं कर सके हैं। इस तथ्य के कारण भक्ति-भाव

के अतिरिक्त उनके वात्सल्य, शृंगार आदि की भावनाएँ सम्यक् रूप से पिरोई हुई मिलेंगी।

तुलसी की विनयपत्रिका में राम-विषयक उनकी भक्ति-भावना उत्कर्ष पर पहुँच गई है। आराध्य के प्रति उनकी अनन्यता, भक्ति और आत्म-निवेदन के एक नहीं सैकड़ों चित्र उसमें विद्यमान हैं, जिनमें उनके अन्तस्तल की आस्था और विश्वास की भावनाएँ झाँकती हुई मिलेंगी। दीनता, मानमर्षता, भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा-विनय की सातों भूमिकाएँ उसमें सन्निविष्ट हैं। फलतः भक्ति-भावना का सुदृढ़ स्वरूप उसमें अभिव्यक्त हुआ है।

१. बिस्वास एक राम-नाम को।
मानत नहिं परतीति अनत ऐसोइ सुभाव मन बाम को॥
पढ़िनी परयो न छठी छ मत रिगु जजुर-अथर्वन साम को।
व्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को॥

× × ×

को जानै को जैहै जमपुर को सुरपुर पर-धाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग-जीवन राम गुलाम को॥

२. भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥
करम, उपासन, ग्यान, वेदमत सो सब भाँति खरो।
मोहि तो 'सावन' के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो॥
प्रीति-प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय-बाप होउ आखर हौं सिसु अरनि अरो॥
संकरि साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम नामहि ते तुलसिहि समुझि परयो॥

तुलसी में राम के प्रति तो अनन्य और अगाध निष्ठा थी ही; किन्तु सीता, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान आदि उनके पार्षदों को भी उन्होंने विनय द्वारा अपने पक्ष में साध लिया था। अनन्तर सब ओर से विश्वस्त होकर उन्होंने अपनी विनय-पत्रिका राम को समर्पित कर दी—

बिनयपत्रिका दीन की, बापु आपु ही बाँचो।
हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूँछिये पाँचो॥

राम भक्त की भावना की भला अवहेलना ही कैसे करते? समर्पण प्राप्त कर वह उनके अनुकूल हो उठे। उसी समय पार्षदों ने भी उनके 'राम के नाम सों परतीति-प्रीति' के सम्बन्ध में चर्चा कर दी। सभी से तुलसी की भक्ति-भावना की चर्चा सुन कर उन्होंने भी उनके कथन का अनुमोदन किया और उन्होंने भक्ति-भावना की प्रतीक 'विनयपत्रिका' पर सही कर दी—

'बिहँसि राम कह्यो ९त्य है, सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत, बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ हाथ सही है ।।

इस प्रकार अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा और भक्ति की उन्हीं से स्वीकृति प्राप्त कर तुलसी 'मुदित' हो उठे। तुलसी का यही तो उद्देश्य था, जिसमें वह पूर्ण रूप से खरे उतरे हैं।

सच तो यह है कि विनय-निवेदन में भक्त की जितनी विनम्रता और हीनता आवश्यक है उतनी ही आराध्य की गुरुता और प्रभुता भी। इस सम्बन्ध में तुलसी की भावनाएँ उत्कर्ष पर पहुँच रही हैं, जिससे हिन्दी-काव्य के अन्तर्गत विनयपत्रिका अद्वितीय सिद्ध होती है और साथ ही भक्ति के क्षेत्र में वह ऐसा आदर्श भी प्रस्तुत करती है जो आस्तिक के लिए चिरन्तन सत्य और आत्म-कल्याण का विश्वस्त साधन है।

तुलसी की वर्णनात्मक प्रवृत्ति के कारण उनके गीति-काव्यों की भावनाओं में कहीं-कहीं माधुर्य, प्रवाह और सौष्ठव में अभाव प्रतीत होता है। विनयपत्रिका के स्तोत्र परक और गीतावली में चरित्र-परक लम्बे-लम्बे गीतों में अपेक्षित लालित्य उपलब्ध नहीं होता—किन्तु इनके वे पद जो छोटे हैं अधिक सफल हैं और उनकी भावनाएँ अधिक मर्मस्पर्शी हैं। इन गीतों में सूर, मीरा आदि के गीतों के समान ही लालित्य और माधुर्य की अनुभूति होती है। उनके समग्र गीत सूर और मीरा के गीतों के समान मधुर नहीं हैं, यह सत्य है। सूर, मीरा आदि कृष्ण भक्ति के माधुर्य पक्ष के ही उपासक रहे हैं, इससे उनके गीतों की भावनाएँ माधुर्य तत्व का ही प्रस्फुटन करती हैं। मीरा कान्तासक्ति की उपासिका थी और सूर सख्यासक्ति के। मीरा के पदों में कथा-तत्व न होकर प्रेम का स्वछन्द स्वरूप ही प्रकट हुआ है, जो स्वभावतः पाठक या श्रोता को आकर्षित कर लेते हैं। सूर के पदों में कथा-तत्त्व है; किन्तु पुष्टि सम्प्रदाय के प्रतिपादित माधुर्य के प्रवाह के साथ वह स्वतः बहता चला जाता है। इनके विपरीत तुलसी की उपासना और भक्ति मर्यादावादी रही है, इससे कवि की दृष्टि चरित्र के प्रस्फुटन की ओर ही अधिक प्रवृत्त है क्योंकि यही वह आधार है जिसके बल पर उन्होंने चरित्र का आदर्श समाज के समक्ष रखने का प्रयत्न किया है। सूर के समान उनमें भावुकता थी; किन्तु उसका उन्होंने उपयोग नहीं किया। सच तो यह है कि उपासना के आदर्श के समक्ष उधर उनकी दृष्टि ही नहीं गई। इसी से श्री कृष्णगीतावली घटनाओं का मात्र संग्रह है। गीतावली में कुछ घटनाएँ कवि ने छोड़ी हैं; किन्तु कथा के सम्मोहन को वह नहीं छोड़ सका है। इसी से गीत-काव्यों में वर्णनात्मक परुषता कहीं-कहीं अखर उठती है।

भाषा—संगीत की सार्थकता रंजन करने में है। इससे उसकी सैद्धान्तिक, भावात्मक और भाषात्मक शैली में यदि विरोधी तत्त्व समाविष्ट हो उठें तो उसका विलोम परिणाम सामाजिक के समक्ष घटित हो। इससे सिद्धान्त के अनुकूल संगीत,

इसके अनुकूल भाव तथा संगीत और भाव के अनकूल भाषा का प्रयोग आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। काव्य की अन्य शैलियों की अपेक्षा गीत शैली अधिक कोमल और मधुर है, फलतः गीत की भाषा-शैली कर्णकटु शब्दों से विहीन मधुर होनी चाहिए।

तुलसी ने अपने गीत काव्यों में व्रजभाषा का प्रयोग किया है। यह भाषा अपनी माधुरी के लिए ख्यात हो चुकी थी और उस समय तक सूर तथा अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने पदावली में उसके प्रयोग का आदर्श भी प्रस्तुत कर दिया था, इससे व्रजभाषा का प्रयोग तुलसीदास को भी समीचीन ही जँचा; किन्तु तुलसी और उन लोगों की भाषा विषयक प्रयोग में एक अन्तर रहा जो उनके काव्यों में स्पष्ट रूपेण देखा जा सकता है।

कृष्ण-भक्त कवियों ने प्रायः अपने आराध्य की लीला-भूमि व्रज-प्रदेश में रहकर भक्ति और कृष्ण की लीला परक अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। फलस्वरूप वहाँ के जन-जीवन में प्रयुक्त और व्यावहारिक मधुर पदावली का ही उनमें उपयोग किया गया है। तुलसी प्रायः काशी, अयोध्या, चित्रकूट आदि में रहे हैं, इससे उन लोगों के समान व्रजभाषा के शब्दों के ग्रहण की उन्हें सुविधा नहीं ही रही। वस्तुतः किसी भी भाषा की ध्वनि (Tone) भी वहाँ के सहवास से ही आती है तुलसी उससे वंचित ही रह गए। इससे उनके समान कवि तुलसी लुभावनी-सुहावनो भाषा का प्रयोग न कर सके हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

तुलसी ने अपनी भक्ति-भावना और समन्वयवादी सामाजिक विचार-धारा के पोषण के लिए निगमागम तथा अन्य साहित्य का सम्यक् अध्ययन और मनन किया था। इससे उनकी दृष्टि, विचार और भाव सभी ही उच्च स्तर के रहे हैं और इस प्रवृत्ति को अक्षुण्ण रखने में उनकी मर्यादावादी उपासना ने भी उन्हें सहयोग दिया है। इन कारणों से उनकी व्रजभाषा में तत्सम शब्दों का वाहुल्य प्रविष्ट हो उठा है, जिसको हम श्री कृष्णगीतावली, गीतावली और विनयपत्रिका में स्पष्ट देख सकते हैं। विनयपत्रिका के प्रारम्भिक स्तोत्र खण्ड में भाषा का यह रूप सरलता से देखा जा सकता है। वहाँ अनुस्वारान्त सामासिक पदावली का प्रयोग संस्कृत काव्य के शब्द-विधान का स्मरण दिलाती है। उनमें पंक्तियाँ दुरूह अवश्य प्रतीत होती हैं; किन्तु वे वैसी हैं नहीं। तुलसी की भक्ति-भाव-धारा के साथ यदि हम अपने अन्तरतम को मिलाए चलें तो वस्तुतः वे पंक्तियाँ हमें अपनी रस-माधुरी से सिक्त कर देंगी और कठिन प्रतीत न होंगी। शब्दों के तत्सम रूपों का प्रयोग सर्वत्र एक समान नहीं है। विनयपत्रिका, गीतावली और कृष्णगीतावली में ऐसे कितने ही पद हैं जो अपनी स्वाभाविक शब्दावली से बलात् मुग्ध कर लेते हैं और सूर, मीरा आदि का स्मरण दिलाते हैं।

तुलसी की अपनी भावना सांस्कृतिक और विशुद्धतावादी रही है; किन्तु शैली के सम्बन्ध में उनका यह विचार अक्षुण्ण नहीं रह सका है। इससे उनका भाषा-शैली

में उर्दू, फारसी आदि शब्दों का मिश्रण हो उठा है।

श्री कृष्णगीतावली—बेकाम, पोल्लास, दगा, सूरति, वायनो, गरीब, निवाज, बारिक, सही, राजी आदि।

गीतावली—अबीर, अरगजा, वलाइ, चौगानः निहालु, तरकसी, जरकसी, सिरताज, साहेब, खसम, रूण, कसम, सीपर, गच, परदा, अकस हाल, पोच, पेच, खुनिस, दूलह, अँदेसो आदि।

विनयपत्रिका—खास खीन, अलायक, लायक, मुकाम, जहान, कबूलत, दरबार, कलाई, सरम, सहरु, जहरु मिसकीन, साहिब, खास, निहाल नीके, जेर, खलल, दादि, बैरक जोर उसीता, लवार, फहम आदि।

इन काव्यों में कहीं-कहीं मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग हुआ है, जिनसे भाषा-शैली स्वाभाविक प्रतीत होती है।

सकुच बेचि सी खाई, ढगौरी लाई, मूँडहि चढ़ी, अब नाकहि आई, भूमि पर बादर छीवो, ह्वै है कीच कोठिला धोएँ, होत हरे होने बिरवनि दल, लुनि है पै सोई जोई जेहि बई है, पूतरो बाँधिहै आदि।

सर्वत्र उन्होंने भावना के अनुकूल पदावली का प्रयोग किया है, जिससे उनके काव्यों में ललित और गठित भाषा-शैली उपलब्ध है। विनयपत्रिका भाषा और काव्य सौष्ठव में तथा गीतावली ललित और मधुर शब्दावली के कारण उनके साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखती हैं।

अलंकार

अलङ्कार काव्य की शोभा बढ़ाने वाला धर्म है।[1] यों काव्य में सौन्दर्य-अभिवृद्धि के लिए उसकी आवश्यकता है; किन्तु भाषा और छन्द के समान यह काव्य का अनिवार्य अङ्ग नहीं है। उसका प्रयोग वस्तुतः कवि के विकल्प पर निर्भर है कि वह आश्रय ले अथवा न ले। जब उसमें गूँथी जाने वाली भावनाएँ अथवा वस्तु स्वयं ही पूर्ण हैं तब उसमें अलङ्कार की अपेक्षा नहीं होती। इसके विपरीत जब उसमें किसी प्रकार का अभाव होता है तब उसके उत्कर्ष अथवा चमत्कार के लिए वह उनका प्रयोग कर उठता है।

अच्छे लक्षण, सुन्दर वर्ण और सरस वृत्तों से युक्त कविता के लिए आचार्य केशवदास अलङ्कार वैसे ही आवश्यक समझते हैं जैसे नारी के लिए आभूषण[2] किन्तु यह उन पर संस्कृत के अलंकारवादी आचार्य भामह और दण्डी के काव्यादर्शों का

---

१. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कार प्रचक्षते—दण्डी—काव्यादर्श

२. यद्यपि जाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥ कविप्रिया १-५

प्रभाव है। वस्तुतः उन पर रीति पद्धति का प्रभाव पड़ने लगा था जो उनके आचार्य और दरबारी कवि होने के कारण स्वाभाविक भी था। इसी से उनकी यह विचार-धारा गोस्वामी तुलसीदास तथा अन्य भक्त कवियों की प्रवृत्ति से ठीक विपरीत है।

भक्त कवियों को केशवदास तथा अन्य रीतिकालीन कवियों के समान किसी राजा-महाराजा को रिझाना न था। फलतः काव्य में चमत्कार और चकाचौंध समाहित करना उनके लिए अनावश्यक था। उनका मानस अपने प्यारे की रूप-माधुरी, भक्ति-भावना और निष्ठा से आप्लावित था, फलतः उससे सम्बन्धित अपनी भावनाओं को अपनी काव्य-भूमि में प्रस्फुटित करना उनका लक्ष्य था। इसके लिए उन्होंने काव्य की स्वाभाविक अभिव्यंजना का ही आश्रय लिया है। फलतः भावना के प्रवाह में जो अलङ्कार आ गए हैं वे ही उनके काव्य को विभूषित और अलंकृत किए हैं अन्य नहीं। भक्तिकाल की उपर्युक्त प्रवृत्ति का तुलसी-काव्य में ग्रहण हुआ है, जिससे उनकी मर्यादा परक और गम्भीर भावनाओं के मध्य में भी स्वाभाविक अक्षुण्ण रह सकी है। अलंकारों की सार्थकता के लिए उनके काव्यों में जिन उपमानों का ग्रहण हुआ है वे उनकी अध्ययनशीलता और अनुभूति को व्यक्त करते हैं। उन्होंने अपने सम्पूर्ण काव्यों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि समतामूलक अलंकारों का ही विशेष प्रयोग किया। यत्र-तत्र अन्य अलंकार भी समाविष्ट हैं; किन्तु उनकी बहुलता नहीं है।

उपर्युक्त इङ्गित अलंकारों का बाहुल्य ही विनयपत्रिका, गीतावली और श्री कृष्णगीतावली में उपलब्ध है। वे हमारे विवेच्य काव्य हैं फलतः उनके अलंकारों का अध्ययन कर हम तुलसी की मनोवृत्ति से परिचित हो सकते हैं।

श्री कृष्णगीतावली—श्री कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाओं पर आधारित यह एक गीति-काव्य है। यत्र-तत्र इसमें कुछेक अलंकारों का प्रयोग हुआ है—

शब्दालंकार, अनुप्रास, छेकानुप्रास

बाल बोलि डहकि बिराबत, चरित लखि,
गोपी गन महरि मुदित पुलकित गात।
नुपूर की धुनि किंकिनि को कलख सुनि,
कूदि कूदि किलकिलकि ढाढ़े ढाढ़े खात॥ —(पद २)

उपर्युक्त में 'बाल' 'बोलि' 'गोपी' 'गन' 'महरि' 'मुदित' में 'ब' 'ग' और 'म' की दो बार आवृत्ति है, इससे इन पंक्तियों में छेकानुप्रास है। अन्तिम भक्ति में 'क' वर्ण की चार बार आवृत्ति हुई है, इससे इसमें वृत्यानुप्रास की छटा प्रतिष्ठित है।

वृत्यानुप्रास

साखि सखा सब सुबल, सुदामा।
देखि धौं बूझि बोलि बलदाऊ॥ —(वही—१२)

× × ×

गोपाल गोकुल बल्लवी प्रिय गोप गोसुत बल्लभ। —(वही—२:)

× × ×

सत्य सनेह सील सोभा सुख सब गुन उ.धि अपारि।
कहियत काकु कूबरी हूँ को, सो कुबानि वस नारि॥ —(वही—२७)

× × ×

ये अब लही चतुर चेरी पै चोखी चाल चलाकी। —(वही—४३)

उपर्युक्त पंक्तियों में शब्दों के प्रयोग की स्वाभाविक छटा विद्यमान है। उनके प्रयोग से कवि की भाव-धारा में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पड़ता है।

अर्थालंकार, उपमा, पूर्णोपमा

किलकि सखा सब नचत मोर ज्यों।
कूदत कपि कुरंग की नैया॥ —(वही—१९)

× × ×

स्यान कृपान समान लगत उर,
बिहरत छिन छिन होत निनारे। —(वही—५६)

उपमेय लुप्तोपमा

निपटही डाँटति निठुर ज्यों लकुट कर तें डारू। —(वही—१४)

वाचक लुप्तोपमा

रोत भरि भरि कान्ह कमल नैन। —(वही—१५)

उत्प्रेक्षा, वस्तूत्प्रेक्षा

मंजु अंजन सहित जल कन चुवत लोचन चारू।
स्याम सारस मग मनहुँ ससि स्रवत सुधा सिंगारू॥
सुभग उरदधि बुंद सुन्दर लखि अपनपौ कारू।
मनहुँ मरकत मृदु सिखर पर लसत विसद तुषारू॥ —(वही—१४)

× × ×

चिक्कन कुटिल अलक-अवली-छवि।
कहि न जाइ सोभा अनूप वर॥
बाल भुअंगिनि निकर मनहुँ मिलि।
रहीं घेरि रस जानि सुधाकर॥ —(वही—२१)

रूपक

जब ते ब्रज तजि गए कन्हाई।
तब ते विरह रवि उदित एक रस सखि! बिछुरू वृष पाई॥
घटत न तेज, चलत नाहिन रथ, रह्यो उर नभ पर छाई।
इन्द्रिय रूप रासि सोचहि सुठि सुधि सबकी बिसराई॥
भयो सोक मय कोक कोकनद भ्रम भ्रमरनि सुखदाई।

चित चकोर, मन मोर, कुमुद मुद सकल विकल अधिकाई ।।
तनु तड़ाग बल बारि सुखन लाग्यो परि कुरूपता काई ।
प्रान मीन दिन दीन दूबरे दस दुसह अब आई ।।
तुलसीदास मनोरथ मन मृग मरत जहाँ तहाँ धाई ।
राम स्याम सावन भादौं बिनु जिय की जरनि न जाई ।। —(वही—२६)

कृष्ण के विरह रूपी सूर्य का यह सजीव साङ्गरूपक है ।

लोकोक्ति

सुनु मैया ! तेरी सौं करौं याकी टेव लरन की ।
सकुच बेंचि सी खाई ।। —(वही—८)

× × ×

ग्वालि वचन सुनि कहति जसोमति,
भलो न भूमि पर बादर छीबो । —(वही—६)

× × ×

चुपकि न रहत, कह्यौ कछु चाहत ।
ह्वैहै कीच कोठिला धोएँ ।। —(वही—११)

गीतावली

राम की लीलाओं पर रचित तुलसीदास का यह एक मधुर गीति-काव्य है । इसमें कटु घटनाओं का परित्याग और मधुर तथा करुण विवरणों का ही ग्रहण है । तुलसीदास की भावुकता और सहृदयता का पूर्ण रूप इस काव्य में प्रतिफलित हो उठा है । अलंकारों की स्वाभाविक और मधुर योजना इस काव्य में प्रतिष्ठित है ।

शब्दालंकार, अनुप्रास, छेकानुप्रास

तापस वर वेष किए, सोभा सब लूटि लिए ।
चित के चोर, वय किशोर, लोचन भरि जोऊ ।।
—(गीतावली—अ० का० १६)

वृत्यानुप्रास

सदन-सदन सोहिलो सोहावनो, नभ अरु नगर निसान हए ।
—(वही—बा० का० ३)

× × ×

सील-सुधा के अगार, सुखमा के पारावार,
पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके है ।
लोचन ललकि लागे, मन अति अनुरागे,
एक रसरूप चित सकल सभा के हैं ।। —(वही—६४)
मिटे कलुष-कलेस-कुलषन, कपट, कुपथ, कुचाल ।

गए दारिद, दोष दारून, दंभ दुरित दुकाल ।।

—(वही—उ० का० १)

अर्थालंकार, पूर्णोपमा

तुलसी तेऊ सनेह को सुभाउ बाउ मानो।
चलदल को सो पात करै चित चरको ।। —(बालकाण्ड ६६)

× × ×

विरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों, कृपा दृष्टि-जल पलुहावहिंगे।

—(सुन्दरकाण्ड १०)

वाचक लुप्तोपमा

बदन इंदु अंभोरूह लोचन, स्याम गौर सोभा सदन सरीर।

—(बालकाण्ड ५४)

रूपक

पौढ़िये लालन, पालने हौं झुलावौं।
करपद मुख चखकमल लसत लखि लोचन-भँवर भुलावौं ।।
बाल-विनोद-मोद-मंजुल-मनि किलकिन-खानि खुलावौं।
तेइ अनुराग-ताग गुहिबे कहँ मति-मृगनयनि बुलावौं ।।
तुलसी भनित भली भामिनि उर सों पहिराइ फुलावौं।
चारु चरित रघुबर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चितु लावौं ।।

—(बालकाण्ड १८)

सम्पूर्ण पद में सांगरूपक विद्यमान है। इन पंक्तियों में तुलसी के भक्त-हृदय की निष्ठायुक्त कोमल भावनाएँ बड़ी ही मधुर और सजीव हैं।

नयन-चकोरनि मुख मयंक-छवि सादर पान करावोंगी।

—(अयोध्याकाण्ड ६)

मेरे नयन चकोर प्रीतिवस राकाससि मुख बिखरावहिंगे।

—(सुन्दरकाण्ड १०)

उत्प्रेक्षा

बालकेलि बातबस झलकि झलमलत,
सोभा की दीयटि मानो रूप-दीप दियो है।

—(बालकाण्ड १०)

× × ×

सिसु-सुभाय सोहत जब कर गहि बदन निकट पद पल्लव लाए।
मनहुँ सुभग जुग भुजंग जलज भरि लेत, सुधा ससि सों सचु पाए ।।

—(बालकाण्ड २३)

रघुबर बाल छवि कहौं बरनि ।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज सोभा हरनि ॥
बसी मानहु चरन कमलनि अरुनता तजि तरनि ।
रुचिर नूपुर किंकनी मन हरति रुनझुनु करनि ॥
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरति भूषन भरनि ।
जनु सुभग सिंगार सिसु तरु फरयो है अदभुत फरनि ॥
भुजनि भुजग सरोज नयननि, बदन बिधु जित्यो लरनि ।
रहे कुहरनि, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि उरनि ॥
लसत कर-प्रतिबिंब मनि-आँगन घुटुरुवनि चरनि ।
जनु जलज-संपुट सुछवि भरि भरि धरति उर-धरनि ॥
पुन्यफल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथ-घरनि ।
बसति तुलसी-हृदय प्रभु-किलकनि ललित लरखरनि ॥
—(बालकाण्ड २७)

भगवान् राम के बाल-रूप-सौन्दर्य पर तुसलीदास की प्रस्तुत की हुई ये उत्प्रेक्षाएँ बड़ी ही मनोरम और सजीव हैं। एक-एक अंग का सफल चित्रण है और उसमें अस्वाभाविकता का कहीं भी लेश मात्र नहीं है।

यथाक्रम

भुजनि भुजग सरोज नयननि, बदन बिधु जित्यो लरनि ।
रहे कुहरनि, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि उरनि ॥
—(बालकाण्ड २७)

सन्देह

मुनि-सुत किधौं भूप-बालक, किधौं ब्रह्म-जीव जग जाए ।
× × ×
किधौं रबि-सुवन, मदन-ऋतुपति किधौं हरि-हर बेष बनाए ।
किधौं आपने सुकृत-सुरतरु के सुफल रावरेहि पाए ॥
—(बालकाण्ड ६५)

किधौं सिंगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग-चित-बित लैन ।
अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग-लोगन्हि सुख दैन ॥
—(अयोध्याकाण्ड २४)

विनयपत्रिका

भावना में विनय और भक्ति का जो श्रेष्ठतम रूप हो सकता है उसका तुलसी-

दास के इस काव्य में सफल प्रस्फुटन हुआ है। उनके समान अन्य भक्त कवियों ने भी अपने आराध्य से आत्मनिवेदन किया है; किन्तु तुलसी के कथन में जो निष्ठा, अनन्यता और भक्ति है वह उनमें नहीं है। भक्ति की अभिव्यक्ति में यह काव्य तुलसी-साहित्य में ही नहीं; किन्तु अवशिष्ट हिन्दी-साहित्य में शीर्ष पर प्रतिष्ठित है।

अलंकारों का स्वाभाविक ग्रहण इस काव्य में भी हुआ है। भक्ति-भावना के प्रवाह के साथ जो अलंकार आ गए हैं वे ही पदों में प्रतिष्ठित हैं अन्यों से अपनी भावना को अलंकृत करने के लिए कवि ने कहीं भी कृत्रिम व्यायाम नहीं किया है।

शब्दालंकार, अनुप्रास, छेकानुप्रास

मेरो मन हरि जू ! हठ न तजै।
निस दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि, करत सुभाउ निजै॥ —(पद ८९)

जीव को जीवन प्रान को प्यारो।
सुखहू को सुख राम सो बिसारो॥ --(पद १७६)

वृत्यानुप्रास

सूर, सुजान, सुपूत सुलच्छन गनियत गुन गरूआई।
बिनु हरिभजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई॥ —(पद १७५)

× × ×

सील-सिन्धु, सुन्दर, सब लायक, समरथ, सदगुन-खानि हौ।
पाल्यो है, पालत, पालहुगे प्रभु, प्रनत प्रेम पहिचानि हौ॥ —(पद २२३)

यमक

सिव ! सिव ! होइ प्रसन्न करु दाया।
करुनामय उदार कीरति, बलि जाउँ हरहु निज माया।

'सिव' 'सिव' दोनों शब्दों का एक ही अर्थ रखने से 'पुनरुक्ति प्रकाश' अलंकार सिद्ध होता है; किन्तु 'शिव' शब्द का अर्थ 'कल्याणरूप' भी होता है फलस्वरूप प्रथम शब्द 'शिव' द्वितीय 'शिव' का विशेषण है। इस प्रकार उनके अर्थों में अन्तर है। इस सिद्धान्त से ही यह 'यमक' अलंकार है।

पुनरुक्ति प्रकाश

पल पल के उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।
भिद्यो न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ सिय-पीके॥ —(पद १७१)

श्लेष

तुलसी दलि रूँध्यो चहै सठि साखि सिहारे।

यहाँ 'तुलसी' शब्द में श्लेष है। इस शब्द से 'तुलसी पौधा' और 'कवि तुलसीदास' दोनों के अर्थों की अभिव्यक्ति है। इससे 'तुलसी' में 'शब्द श्लेष' सिद्ध है।

अर्थालंकार, उपमा

श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं।

नवकंज-लोचन, कंज मुख कर कंज पद कंजारुणं ।। —(पद ४५)

यहाँ 'लोचन' 'मुख' 'कर' और 'पद' उपमेय तथा प्रत्येक का 'कंज' उपमान है । इससे इन पंक्तियों में उपमा अलंकार है ।

रूपक

विषय-बारि मन-मीन मित्र नहीं होत कबहुँ पल एक ।
ताते सहौं विपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक ।।
कृपा डोरि बनसि पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो ।
एहि विधि वेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो । —(पद १०२)

तुलसी का मन रूपी मच्छ विषय रूपी वारि से किसी क्षण अलग नहीं होता है, इससे उन्हें दारुण दुःख की अनुभूति है । वह राम से कृपारूपी डोरी में प्रभु के चरण के चिह्न अंकुश रूपी वंशी के काँटे में प्रेम रूपी कोमल चारा लगाकर मन रूपी मच्छ को पकड़ने की प्रार्थना करते हैं । इन पंक्तियों में कवि ने सजीव साङ्गरूपक का प्रयोग किया है ।

प्रतीप

नीलकंज, बारिद तमाल, मनि इन्ह तनु ते दुति पाई —(पद ६२)

विभावना

सून्य भीति पर चित्र रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे । —(पद १११)

व्यतिरेक

सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे ।।
धोए मिट इन मरइ भीति, दुख पाइहि एहि तनु हेरे । —(पद १११)

बिना साधन के भी कार्य हो जाने के कारण प्रथम पंक्ति में विभावना है । द्वितीय पंक्ति में उस चित्र के वैशिष्ट्य का उल्लेख है जो धोए से न मिटता है, जिसके मरने का सदैव डर है और जब उसको देखा जाता है तो दुःख होता है । इसके विपरीत साधारण चित्र धोए से मिट जाता है, उसके मरने का डर नहीं होता और उसे देखने में सुख मिलता है । इस प्रकार उपर्युक्त चित्र साधारण चित्र की अपेक्षा विशिष्ट है । इस भावना के कारण द्वितीय पंक्ति में व्यतिरेक अलंकार है ।

उत्प्रेक्षा

जनु तनदुति चंपक-कुसुम-माल वर बसन नील नूतन तमाल । —(पद १४)

उल्लेख

देखो दुखो, बन बन्यो आजु उमाकंत । मानो देखन तुमहिं आई रितु बसंत ।।
जनु तनुदुति चंपक-कुसुम-माल । बर बसन नील नूतन तमाल ।।
फल कदलि जंघ, पद कमल लाल । सूचत कटि केहरि गति मराल ।।
भूषन प्रसून बहु विविध रंग । नूपुर किंकिनी कलरव विहंग ।।

शिव के शरीर की शोभा का उल्लेख है ।

व्याजस्तुति

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन, देत दए बिनु वेद-बड़ाई मानी ॥
निज घर की बरबात विलोकहु, हौ तुम परम सयानी।
सिव की दई सम्पदा देखत, श्री शारदा सिहानी ॥
जिनके भाल लिखि लिपि मेरी, सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत, हौ आयो नकवानी ॥
दुखी दीनता दुखियन के दुख जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहि भीख भली मैं जानी ॥
प्रेम-प्रशंसा-विनय-व्यंगजुत, सुनि विधि की वरवानी।
तुलसी मुदित महेस मनहि मन, जगत-मातु मुसुकानी ॥ —(पद ५)

इन पंक्तियों में शिव की निन्दा करके ब्रह्मा ने उनकी स्तुति की है इससे सम्पूर्ण पद में 'व्याजस्तुति' अलंकार है।

उदाहरण

मेरो मन हरिजू ! हठ न तजै।
निसिदिन नाथ ! देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाउ निजै ॥
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै ॥
लोलुप भ्रमत गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पद त्रान बजै।
तदपि अधम बिरचत तेहि मारग कबहु न मूढ़ लजै ॥
—(पद ८९)

क्रमालंकार

बिछुरे ससि-रवि मन-नैननितें, पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत श्रमित निसि दिवस गगन महँ तहँ रिपु राहु बड़ेरो ॥ —(पद ८७)
बेनु करील श्रीखंड बसंतहि, दूषन मृषा लगावै ॥
सार रहित हत-भाग्य सुरभि, पल्लव सो कहु किमि पावै ॥ —(पद ११४)
सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बारि आईं।
त्यागब, गहब, उपेच्छनीय, अहि हाटक तून की नाईं ॥ —(पद १२४)

परिकरांकुर

मैं अपराध-सिंधु करुनाकर ! जानत अंतरजामी।
तुलसिदास भव-व्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी ॥
—(पद ११७)

हृषीकेश सुनि नाउँ जाउँ बलि अति भरोस जिय मोरे।
तुलसिदास इन्द्रिय-संभव दुख हरे बनिहिं प्रभु तोरे ॥

भव रूपी व्याल से ग्रस्त होने के कारण गरुड़गामी 'विष्णु' और इन्द्रिय-संभव कष्ट के कारण हृषकेश (इन्द्रियों के स्वामी) से कवि ने प्रार्थना की है—साभिप्राय विशेष्य के प्रयोग के कारण परिकराङ्कुर अलंकार है।

तुलसो के तीनों गीत काव्यों में अलंकारों का अध्ययन करके यह सरलता से कहा जा सकता है कि उनकी अलंकार-योजना द्वारा किसी प्रकार का चमत्कार प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। भावनाओं के उत्कर्ष के लिए वह रूपक पर रूपक या उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा भले ही अंकित करते गए हों, किन्तु उनमें कृत्रिमता और आडम्बर नहीं है। उनकी यह प्रवृत्ति स्वयं अपनी तृप्ति के लिए रही है पाठक को कौतूहल और चमत्कार में डालने की नहीं।

: ८ :

तुलसी के गीति-काव्य में छन्द

विषय-प्रवेश

हमारे यहाँ भावनाओं का सदैव से विशेष मूल्य रहा है। इसी से साहित्य के अन्तर्गत मार्मिक भावनाओं का सगुम्फन चाहे गद्य में किया गया हो चाहे पद्य में, सभी को काव्य संज्ञा दी जाती रही है। काव्य के सिद्धान्तों की दोनों पक्षों में समान प्रतिष्ठा होने पर भी मात्रा या वर्णसंख्या, विराम, गति या लय आदि से युक्त होने के कारण पद्य काव्य गद्य काव्य की अपेक्षा अधिक मधुर और प्रिय रहा है तथा उसकी भावनाएँ अधिक आकर्षण पूर्ण और सुग्राह्य रही हैं। पद्य का यह विधान ही छन्द का विधान है, जो काव्य को ललित और मधुर बना देता है। इसी से पद्य काव्य के लिए छन्द आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

पद-काव्य में राग-रागनियों के कारण कुछ सहृदय उनके स्वरूप के अध्ययन के लिए संगीत-तत्त्वों का उपयोग ही उचित समझते हैं। वे कहीं तक ठीक भी हैं; किन्तु पूर्ण रूप से नहीं। ऐसे लोगों ने पद्य काव्य और संगीत के सामान्य तत्त्वों तथा पद-काव्य में संगीत और काव्य दोनों के तत्त्वों के समिश्रण के सम्बन्ध में नहीं सोचा है। उन्होंने पद में संगीत के लय, ताल, स्वरों का आरोहावरोह ही केवल सोचा है, भावनाओं और छन्दों की, जो काव्य के अभिन्न रूप हैं उनकी उनके द्वारा उपेक्षा ही कर दी गई है।[1] सच तो यह है कि काव्य की पद शैली में समाहित संगीत के तत्त्वों ने जितना साहित्य को आभारी किया है उतना ही साहित्य की भावनाओं से संगीत भी आभारी हो उठा है।

---

1. Musical time in India more obviously than elsewhere, is a development from the prosody and metres of Poetry. The insistent demands of language and idiosyncrasies of highly characteristic verse haunt the music.
—H. A. Papley—The Music of India—Tal or Time Measures.

पद्य काव्य में मात्रिक और वर्णिक दो प्रकार के छन्द होते हैं।[1] प्रथम प्रकार के छन्द मात्राओं पर और द्वितीय प्रकार के वर्णों की गणना पर आधारित रहते हैं। प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं और मात्रा-भेद के आधार पर अक्षर या वर्ण ह्रस्व और दीर्घ दो प्रकार के होते हैं। जिन अक्षरों या वर्णों के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है वे ह्रस्व कहलाते हैं जैसे अ, इ, उ, क, ख आदि और जब उनके उच्चारण में दूना समय लगता है तो वही दीर्घ कहलाते हैं जैसे आ, ई, ऊ, का, खा आदि। मात्रिक छन्दों में इन मात्राओं की गणना ही आवश्यक है इसके विपरीत वर्णिक छन्दों में वर्णिक गणों[2] की गणना अनिवार्य है। यह गण तीन वर्णों के समूह होते हैं और आदि, मध्य तथा अन्त में लघु और दीर्घ का इनमें विचार रहता है। इस प्रकार मगण, यगण, रगण, सगण, तगण, जगण, भगण और नगण आठ वर्णिक गण[3] होते हैं।

पद्य काव्य में प्रयुक्त होने वाले सम्पूर्ण छन्द उपर्युक्त विधान के प्रश्रय में ही पल्लवित होते हैं और इन्हीं के स्वरूप में कवि अपनी भावनाओं को पिरोता हुआ अपने देश और संस्कृति को कृतार्थ करता है।

मात्राओं और वर्णों पर ही संस्कृत और हिन्दी के छन्द-शास्त्र का अस्तित्व टिका है। दोनों कोटियों के छन्दों के अपने-अपने विधान है जिनकी विस्तृत व्याख्या की न यहाँ आवश्यकता है और न अवकाश ही। काव्य के समान संगीत भी मात्रा-काल से आबद्ध है। संगीत के स्वर अक्षरों के लघु, दीर्घ और प्लुत पर आधारित है। यह संगीत की मात्रा-काल है अथवा दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह समय के माप-दण्ड हैं। जिन्हें संगीत शास्त्र में 'ताल' कहते हैं या ताल के अंकों की इन्हीं से उत्पत्ति हुई है। ताल के निम्न दस तत्त्व हैं—

काल, अंग, क्रिया, मार्ग, जाति, कला, ग्रह, लय, यति, प्रस्तार आदि।

भारतीय संगीत में १०८ तालें वर्णित हैं; किन्तु नन्दिकेश्वर ने 'भरतणिव' में १२ तालों का उल्लेख किया है।[4] भारतीय संगीत के अन्तर्गत कर्नाटकी पद्धति में ध्रुवताल, मठयताल, रूपकताल, झंपाताल, त्रिपुटताल, अड्डुताल, एकताल आदि

---

१. पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्रा कृता भवेत्॥ —(छन्दोमंजरी १—४)

२. म्यरस्तजभ्नगैलन्तिरेभिर्दशभि रक्षरैः।
समस्तं वाङ्मयं व्याप्तं त्रैलोक्यमिव विष्णुना॥

३. सर्वगुर्मो मुखान्तलौ यरावन्तगलौ सतौ।
ग्मध्याद्यौ ज्भौ त्रिलोनोऽष्टौ भवन्त्यत्र गणस्त्रिकाः॥
—(वृत्त रत्नाकार—१—६—७)

४. के० वासुदेव शास्त्री—संगीत, शास्त्र, पृष्ठ २२०

का उपयोग होता है इसके साथ ही हिन्दुस्थानी पद्धति में त्रिताल, १६ मात्रा, एकताल १२ मात्रा, चौताल १२ मात्रा, आड़ा चौताल, १४ मात्रा, झपताल १० मात्रा, रूपकताल ७ मात्रा, दादरा ६ मात्रा, धमार १४ मात्रा, कहरवा ४ मात्रा, झूमरा १४ मात्रा, दीपचंदी १४ मात्रा, धीमा तिताल १६ मात्रा, फरोदस्त १३ मात्रा, सूरफाख्ता १० मात्रा, गजल का ठेका ६ मात्रा, होरी का ठेका १४ मात्रा आदि[1] प्रयुक्त होती हैं।

देश में प्रचलित संगीत का दो कोटियों की अलग-अलग तालों का उल्लेख किया गया है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि कर्नाटकी और हिन्दुस्थानी पद्धति का तालों में मूलतः वैषम्य है। इस प्रकार का भ्रम असन्दिग्ध रूप से निर्मूल है। इन दोनों कोटियों की तालों में पूर्ण साम्य है। इनके मध्य में जो अन्तर है वस्तुतः वह मुस्लिम संस्कृति और संगीत कला का प्रभाव है अन्यथा मुसलमानों के प्रभाव से पूर्व भारतीय संगीत का सम्पूर्ण विधान एक ही था। इससे उनकी तालों में अन्तर की कल्पना ही नहीं की जा सकती।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर तालों की संगीत में आवश्यकता समझी जा सकती है। इस प्रकार काल-निर्धारण और काल-मात्रा परक ताल ही संगीत के छन्द कहे जा सकते हैं या कहे जाते हैं। जिस प्रकार छन्द काव्य के अन्तर्गत भाव धारा की गति को सुस्पष्ट करते हैं उसी प्रकार संगीत में तालें राग-रागनियों का स्पष्टीकरण करती हैं। इस प्रकार तालें ही संगीत के छन्द हैं।

उपर्युक्त तथ्य के आधार पर यह सरलता से उल्लेख किया जा सकता है कि साहित्य के अन्तर्गत राग-रागनियों की लय से जो गीत या पद की परम्परा ग्रहीत हुई उसमें तालों का पूर्ण समावेश रहा। उनके रचयिता संगीत से पूर्ण विज्ञ थे अन्यथा के इस प्रकार के प्रयोग काव्य-क्षेत्र में करने में समर्थ ही नहीं होते। एक बात यहाँ पर और ध्यान देने की है कि संगीत से विज्ञ इन भावुक कवियों ने अपनी भावना को पिरोने में राग-रागनी का तो पूर्ण ध्यान रखा है; किन्तु ताल के सम्बन्ध में उनका कहीं भी दुराग्रह नहीं रहा है। उनकी इस उदाराशयता से उनके राग और रागनियाँ विविध तालों में भी गाई जा सकती हैं।

संगीत की ताल के इस ईंट और गारे से ही काव्य के अन्तर्गत पदों अथवा गीतों की भित्ति का निर्माण हुआ है। उनके निर्माण कर्त्ताओं ने वस्तुतः दूने उत्साह के साथ अपने कर्त्तव्य को इति पर लाने की चेष्टा की है, इसमें जिस अध्यवसाय और मनोयोग की आवश्यकता थी उन्होंने उनका उपयोग किया है। इसी से संगीत-

---

१. के० वासुदेव शास्त्री—संगीत-शास्त्र, ताल प्रकरण

२. Though the nomenclature varies, as might be expected, the theory of tala (as time-measure is called) in the north and south is more uniform that of Vaga.
H. A. Papley—The Music of India—Tal or Time measures, Page 12.

कला विषयक पच्चीकारी से वह काव्य के सौध में भावनाओं के सरोज मुकुलित कर सके हैं। निस्सन्देह उनका यह कार्य बहुत बड़ा था। अपभ्रंश काल से लेकर अब तक इस क्षेत्र में कार्य करने वाले संगीतज्ञ कवियों ने साहित्य को तो उठाया ही है; किन्तु अपनी मनोरम भावनाओं के प्रयोग के कारण उन्होंने संगीत को भी नवीन दिशा दी है। सूर, तुलसी, मीरा तथा अन्य राम और कृष्ण सगुण भक्त तथा गोरख, कबीर, नानक, दादू आदि निर्गुण भक्त कवियों ने साहित्य और संगीत दोनों क्षेत्रों के लिए अधिकारपूर्वक कार्य किया है। इसी से साहित्य क्षेत्र में यदि उनकी मान्यता है तो संगीत में भी उनका स्थान अक्षुण्ण है। आज भी इनके पद या गीत जन-समाज के कण्ठहार हैं और गायक तो उनको गाकर अपनी गायिकी को कृतार्थ करता ही है।

गो० तुलसीदास ने काव्य क्षेत्र में प्रचलित सम्पूर्ण काव्य-शैलियों में अपनी रचनाओं को प्रस्तुत किया है। इन सभी के माध्यम से वह राम-ध्वनि जन-वर्ग तक पहुँचाने में सफल हुए थे और आज भी उनका काव्य आस्तिक हिन्दू-समाज को अभिप्रेरित करता है। पद-शैली में उन्होंने कृष्णगीतावली, गीतावली और विनयपत्रिका तीन काव्य-ग्रन्थ रचे हैं। इनमें प्रयुक्त काव्य सामग्री से विगत अध्यायों में परिचित हो लिया गया है, इससे इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ भी कहना अनावश्यक है।

तुलसी ने अपने इन तीनों पद-काव्यों की भावनाओं को सुग्राह्य और सुस्पष्ट करने के लिए इन २५ राग-रागनियों की प्राण-प्रतिष्ठा की है—

आसावरी, कान्हरा, केदारा, गौरी, घनाश्री, नट, विलावल, मलार, ललित, सोरठ, कल्याण, चंचरी, जैतश्री, टोड़ी, भैरव, मारू, रामकली, बसन्त, विभास, सारंग, सूहो, दण्डक, विहाग, भैरवी, सूहो विलावल आदि।

स्वर प्रधान होने के कारण संगीत के अन्तर्गत मात्रिक छन्दों की ही मान्यता है। पदों में मात्राओं के प्रयोग के कारण संगीत की ताल उनमें उचित रूप से अनुकूल बैठती है। वर्णिक छन्दों में मात्राओं की उपेक्षा रहने के कारण संगीत की ताल के अनुशासन में लाने के लिए गायक को कहीं द्रुत अथवा कहीं विलम्बित गति का आश्रय लेना पड़ेगा। अन्यथा वह वर्णिक छन्द के साथ न्याय न कर सकेगा और गीत के असफल रहने का अपयश उसे सहन करना पड़ेगा।

गो० तुलसीदास ने मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों को अपनी पद कलियों का आधार बनाया है। विवेचन और स्पष्टीकरण की सुविधा के लिए इस स्थल पर मैं एक-एक राग के अन्तर्गत प्रयुक्त छन्दों पर विचार करूँगा।

१. आसावरी

कृष्णगीतावली—की पद संख्या ३ से ४ में ३० और १७ मात्राओं की टेक देकर ३० मात्राओं की पंक्ति की लावनी, ५ और ६ पद में १६ मात्राओं की टेक देकर २८ मात्राओं का सार छन्द और ६० तथा ६१ पद में २० और १६ मात्राओं

की टेक देकर ३२ मात्राओं का रूप सवैया प्रयुक्त है।

गीतावली—के बालकाण्ड के प्रथम पद में १६ मात्रा की टेक से सार, अयोध्याकाण्ड के २६वें पद में १६ मात्रा की टेक से २७ मात्रा का 'सरसी' और उत्तरकाण्ड का २०वाँ पद २६ मात्रा का 'विष्णु पद' है। बालकाण्ड के पद सं० १२ से १५ तक और लंकाकाण्ड के १७ तथा १८ पदों में मिश्रित मात्रिक छन्दों का प्रयोग है। जिनकी मात्राओं में व्यतिक्रम है।

गीतावली में उपर्युक्त मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त अयोध्याकाण्ड के ३०, ३१ सुन्दरकाण्ड के २३, २४, २६ पदों में घनाक्षरी (मनहर) और सुन्दरकाण्ड के २५ तथा २७ पदों में १६+१४=३० वर्णों की 'अनियमित दण्डक' है।

विनयपत्रिका—के पद ६२ और १८५ में १६ मात्रा की टेक से सार छन्द, पद १८६ में १४ मात्रा की टेक से विष्णु पद और पद १८७ में १७ मात्रा की टेक से २९ मात्रा के मरहटा छन्द का प्रयोग है। पद १८३ और १८४ में 'अनियमित दण्डक' और १६८ में १६ मात्रा की टेक से सरसी छन्द प्रयुक्त है।

२. कान्हरा

कृष्णगीतावली—के पद २५ और ५० में रूपसवैया तथा पद ५१ में सार छन्द है तीनों पदों में १६ मात्रा की टेक है।

गीतावली—बालकाण्ड के पद २६, ३२ सुन्दरकाण्ड का पद १२ लंकाकाण्ड के पद २, ३, ४, १६ उत्तरकाण्ड का पद १७ सभी में रूपसवैया छन्द और बालकाण्ड के ५५, ५६, ६०, १०९, ११० में 'सार' छन्द है। इन सभी पदों में अधिकांशतः १६ मात्रा की ही टेक है। बालकाण्ड के ११० और लंकाकाण्ड के १०४ संख्या के पद में १७ मात्रा, बालकाण्ड के १०९ वें पद में १९ और लंकाकाण्ड पद ३ में १८ मात्रा की टेक है। बालकाण्ड का पद ७५ और १०३ विषम मात्राओं का मिश्रित छन्द है।

विनयपत्रिका—पद २४, २०४ में १६ मात्रा की टेक और पद २०५ और २०६ में क्रमशः १७ और ३७ मात्रा की टेक से रूपसवैया छन्द का प्रयोग किया गया। पद २०७ मात्रिक मिश्रित छन्द है।

३. नट

कृष्णगीतावली—पद २० में २३ मात्रा की टेक से ४० मात्रा का 'विजया' छन्द है।

गीतावली—बालकाण्ड के पद ४०, ४१ में २४ मात्रा का 'शोभन' पद ४९ में सरसी, पद ५० में सार छन्द है इनमें क्रमशः १५, १४, १५, १६ मात्राओं की टेक है। इस राग के अन्तर्गत इसी काण्ड में पद ४२, ५१, ५२ विषम मात्राओं के

मिश्रित छन्द है ।

विनयपत्रिका—पद १५८, १५९ और १६० में भी शोभन छन्द का प्रयोग हुआ है ।

४. ललित

कृष्णगीतावली—पद २ में 'अनियमित दण्डक' वर्णिक छन्द का प्रयोग है ।

गीतावली—बालकाण्ड के पद ३३ और उत्तरकाण्ड के पद ११ में 'रूप घनाक्षरी' और पद ४३, ४४ में घनाक्षरी (मनहरण) और पद ३४ (बालकाण्ड) में रूपसवैया प्रयुक्त है । उत्तरकाण्ड का पद २ की मात्राओं में बड़ा व्यतिक्रम है ।

विनयपत्रिका—पद ७६ और ७७ में क्रमशः घनाक्षरी (मनहरण) और रूपघनाक्षरी वर्णिक छन्द है । पद ७५ मिश्रित मात्राओं का छन्द है ।

५. विभास

गीतावली—बालकाण्ड के पद ३६ में ३२ मात्रा का रूपसवैया छन्द है । पद संख्या ३८ और ३९ में ४६ मात्रा का चचरी छन्द है । इन सभी पदों में पूर्ण पंक्ति की ही टेक है । पद ३७ में मात्राओं का बड़ा ही व्यतिक्रम है ।

विनयपत्रिका—पद ७४ में ४४ मात्रा का विनय छन्द है इसमें पूर्ण पंक्ति की ही टेक है ।

६. सारंग

गीतावली—बालकाण्ड के पद ४७ में विष्णु पद, ४८ में ३० मात्रा का चौबोला, पद ५२, ६३, ६८ में सार और पद ७८, ७९, ८० में तथा अयोध्याकाण्ड के पद ४२ और ४६ में रूपसवैया है । इनमें अधिकांश में १६ मात्रा की टेक है ।

विनयपत्रिका—पद ३०, १५५, १५६, १५७ पदों में २९ मात्रा का मरहटा छन्द है । इनमें १५५ पद में १६ मात्रा की टेक है और शेष में १५ मात्रा की ।

७. सूहो

गीतावली—बालकाण्ड-पद ५७, ५९ में २६ मात्रा का विष्णु पद छन्द है । बालकाण्ड का पद ५८ और अरण्यकाण्ड में पद १७ मिश्रित मात्राओं के छन्द हैं । उत्तरकाण्ड का पद १९ में दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है ।

८. सूहो विलावल

विनयपत्रिका—पद १३६ में १६ मात्रा की चौपाई और २८ मात्रा की हरिगीतिका संयुक्त प्रयोग है । पद १३५ में मात्राओं की बड़ी विषमता है ।

९. राग सोरठ

कृष्णगीतावली—पद ३३, ३४ और ३५ सभी में 'सार' छन्द है इनमें १८, १६ और १९ मात्राओं की टेक है ।

गीतावली—बालकाण्ड के पद ८, ९, ९९—१०२ अयोध्याकाण्ड के पद १, ४, ५१—५६, ८५—८७ अरण्यकाण्ड के पद ६—८, ११—१६, लंकाकाण्ड के पद

६, ७, १६ में सार छन्द है। इनमें १६ मात्रा की टेकों का ही अधिकांश में प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं १७, १८, १६ मात्राओं की टेकें भी आई हैं। अयोध्याकाण्ड के पद ५७, ५८ सुन्दरकाण्ड के पद ३, ४, ५ और उत्तरकाण्ड के पद १, २४—२६, ३१—३७ में २३ मात्रा का शोभन छन्द प्रयोग में आया है। इनमें २३ मात्रा की पूर्ण पंक्ति की ही टेक है। अरण्यकाण्ड के पद ३ में मरहटा और उत्तरकाण्ड के पद ३७ में विष्णु पद छन्द है। इनमें क्रमशः १८ और १६ मात्रा की टेक है।

अयोध्याकाण्ड के पद १२ की मात्राओं में विषमता है।

विनयपत्रिका—पद १६२—१७५ में 'सार' और १७७ में चौपाई छन्द है। इनमें सभी में १६ मात्रा की ही टेक है। पद १७६ और १ ८ विषम मात्राओं के मिश्रित छन्द हैं।

१०. राग मारू

गीतावली—बालकाण्ड के पद ८६, ९० लंकाकाण्ड के पद १, ९ में हरिपद (सरसी) छन्द है। लंकाकाण्ड की पद ८ सार छन्द है। सुन्दरकाण्ड में पद १३, १४, १५ और २२ सभी में विषम मात्राओं की पंक्तियाँ होने से छन्द का निरूपण कठिन है।

विनयपत्रिका—पद १५, ३७ मात्रा का सरसी छन्द है इसमें २० मात्रा की टेक है।

११. राग मलार

कृष्णगीतावली—पद १८ में १६ मात्रा की टेक है और सरसी छन्द है। पद ३२, ३९—४९ सभी में सार छन्द है। इनमें १६, १७, १८, १६, २१ मात्राओं की टेकें प्रयुक्त की गई हैं।

गीतावली—बालकांड के पद ६२, ६३, ९१ में 'सार' उत्तरकांड के पद १८ में ३० मात्रा का चौबोला छन्द आया है। अध्योयाकांड का पद ५० और अरण्यकांड का पद १ की पंवितयाँ विषम मात्राओं से परिपूर्ण हैं।

विनयपत्रिका—पद १६१ में २० मात्रा की टेक है और पद में 'सार' छन्द प्रयुक्त है।

१२. राग भैरवी

विनयपत्रिका—पद १९८—२०२ में सार छन्द है और इनमें १९९ और २०० संख्या में १८ मात्रा की टेक है और शेष सभी में १६ मात्राओं की टेक हैं। पद २०३ में दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है।

१३. राग भैरव

गीतावली—अयोध्याकांड के पद २७, २८ में 'अनियमित दण्डक' वर्णिक छन्द है और उत्तरकांड के १२, १४, १५ पदों में सार छन्द है सभी पूर्ण पंवित की टेक हैं।

विनयपत्रिका—पद २२, ६५ में 'सार' छन्द है पूर्ण मात्रा की टेक है। पद ६६—७१, ७३ में अनियमित दण्डक वर्णिक छन्द है। पद ७२ भी २८ वर्णक वर्णिक छन्द है।

१४. दण्डक

विनयपत्रिका—में पद ३७ दण्डक हैं। इस पद की मात्राओं में बड़ा व्यतिक्रम है। यह संगीत का राग न होकर काव्य का वर्णिक वृत्त है।

१५. राग वसन्त

गीतावली—अयोध्याकांड के पद ४८, ४९ सुन्दरकांड के पद १६, उत्तरकांड के पद २२ और विनयपत्रिका के पद १३, १४, २३, ४ सभी में चौपाई छन्द का प्रयोग है।

१६. राग रामकली

गीतावली—अयोध्याकांड के पद ८०, ८१ में २१ मात्रा का अरल छन्द, पद ८२ में २२ मात्रा की लावनी है। उत्तरकांड के पद में ३० मात्रा की लावनी है।

विनयपत्रिका—पद ६, ७ में चौपाई, पद ९ में १६ मात्रा की टेक के साथ सार छन्द, पद १६, १७ में ४४ मात्रा का विनय छन्द, पद ४८ में ४० मात्रा का विजया छन्द, पद ४६, ४७, ४९, ५०—६१, १०६ में ३७ मात्रा का करखा छन्द है।

१७. राग विहाग

विनयपत्रिका—पद १०७-११० में २२ मात्रा का दिगपाल छन्द है, पद १११ से १२४ तक १६ मात्रा की टेक के साथ 'सार' है; पद १२५ में २८ मात्रा का स्वरूपी छन्द प्रयुक्त हुआ है; पद १२६ से १२८ की चौपाई विद्यमान है। पद १२९—१३४ विविध मात्राओं के छन्द हैं। पद १२९ से १३४ तक के छन्दों में मात्राओं की विषमता के कारण वे मिश्रित छन्द है।

१८. रागचंचरी

गीतावली के अयोध्याकांड में पद ४३ और ४४ में ४४ मात्रा का 'विनय' छन्द प्रयुक्त हुआ है।

१९. राग घनाश्री

कृष्णगीतावली—पद २६, २७ में 'सरसी', २९ में 'सार' ३१ में रूपसवैया छन्द है इनमें पद २६ में १८ मात्रा की टेक है और शेष सभी में १६ मात्रा की टेक ही प्रयुक्त है। पद २८ और ३० की पंक्तियों में मात्राओं की विषम संख्या है।

गीतावली—बालकांड-पद १६ में १६ मात्रा की टेक के साथ 'सार', सुन्दरकांड-पद ४५ में 'सरसी' और ४६ में विष्णु पद है इनमें क्रमशः १७, १४ मात्रा की टेक हैं, लंकाकांड के पद २१ में रूपसवैया है इसमें १६ मात्रा की टेक है।

विनयपत्रिका—पद ४ में, 'रूपसवैया', पद ५, ८५, ८७, ८८, ९०, ९२—९९, १०१—१०५ में अधिकाँशतः १६ या १८ टेक देकर सार छन्द का प्रयोग किया

गया है। पद ८६, ८९, ९१ में २६ मात्रा का 'विष्णुपद' छन्द है, जिसमें १४ मात्रा की टेक है। पद १०० में २७ मात्रा का सरसी छन्द है जिसमें १५ मात्रा की टेक है। पद ११, १२, २५—२६, ३८—४० सभी में, जो स्तोत्र हैं, ३७ मात्रा के करखा छन्द का प्रयोग है।

२०. राग विलावल

कृष्णगीतावली—पद १ में २२ मात्रा की टेक के साथ २२ मात्रा का कुण्डल, पद २१, २२ में १६ मात्रा की टेक के साथ 'रूपसवैया', पद २४ में ३० मात्रा का 'लावनी' छन्द है। पद ३६, ३७ और ३८ की मात्राएं विषम हैं।

गीतावली—बालकांड—पद ३ और ७ में 'चौबोला', पद २४ : १ में चौपाई बालकांड के पद १०८, अयोध्याकांड के पद ५, ९, १४, सुन्दरकांड के पद ५० और ५१, उत्तरकांड के पद १६ में रूपसवैया छन्द, बालकांड के पद १७ में 'सार', अयोध्याकांड के पद ६ में ३० मात्रा का ताटंक। पद ८ में ३० मात्रा की लावनी, पद ११ में २८ मात्रा की टेक से ३२ मात्रा का दुर्मिल, पद १५ में १५ मात्रा की टेक से ३१ मात्रा का वीर छन्द, पद १६ और १७ में ४६ मात्रा के चंचरी छन्द का प्रयोग है। बालकांड का पद ३५, अयोध्याकांड के पद ७, १०, १२ विषम मात्राओं से युक्त हैं।

विनयपत्रिका—पद १, २, १२६, १२७ और १२८ में चौपाई, पद ३, १३९ १४० में रूपसवैया, पद २१, १११—१२४, १४३, १४३, १४५ में सार छन्द; पद १०७—११० में २२ मात्रा का दिगपाल, पद ३२—३५ में २३ मात्रा का हीरक पद ११५, १४ मात्रा का स्वरूपी छन्द है। पद १३७, १३८ और १४१ में चौबोला, पद १४४ में 'सरसी', पद १४७—१५३ में २२ या २३ मात्राओं का 'प्रिय छन्द', पद १५३ में ३१ मात्रा का वीर छन्द और १५४ पद में २० मात्रा की टेक के साथ 'लावनी' छन्द का प्रयोग है।

पद १२९—१३४ और १७९—१८२ पदों में पंक्तियों की मात्राएँ विषम हैं।

२१ राग टोड़ी

गीतावली—बालकांड के पद ४६ में चौबोला, पद ४६, ६५ और ६८ में सार; पद ६१, ६४, ६६, ६७, ६९—७४, ८४—८८, ९२, ९४—९६ में घनाक्षरी (मनहरण), वर्णिक छन्द और लंकाकांड के पद २३ में लावनी छन्द का प्रयोग हो रहा है।

विनयपत्रिका—पद ७८—८० ने २२ मात्राओं का कुण्डिल, पद ८१, ८२ में 'सार' छन्द का प्रयोग है।

२२. राग जैतश्री

गीतावली—बालकांड पद २ और २८ में 'सरसी'; बालकांड पद ४, लंकाकांड के पद २२ में 'सार', सुन्दरकांड के पद ९ में रूपसवैया छन्द है। बालकांड के पद ६, सुन्दरकांड के पद १७, ४७ और उत्तरकांड के पद १० में पंक्तियों की

मात्राएँ विषम हैं।

विनयपत्रिका—पद ६३, ८३ और ८५ में ३० मात्रा की 'लावनी' छन्द का प्रयोग है इसमें क्रमशः १६ १८, १८ मात्राओं की टेक है।

२३. राग केदारा

कृष्णगीतावली—पद १४ में १४ मात्रा की टेक के साथ और पद ५२ और ५५ में १६ मात्रा की टेक के साथ २४ मात्रा का रूपमाला छन्द है। पद १६ और १७ में घनाक्षरी (मनहरण) वर्णिक छन्द है। पद ७, ८ और १५ की पंक्तियों की संख्या में व्यतिक्रम है।

गीतावली—बालकांड पद में दोहा और हरिगीतिका दोनों छन्द प्रयुक्त हैं। पद १८, १६, ८१, ७३—७६, ८८, ८६ सुन्दरकांड पद १, ४४ लंकाकांड में पद ५, १०, १२, १३ सभी में 'सार' छन्द, बालकांड पद २ , २८, ६७ में 'रूपमाला' बालकांड पद ७० में चौबोला, बालकांड पद १०४, १०५, १०६ किष्किन्धाकांड १, सुन्दरकांड १०, ११, १६, २०, २१, ४६ लंकाकांड पद १३ सभी में रूपसवैया, बालकांड पद १०७ लंकाकांड के पद १५ में लावनी, सुन्दरकांड के पद २, ६ लंकाकांड के पद १४ उत्तरकांड के पद ६, २३ में शोभन छन्द सुन्दरकांड के पद ३८, ३६, ४१, ४२ सभी में २६ मात्रा का मरहटा छन्द है। उपर्युक्त मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त इस राग में वर्णिक छन्द भी है बालकांड के पद १०, ११ अयोध्याकांड के २६, ३२—३४ में घनाक्षरी (मनहरण) बालकांड के पद ८२ में ३२ वर्णों की रूप घनाक्षरी, बालकांड पद ८३, अयोध्याकांड ३७ सुन्दरकांड पद ४८ में अनियमित दण्डक है। बालकांड—पद २०, २१ अयोध्याकांड—पद १६, २४, २५, ३८, ३६, ४०, ६६—७२ अरण्यकांड पद १, सुन्दरकांड ७, ८, १८, २८—३७, ४० लंकाकांड पद ११ सभी पदों की पंक्तियों की मात्राएँ विषम है।

विनयपत्रिका—पद ४४ में ३७ मात्रा का करखा छन्द है। पद ४१, ४२, ४३, २१२, २१३ में मात्राओं का व्यतिक्रम है।

२४. राग गौरी

कृष्णगीतावली—पद ६—१३, १६, ५६—५६ में ३२ मात्रा का रूपसवैया और पद २३ में हरिगीतिका छन्द है।

गीतावली—बालकांड—पद ४६, अयोध्याकांड ६१—६८, ८४ में 'सार', बालकांड पद ४७ में 'विष्णु पद', अयोध्याकांड पद ३, ३५, ३६ लंकाकांड पद २० में 'रूपसवैया', अयोध्याकांड पद ५६, ८३ में सरसी, उत्तरकांड पद २१ में 'दोहा', अरण्यकांड पद ६ में ३० वर्णों का अनियमित दण्डक छन्द है। अयोध्याकांड पद २, ४७, ६० अरण्यकांड पद १० में मात्राओं का व्यतिक्रम है।

विनयपत्रिका—पद ३१ में 'मरहटा', पद ३६ में चौपाई, पद ४५ में ताटंक, पद १९१, १९२ में 'दोहा', पद १९४, १९५ में 'सार' और पद १९६, १९७ में

अनियमित दण्डक वर्णिक छन्द है। पद १९० और १९३ की पंक्तियों में व्यतिक्रम है।

२५. राग कल्याण

गीतावली—बालकांड पद २५ उत्तरकांड पद ३, ४, ७ में ४६ मात्रा का चंचरी, पद ५८ में 'रूपसवैया', उत्तरकांड पद ५, ६ में ४० मात्रा का विजया छन्द है। अयोध्याकांड-पद १८ और अरण्यकांड के पद २ तथा ४ में पंक्तियों की मात्राओं में व्यतिक्रम है।

विनयपत्रिका—पद २०८, २३३, २३४, २३९ में सरसी, पद २०९—२११ में 'विजया', पद २१४, २१५, २१९ में 'शोभन', पद २१८ में रूपमाला, पद २२६ में विष्णुपद, पद २३० २३२, २३५—२३८ में 'सार', पद २४०—२४१ में रूपसवैया छन्द है। उपर्युक्त मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त पद २४६—२५७ में 'अनियमित दण्डक' और पद २५८—२६४ में घनाक्षरी (मनहरण) वर्णिक छन्द भी है। पद २१६, २१७ और २२० में २५ मात्रा का मुक्तामणि और २४ मात्रा के शोभन छन्द के साथ-साथ प्रयुक्त किया गया है। पद २२१—२२५, २२७—२२९, २३१ एवं २६५—२७९ में पंक्तियों में विषम मात्राओं के कारण छन्द का निरूपण कठिन है।

निष्कर्ष—तुलसी ने विभिन्न रागों में जो-जो काव्यगत छन्द प्रयोग किए हैं उनका विवरण उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा चुका है। इस विवेचन के माध्यम से हम तुलसी के प्रत्येक पद में यथासम्भव प्रयुक्त छन्द को जान सकते हैं। इस स्थल पर यह कह देना अनुचित न होगा कि इन तीनों काव्यों में ऐसे बहुत से पद हैं जिनकी पंक्तियों की मात्राओं में विषमता है और चेष्टा करने पर भी उनके छन्द का निरूपण न हो सका। ऐसे पदों में गेयता है; किन्तु पद की प्रत्येक पंक्ति में जब मात्राओं की विषम संख्या है तब छन्द का निर्णय असम्भव है। काव्य विषयक यह कठिनाई गीत की गेयता में किसी प्रकार का व्यवधान प्रस्तुत नहीं करती। क्योंकि तुलसी के पदों का गायक अपनी द्रुत या विलम्बित गति से मात्राओं की असमानता की खाई को पाट कर ले जाता है और श्रोता को उसका अनुमान भा नहीं हो पाता।

छन्द विषयक उपर्युक्त विवेचन में हमने यह देखा है कि तुलसीदास ने मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। मात्रिक छन्दों में रूपसवैया, रूपमाला, हरिगीतिका, सरसी, विजया, कुण्डल, लावनी, सार, विष्णुपद, चौबोला, चंचरी, शोभन, मरहटा, दोहा, विनय, चौपाई, दुर्मिल, वीर, मुक्तामणि, करखा, हीरक, दिगपाल, स्वरूपी, प्रिया आदि और वर्णिक छन्दों में घनाक्षरी, अनियमित दण्डक, रूप घनाक्षरी आदि का प्रयोग हुआ है।

: ६ :

तुलसीदास के पदों में संगीत का शास्त्रीय स्वरूप

विषय-प्रवेश

मुसलमानों के आतङ्कों के मध्य में जब भारतीय संस्कृति और दर्शन के माध्यम से जन-जीवन और धर्म के आदर्शों के संरक्षण की समस्या उठी तब भावुक भक्त कवियों ने अपने पदों के लिए संगीत की 'ध्रुपद शैली' को स्वीकार किया। यह शैली परम्परागत थी और दीर्घकाल से संगीत के विशुद्ध तत्त्वों को अपने में सन्निविष्ट किए थी। उसी को तुलसी ने भी अपने पदों के लिए अपनाया था, जिसका सम्यक् विवेचन गीति-शैली के अन्तर्गत किया जा चुका है।

इस स्थल पर गीति-शैली के निरूपित तथ्य का विश्लेषण करके यह देखना है कि उसमें शास्त्रीय तत्त्वों का सन्निवेश कहाँ तक है? शास्त्रीय संगीत में राग-रागनियों के लक्षण, गान-काल और रस का सदैव ध्यान रखा जाता है। गायक अपने गान में इन तत्त्वों का कभी अतिक्रमण नहीं करता। फलतः हम भी इन्हीं तत्त्वों को लेकर तुलसी के पद साहित्य में संगीत के शास्त्रीय स्वरूप का निरूपण करेंगे।

उपर्युक्त इङ्गित विवेचन में प्रविष्ट होने से पूर्व इस तथ्य का उल्लेख आवश्यक है कि गो० तुलसीदास या अन्य किसी भक्त कवि ने अपने पदों के गान का कोई लक्षण या किसी प्रकार का स्वराङ्कन नहीं किया है। फलतः गान-तत्त्वों को ध्यान में रखकर यह नहीं कहा जा सकता कि अपने पदों में उपर्युक्त तत्त्वों का उन्होंने कहाँ तक उपयोग किया है? इस कठिनाई के कारण आज का कोई भी शास्त्रीय संगीत का गायक या आलोचक विकल्प से उनका जो रूप भी रखना चाहे रख सकता है; किन्तु उनके शास्त्रीय स्वरूप का ध्यान रखना अवश्य ही अनिवार्य होगा अन्यथा पद-रचयिता के साथ अन्याय होने की पूर्ण सम्भावना है।

प्राचीन रागों के गायन में आलाप[1] का भी प्रमुख स्थान रहा है। अपनी वाणी

---

१. ग्रहांशमन्द्रताराणां न्यासापन्यासयोस्तथा।
अल्पत्वस्य बहुत्वस्य षाडवौडुवयोरपि॥
अभियक्तिर्यत्र दृष्टा स रागालाप उच्यते॥
—(संगीत रत्नाकर २-२३-२४)

से विभिन्न स्वरों की ध्वनियों को प्रकट करता हुआ गायक गेय राग का स्वरूप अंकित कर देता है और गीत की सम बैठा लेने पर वह राग-गान का सूत्रपात करता है। उसको राग-गान में 'ताल' का ध्यान रखना भी आवश्यक होता है क्योंकि उनके आधार पर ही राग-गति ठीक रखी जा सकती है।

यद्यपि राग के उपर्युक्त तत्त्वों का तुलसी के पद-काव्य में संकेत नहीं है; किन्तु उन्होंने उनका ध्यान अवश्य रखा होगा, अन्यथा शास्त्रीय संगीत का स्वरूप प्रस्तुत करने में उन्हें कठिनाई होती और वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते।

अब आलोच्य विषय के आधार पर तुलसी के पदों में शास्त्रीय संगीत के स्वरूप का आकलन करना आवश्यक है।

१. राग के लक्षण

गों० तुलसीदास ने अपने तीनों गीत काव्यों में आसावरी, कान्हरा, केदारा, गौरी, धनाश्री, नट, विलावल, मलार, ललित, सोरठ, कल्याण, चंचरी, जैतश्री, टोड़ी, भैरव, मारू, रामकली, बसन्त, विभास, सारंग, सूहो, दण्डक, विहाग, भैरवी, सूहो, विलावल आदि रागों का उपयोग किया है। इन सभी रागों में 'दण्डक' संगीत शास्त्र में अवश्य नहीं मिला है। तुलसीदास जी की विनयपत्रिका के पद ३७ में 'दण्डक' का उल्लेख है। उसका केवल एक ही पद है। उसको 'राग दण्डक' न लिखा होने के कारण यह स्पष्ट है कि यह कोई राग न होकर काव्य का वर्णिक छन्द है। शेष सभी रागों के लक्षण संगीत शास्त्री के रीति-ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। महाकवि तुलसी ने अपने काव्यों के लिए यह लक्षण उन्हीं से लिए और यथोचित रूप से उनको काव्य में प्रयोग कर भक्ति की रसवती धारा को प्रवाहित किया।

तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त उपर्युक्त सम्पूर्ण रागों के शास्त्रीय स्वरूपों का विवेचन आवश्यक होते हुए भी इस स्थल पर कुछ रागों को ही लेकर महाकवि की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में एक धारणा प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है।

१. राग आसावरी

रागिण्यासावरीयं मृदुगमधनिभिस्तीव्रकेणर्षभेण।
संपन्नारोहणे या खलु गनिरहिता चावरोहे तु पूर्णा॥
वादी स्याद्धैवतोऽस्यां श्रुतिरुचिरतरो गश्चसंवाद्यभीष्टो।
विष्वक्तान प्रसारैमृदुमधुरगलैर्गीयते संगवे सा॥

—(राग कल्पद्रुमांकुर)

इस राग में वादी—ध, सम्वादी—ग, स्वर—ग, ध, नि कोमल, आरोह में वर्जित स्वर—ग, नि, आरोह—सा, र, म, प, ध, सां, अवरोह—सां, निध, प, मग, रेसा। जाति—औड़व सम्पूर्ण।

२. राग भैरव

रागादिर्भैरवाख्यो मृदुऋषभे मधस्तीव्रगस्तीव्रनिश्च ।
वाद्यस्मिन् धैवतोऽसावृषभ इह तु संवादिरूपोऽभिगीतः ।।
आरोहेऽल्पर्षभत्वं क्वचिदपि मृदुनि प्राहुरेके विकल्पं ।
प्रातःकालेषु नित्यं जगति सुमतिभि सुस्वरं गीयतेऽसौ ।।

—(राग कल्पद्रुमांकुर)

वादी—ध, संवादी—रे, स्वर—रे, ध कोमल और शेष सभी स्वर शुद्ध, आरोह—सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सां, अवरोह—सांनिध, प, म, ग, रेसां, जाति—सम्पूर्ण, गान-समय—प्रातः ।

३. राग भैरव

आभांत्यस्यां रिगमधनयः कोमला मोऽत्रवादी ।
स संवादी क्वाचिदपि धगौ वादि संवादिनौ च ।।
प्रातर्गेया सुरुचिरतरा स्वैरिणी सर्वगम्या ।
सम्पूर्णा साजनयति सुखं भैरवी रागणीयम् ।।

—(राग कल्पद्रुमांकुर)

वादी—म, संवादी—स, स्वर—म शुद्ध शेष सभी स्वर कोमल, आरोह—सा, रेगम, पद्य, निसां, अवरोह—सां, नि ध प मग, रेसा, जाति—सम्पूर्ण गान-समय—प्रातः ।

४. राग विलावल

रागो वेलावलीति प्रथित इह सदा मान्यतीव्रस्वरेषु ।
षडजन्यासग्रहोऽयं प्रकृति सुरुचिरो धैवतांशो गमंत्री ।।
कल्याणांगं दधानौ विलसति निगयोर्वक्रता चात्र नित्यं ।
प्रातर्गेयोऽभिगीतो रमयति हृदयं शृण्वतामेष पूर्णः ।।

—(राग कल्पद्रुमांकुर)

वादी—ध, संवादी—ग, स्वर—सभी शुद्ध, आरोह—सा रे ग म प ध नि सां, अवरोह—सां नि ध प म ग रे स, जाति—सम्पूर्ण, गा-समय—प्रातः ।

.. राग मारू

शुद्धस्वरसमुद्भूतो गान्धारोद्ग्राहसंयुतः ।
आरोहे त्यक्तधो ज्ञेयो गान्धारच्यवितोदितः ।।
अग्रस्वस्थानसंयुक्तः पुनः स्वस्थानसंयुतः ।
आन्दोलितनिषादाद्यो मारुर्धान्होलितो मुहुः ।।

—(संगीत पारिजातः ४७४-४७५)

वादी—र्ग, संवादी—नि, स्वर—में कोमल तीव्र वर्जित स्वर—आरोह में रेध, आरोह—प नि सा ग मे प नि सां, अवरोह—नि रे नि ध प मे ग रे सा,

जाति—औडव सम्पूर्ण, गान-समय—दिन का अन्तिम प्रहर।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर कृष्णगीतावली, गीतावली और विनयपत्रिका के पद, जो इन रागों के अन्तर्गत आते हैं, सरलता से गाए जा सकते हैं। अवशेष रागों के सम्बन्ध में भी यह तथ्य खरा सिद्ध होता है। इस प्रकार यह सरलता से सोचा-समझा जा सकता है कि गो० तुलसीदास ने अपने समय तक प्रचलित रागों के धर्मों को ही अपनी पदावली के लिए चुना। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि उनके पद-काव्यों में स्वराङ्कन न होने पर भी संगीत के रीति-ग्रन्थों में प्रतिपादित लक्षणों के आधार पर उनके पद गाए जा सकते हैं और अद्यापि संगीत-शास्त्री गाते हैं। फलतः उनके पदों में शास्त्रीय संगीत का स्वरूप समाहित है जो अपने स्वरूप में संगीत को और भाव-धारा में काव्य को चिर-आभारी किए हैं।

२. राग-गान-काल

रागों के गान-काल की पद्धति प्राचीन काल से भारतीय संगीत में स्वीकृत और सर्वमान्य रही है। स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण से राग की प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। फलतः सामाजिक का अपेक्षित रंजन नहीं हो पाता। रागों के समय का निर्धारण वस्तुतः प्रकृति और वातावरण के आधार पर ही निश्चित हुआ है क्योंकि उसी के अनुकूल राग के स्वर तथा अन्य अंग रहते हैं।[1]

गान-काल के सम्बन्ध में मैथिल कवि लोचन ने अपनी 'राग तरंगिणी' में निम्न सिद्धान्त दिए हैं—

तुम्बुरू नाटके

श्री पञ्चमी समारभ्य यावत्स्याच्छयनं हरेः।
नावद्वसन्त रागस्य गानमुक्तम्मनीषिभिः॥
इन्द्रोत्थानं समारभ्य यावद्दर्गामिहोत्सवम्।
गेया तावद्बुधैर्नित्यं मालश्री सा मनोहरा॥
प्रातगयस्तु देशाखो ललितः पटसंजरी।
विभासो भैरवी चैव कामोदो गण्डकर्य्यपि॥
एका वराडी मध्याह्ने सायङ्कार्णाट मालवौ।
नाटश्चैव विशेषेण शेष गेयस्तु सर्वदा॥
हिन्दोलश्च वसन्तश्च वसन्ते रक्तिदायकः।

---

१. एवं कालविधिं ज्ञात्वा गायेद्यः स सुखी भवेत्।
रागावेला प्रगानेन रागाणां हिंसको भवेत्॥
यः शृणोति स दारिद्री आयुर्नश्यति सर्वदा॥
—(संगीत मकरन्द—२३-२४)

नाटौ गोडो वराडी च गर्ज्जरी देशिरेवच ।।
पूर्वाह्गे ानमेतेषां निषिद्धमिति तद्विदः ।
नैश्रापराह्णे गातव्यौ भैरवी ललितौ क्वाचित् ।।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में श्री पंचमी से हरिशय की सन्देश्च आषाढ दुहत तक का 'वसन्त राग' अनन्तर इन्द्रोत्थान एक पर्व से दुर्गामहोत्सव तक 'मालश्री' राग-गान का विधान इंगित है। देशाख, ललित, पटमंजरी, विभास, भैरवी, कामोद, गण्डक आदि राग प्रातः वेला, वराडी मध्याह्न वेला, कर्णाट, मालव, नाट सायं वेला तथा शेष राग सभी समय गेय है। हिंडोल, वसन्त आदि राग वसन्त ऋतु में ही आनन्ददायक है। नाट, गोड. वराडी गुर्जरी आदि रागों का पूर्वाह्न में और उसी प्रकार भैरवी तथा ललित को कभी भी अपराह्न में न गाना चाहिए। आगे चलकर लोचन कवि ने भी 'राजाज्ञा से राग-गान में काल दोष नहीं लगता है' कहा है।[2]

उपर्युक्त से आगे लोचन कवि ने गान-काल के सम्बन्ध में विशेष रागों को लेकर और भी कहा है—

ब्राह्मेमुहुर्त्ते गातव्यो भैरवो राग सत्तम ।
अरुणोदयवेलायां गेया रामकरी पुनः ।।
प्रातर्वेलावली गेया पूर्वाह्णे सुभगोऽपि च ।
पूर्वाह्णे याति गायेत टोडीमतिमनोरमा ।।
संगरादौ वराडी च गेया गायकनायकैः ।
दिवा तृतीमप्रहरे गातव्यासावरी जनै ।।
काफी मध्याह्न मध्येतु शारंगोऽपि च गीयते ।
अपराह्णे नटोगेयस्तद्वद्गायेत मालवम् ।।
अपराह्णावसाने च सायाह्ने सति यातिवा ।
सायंकालस्तु कालोवै गौरी रागस्य भूतले ।।
निशामुखे तु कल्याणः केदारस्तु महानिशि ।
तृतीय प्रहरे रात्रावडानोऽपि च गीयते ।।
द्वितीयप्रहरे रात्रौ कार्णाटः सर्वसम्मतः ।
अपराह्णेऽपि सौराष्ट्रम्प्रभाते संगरेऽपि च ।।
पञ्चमो मेत्रसञ्चारे मल्लारः परिगीयते ।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में ब्रह्ममुहूर्त्त से लेकर रात्रि वेला तक भैरव, रामकरी,

---

१. मैथिल कवि लोचन—राग तरंगिणी
—पृष्ठ १३१-१३२ (दरभङ्गा-राज प्रेस)

२. 'रंगभूयौ नृपाज्ञायां कालदोषो न विद्यते' —(राग तरंगिणो)

३. लोचन रागतरंगिणी पृष्ठ १३२

विलावल, सुभग, टोडी, संगर, वराडी, आसावरी, काफी, शारंग, नट, मालव, गौरी, कल्याण, केदारा कर्णाट, सोरठ, मल्लार आदि रागों का गान-समय कवि द्वारा प्रदान किया गया है। विशिष्ट राग के लिए विशिष्ट समय के संकेत का कारण स्वयं लोचन कवि ने रागतरंगिणी में नहीं दिया है। इससे प्रतीत होता है कि कवि ने मिथिला में जो भारत का सांस्कृतिक भू-खण्ड रहा है, शेष देश के समान प्रचलित परिपाटी को लिपिवद्ध कर दिया।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि रागों के गान के सम्बन्ध में संगीत शास्त्र के ग्रन्थों में कोई विधान निर्णीत नहीं हुआ था ; अन्यथा उसका उल्लेख अवश्य मिलता। इस सम्बन्ध में परम्परा-पालन ही अक्षुण्ण रही।[1] फलस्वरूप राम-काल निर्धारणके सम्बन्ध में श्रीभातखण्डे जी ने कुछ सिद्धान्त बनाए, जो आज के संगीत के विद्वानों को भी मान्य हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि श्रीभातखण्डे जी ने एतत्सम्बन्धी परम्परागत तथ्यों की उपेक्षा नहीं की है। इसी से शास्त्रीय संगीत के राम-काल की कसौटी का बहुत कुछ समाधान उनके सिद्धान्तों में मिल जाता है। रायबहादुर विष्णु स्वरूप (Theory of Inbia music), मुरारि प्रसाद (हिन्दुस्थानी संगीत प्रवेशिका भाग २) एच० ए० पोपले (The music of India), जी० एच० रानाडे (Hindustoni Music). एलेन उनीलउ (Northern Indian Music), ओम्कारनाथ ठाकुर (संगीताञ्जलि भाग ३) ने रागकाल के सम्बन्ध में श्रीभातखण्डे जी के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

इस स्थल पर भातखण्डे जी के तथ्यों का उल्लेख परमावश्यक है क्योंकि उन्हीं के प्रश्रय से गो० तुलसीदास की पद-प्रणाली में प्रयुक्त राम-काल के सम्बन्ध में कोई निर्णय किया जा सकेगा।

वे राम जो पूर्वांग (स से सतक) में वादी स्वर रखते हैं वे पूर्व राग कहे जाते हैं और उनका गान काल मध्याह्न से मध्य रात्रि तक और जिन रागों के उत्तराङ्ग (प से स तक) में वादी स्वर होते हैं वे उत्तर राग कहे जाते हैं। इनका गान काल

---

१. प्राचीन काल से गान-क्रिया के समय निर्धारित होते आए हैं। यज्ञ-यागादिक के विशेष अवसरों पर सामगान करने वाले सामग भी प्रातः सवन, मध्याह्न सवन और सायं सवन—ऐसे तीन काल विभागों में भिन्न-भिन्न प्रकार का गान गाते थे। जव से राग-परम्परा का आरम्भ हुआ है, तव से किस समय पर कौन-सा राग गाया बजाया जाय, इसका उल्लेख ग्रन्थों में पाया जाता है। समय की मर्यादा निर्धारित करने में किसी विशेष नियम का परिपालन होता था या नहीं, यह संशोधन का विषय है।
—ओम्कारनाथ ठाकुर—संगीताञ्जलि भाग ३ पृष्ठ १९

मध्य रात्रि से लेकर मध्याह्न तक होता है। इनके अतिरिक्त प्रातः, सायं आदि मिश्रित वेला के रागों को सन्धिप्रकाश राग कहा जाता है, इनमें प्रातः सन्धिप्रकाश रागों में शुद्ध 'म' और सायं के सन्धिप्रकाश रागों में तीव्र 'म' रहता है। उपर्युक्त के अतिरिक्त श्री भातखण्डे ने इन सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है—

१. अरुणोदय और सूर्यास्त वेला के 'सन्धिप्रकाश रागों' में 'रि' 'ध' कोमल रहते हैं।

२. मध्याह्न और मध्यरात्रि के रागों मे 'ग' और 'नि' कोमल रहते है।

३. जिन रागों में रि ग ध नि शुद्ध रहते हैं वे सन्धिप्रकाश के रागों के अनन्तर दिन या रात्रि के प्रथम प्रहर के राग हैं।

४. दिन या रात्रि के अन्तिम प्रहर के रागों में 'स' 'म' 'प' का आग्रह रहता है।

सायं वेला के सन्धिप्रकाश रागों में 'ग' 'नि' और प्रातःकालीन सन्धिप्रकाश रागों में 'रि' 'ध' का होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।[1]

उपर्युक्त सिद्धान्तों तथा संगीत-परम्पराओं के माध्यम से गो० तुलसीदास के रागों का निम्न काल निर्धारण होता है—

१. **उत्तर राग**—(अ) प्रथम प्रहर—(६ बजे से ९ बजे तक प्रातः) विभास, भैरव, आसावरी
(आ) द्वितीय प्रहर (९ बजे से १२ बजे तक प्रातः) तोड़ी, भैरवी, सारंग, सूहो, बिलावल, सूहो बिलावल।

२. **पूर्व राग**—(अ) दिन तृतीय प्रहर (१२ बजे से ३ बजे तक अपराह्न) धनाश्री
(आ) रात्रि प्रथम प्रहर (६ बजे से ९ बजे तक) कल्याण, केदारा
(इ) रात्रि द्वितीय प्रहर (९ बजे से १२ बजे तक) नट, सोरठ, विहाग, कान्हरा

३. **सन्धिप्रकाश राग** (अ) (प्रातः वेला) ललित, रामकली
(आ) (सन्ध्या वेला) मारू, गौरी, जैतश्री

४. **ऋतु राग**—(अ) वसन्त ऋतु, वसन्त, चंचरी
(आ) वर्षा ऋतु, मल्हार

तुलसी के तीनों गीत काव्यों के उपर्युक्त राग परम्परागत शास्त्रीय आधार पर ही निर्मित हैं। इससे उनमें गान काल का कोई व्यतिक्रम प्रस्तुत नहीं होता है।

---

1. Alain Danielon—Northern Indian Music Page 132

३. राग रस

राग-रागिनी में रस-तत्त्व भी शास्त्रीय संगीत का एक अभिन्न अंग है। काव्य के समान संगीत में भी रसों की मान्यता है। यदि प्रथम के अन्तर्गत रस का मान्यता भाव-गत है तो द्वितीय में स्वर-गत। संगीत में स्वरों की तीव्रता और कोमलता के अतिरिक्त रस-तत्त्व सहार भेद, उच्चार-भेद, लय-भेद, गमके ताल आदि पर भी निर्भर करता है।

भरत ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत आदि आठ रसों को अपने उल्लेख का विषय बनाया था। अनन्तर मनीषियों ने 'शान्त' नामक एक नवीन रस निरूपित किया। इस समय काव्य में वात्सल्य नाम के एक दसवें रस की भी मान्यता हो उठी है।

जैसा कहा जा चुका है कि काव्य का रस भाव के आश्रित है। भाव की मान्यता संगीत में भी है। इसी से भावनुकूल राग में स्वर-निर्धारण होता है। स्वरों के माध्यम से रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य भरत का निम्न सिद्धान्त संगीत में मान्य रहा है—

बाद्यप्रयोगविहितान् स्वरांश्चैव निबोधत् ।
हास्यशृङ्गारयोः कार्यौ स्वरो मध्यमपञ्चमौ ॥
षड्जर्षभौ च कर्तव्यौ वीररौद्राद्भुतेष्वथ ॥
गान्धारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करूणे रसे ।
धैवतश्च प्रयोक्तव्यो वीभत्से सभयानके ॥

—(ना० शा० २९-१६-१८)

उपर्युक्त के आधार पर अन्य स्वरों के साथ मध्यम और पंचम स्वरों पर विशेष बल हास्य और शृंगार में; षड्ज और ऋषभ पर वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस में; गान्धार और निषाद पर करुण रस में, और धैवत पर वीभत्स और भयानक रस में करना चाहिए।

ठीक उपर्युक्त के समान रस-सिद्धान्त अहोबल पण्डित ने अपने 'संगीत पारिजात' में विवेचित किया है।

स मौ हास्ये च शृङ्गारे स्वरौ स्यातां तथा धनी ।
पो वीभत्से तथा दैन्ये भयानक रसे भवेत् ॥
रसे शृङ्गारके रि स्याग्दान्धारो हास्यको पुनः ।
तीव्रो वीरेऽद्भुते रोद्रे हास्ये तीव्रतराः स्वराः ॥
तात्रतरोऽपि शृङ्गारे रसे मध्यम ईरितः ।
तीव्रतमश्च शृङ्गारे मृदु मो हास्यके रसे ॥
एवं रस विभागः स्यात्स्वरेषु सप्तसु ध्रुवम् ॥ —(९५-९७)

रागों के विविध स्वरों पर ही रागों के पूर्व स्वरूप[1] के विवरण भी संगीत शास्त्र में उपलब्ध हैं। रागों का मूर्त स्वरूप संगीत के रस-निरूपण का अच्छा साधन रहा है। संगीत कला की इस विशिष्ट प्रवृत्ति का स्रोत मुसलमानों से पूर्व तक प्रवाहित है। अनन्तर भारतीय संगीत कला में मुसलमानी प्रभाव के कारण वर्ण संकरता के प्रवेश होते ही इस प्रवृत्ति का उन्मूलन हो उठा दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि मुसलमानों में पूर्ति-भाव का अभाव था इससे भला वे भारतीय संगीत के इस तत्त्व को कैसे उपयुक्त समझते। फिर राजकीय शक्ति उनके साथ थी इससे उन्होंने उसकी उपेक्षा रखने में ही अपने अहं को सुरक्षित समझा। **फलस्वरूप संगीत का भावना प्रधान यह अंग विशृङ्खल हो गया। हिन्दू संगीतज्ञों ने भी मुसलमानी प्रभाव[1] के समक्ष अपने चरित्र में इसके संरक्षण की कोई दृढ़ता नहीं दिखलाई।**

इस प्रकार नव रसों का स्वरूप काव्य के अतिरिक्त संगीत कला में भी सम्मान पाता रहा है। इधर श्री भातखंडे जी ने शृंगार, करुण और शान्त इन तीन रसो ही सभी रसों को समाविष्ट कर दिया है। तुलसीदास तक सच तो यह है कि नव-रस का ही अपना स्थान रहा है और ललित कलाओं में उन्हीं के विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायी भाव मिलते रहे हैं। उन्हीं नव रसों की स्थापना ही संगीत में भी रही है; किंतु यहाँ यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि संगीत में रस निष्पत्ति अन्य कलाओं की अपेक्षा कुछ दुष्कर है। जब तक संगीतज्ञ रस के लिए केवल स्वर की अपेक्षा करता है और उसी की साधना करता है, 'रस' तत्त्व प्राप्त कर लेना कठिन है, किन्तु काव्य का आधार ले लेने पर भावनाएँ उसकी सहायक बन जाती हैं। फिर

---

१. अ-भस्माङ्गलिप्तावयव: सुगात्रो भालस्थले शोभित शीत रश्मिः। त्रिशूल-
हस्तो वृषभधिरूढ़ स भैरवो यः कथितो मुनीन्द्रैः।
—(रागनिरूपणम् पृष्ठ १३)

आ-हेम प्रभाया सुरभूषणा च नीलं निचोलं व पुषा वहन्ती कान्ते समीपे
कमनीय कण्ठा मानोन्नता रामकली मतेयम्। —(संगीत दर्पण २-६०)
इ-तुषार कुन्दोज्ज्वलदेहयष्टिः काश्मीरकर्पूर विलिप्त देहा।
विनोदयन्ती हरिण वनान्ते वीणाधरा राजति तोडिकेयम्॥
—(संगीत दर्पण २-५३)

ई-कृपाण पाणिस्तिलकं ललाटे सुवर्णवेशः समरे प्रविष्टः। प्रचण्ड मा
किल रक्तवर्णः कल्याण रागः कथितो मुनीन्द्रैः।
—(राग कल्पद्रुप पृष्ठ ३२)

सामाजिक को रसास्वादन करा देने में उसे कोई कठिनाई ही नहीं पड़ती।[1] इस प्रकार संगीतज्ञ कवि केवल संगीतज्ञ से अधिक भाग्यशाली है। वह दोनों कलाओं के मिश्रण से 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का सजीव स्वरूप समाज में प्रसारित कर सकता है।

उपर्युक्त कतिपय तथ्यों के आधार पर मल्हार में शृंगार, बसन्त, रामकली, ललित आदि में शान्त और करुण, विहाग में शृंगार और करुण ; भैरव में रौद्र, भैरवी में शृंगार, करुण, वात्सल्य ; आसावरी में शृंगार, केदारा में करुण, गौरी में करुण रस आदि।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर तुलसी के पदों में रस की व्यवस्था मिलेगी। विनयपत्रिका में आदि से अन्त तक शान्त-रस आप्लावित है। श्री कृष्णगीतावली और गीतावली में वात्सल्य, शृंगार, वीर, अद्‌भुत, करुण आदि रसों का प्रावल्य मिलेगा। तुलसी के गीत-काव्यों में हास्य, रौद्र, भयानक और वीभत्स रसों का पूर्ण अभाव है।

निष्कर्ष—शास्त्रीय संगीत में पखावज, वीणा, मृदंग आदि विशुद्ध भारतीय वाद्यों का प्रमुख स्थान है। किन्तु तुलसी के साथ किसी भी वाद्य यन्त्र का सम्बन्ध नहीं रहा है। उनके उपलब्ध चित्रों और विवरणों से यह ज्ञात नहीं होता कि उन्होंने कभी कोई वाद्य नहीं बजाया हो या गाया हो और उनके साथ उनकी शिष्यमंडली ने वाद्य यन्त्रों द्वारा ताल स्वर का सहयोग दिया हो। तुलसी की इस विशिष्ट प्रवृत्ति से यह स्पष्ट है कि वह कवि प्रथम हैं और गायक पीछे। सम्भव है कि इन्होंने अपने पदों का केवल निर्माण ही किया हो गायन न किया हो। वस्तुतः यह तथ्य ही तुलसी के पद साहित्य के अनुकूल है यों शास्त्रीय संगीत का उन्हें पूर्ण ज्ञान था, उसके तत्त्वों का उन्होंने उपयोग भी किया ; किन्तु उसके इस उपयोग में भी उनके पद-काव्य के तत्वों से बोझिल प्रतीत होते हैं।

1. The task of the artist lies iu depicting the particuler Rasag is giviug expression in hiswork to the Sentiments desired to be expressed. It is clearthe poet has the greatest advantage the painter and the sculptor come next, as they get the advantage of the Anudhaves (अनुभाव) which has been determined for each Btave or Santiment, The tesk of the musician is rather difficult, but if he can combine poetry with music in his songs, and take help of the Aurblaves in his gesticulations, his performance will surely surpress that of the others; Henee the vecassitp of suitabie songs for music and the utility of proper gesticulating.

Rai Bahadur Bishau swaroop—Theory of Indian Music 190-191.

: १० :

मध्ययुगीन साहित्यिक परम्पराएँ और तुलसी

परम्परा और प्रयोग

काव्य के अन्तर्गत परम्परा का आशय है उसके अंगों में प्रयुक्त विविध रूपों का अनुसरण। पूर्ववर्ती कवियों ने अपने काव्यों में जिन विधि-विधानों, भावनाओं और काव्य के रूपों का प्रयोग किया है उनका उत्तरवर्ती कवियों द्वारा अपने काव्यों के लिए स्वीकार किया जाना ही 'परम्परा' है। काव्य में समाजिक उपयोगिता के छिपे तत्त्व के कारण कवि उनको कभी पूर्णतः कभी अशंतः स्वीकार करता है। इस प्रकार परम्परा का स्वरूप अक्षुण्ण रहता है और काव्य के अन्तर्गत सम्बद्धता और एक सूत्रता बनी रहती है।

पूर्ववर्ती परम्पराओं को उत्तरवर्ती कवि भले ही स्वीकार कर ले; किन्तु उसे अपने युग की समस्याओं और परिस्थितियों के मध्य से अपना मार्ग बनाना पड़ता है। जिससे सहृदय कवि उनकी उपेक्षा अथवा अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं होता। फलतः परम्पराओं के प्रयोग में वह विचारशील हो उठता है। इसी से परम्पराओं के सजीव होने पर भी वह अपनी प्रतिभा और समाजिक अनुभूतियों के बल पर कुछ नवीन-विचार और रूप का योगदान देने के लिए बाध्य होता है। वस्तुतः काव्य में यह नवीन योगदान ही 'प्रयोग' की संज्ञा प्राप्त करते हैं।

उपर्युक्त दोनों तथ्य कवि-जीवन और काव्य क्षेत्र में सदैव चिरंजीव रहे हैं। उनकी सक्रियता यदि समाज और काव्य के सप्राण होने का प्रमाण है तो निष्क्रियता उनके म्रियमाण होने का। वस्तुतः दोनों के दो विरोधी क्षेत्र होने पर भी काव्य की अभिवृद्धि विकास और प्रगति के लिए उनका होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। कवि इन्हीं के बल पर चलता हुआ काव्य का सृजन करता है जिसमें परम्परागत के साथ प्रयोग भी होता है। यह नवीन प्रयोग ही कवि का काव्य पर वह आधार है, जिसे उसकी मौलिक उद्‌भावना कहा जाता है और जिस पर उसके कवि जीवन की यशोगाथा टिकी रहती है।

हिन्दी काव्य की परम्पराओं का अभिप्रेरक साहित्य

परम्पराओं की शृंखला का सूत्रपात वैदिक साहित्य से आरम्भ हो उठता है। अनन्तर उनका उपयोग 'प्राचीन भारतीय आर्य भाषा' और 'मध्य भारतीय आर्य भाषा'

के साहित्यों में हुआ। उनके साहित्यिकों ने भी नवीन प्रयोग करके भावी साहित्य के लिए सम्पन्न पृष्ठ-भूमि छोड़ी। ये परम्पराएँ और प्रयोग वेदों से लेकर आधुनिक देशी भाषाओं के पृष्ठ-भूमि में पड़ने वाले अपभ्रंश के साहित्य में समाहित हैं इस सम्पूर्ण साहित्य का उल्लेख और विवरण इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में जहाँ पद-परम्परा का शोध किया गया है, प्रस्तुत है।

हिन्दी मध्यकाल की परम्पराएँ

हिन्दी के मध्यकाल की परम्पराएँ उसके 'आदि' या 'वीरगाथाकाल' के काव्य और उसकी स्वयं की परम्पराएँ 'अपभ्रंश काव्य पर आधारित हैं। इस तथ्य से मध्यकाल की परम्पराएँ अपभ्रंश की उपलब्ध परम्पराओं की ऋणी हैं। यहाँ मध्यकाल की परम्पराओं में गो० तुलसीदास के पद-काव्य का हम निर्धारण करें, उससे पूर्व अपभ्रंश काव्य की परम्पराओं का विचार कर लेना उचित है। क्योंकि वे ही वीरगाथाकाल के काव्य में होती हुईं 'मध्यकाल' के काव्य में प्रतिष्ठित हो उठी हैं।

अपभ्रंश काव्य के अनुकरण पर हिन्दी में केवल काव्य ही नहीं लिखे गए; किन्तु उनकी विशिष्ट परम्पराओं को भी ग्रहण किया गया। जैनियों की चरित-शैली में हिन्दी के 'रामचरित मानस' वीरसिंह देव चरित, सुदामा चरित, सुजान चरित आदि लिखे गए। उनमें जैन-चरित-काव्यों की सम्पूर्ण परम्पराएँ समाहित मिलेंगी। जैन-प्रेमाख्यानक काव्य-सुदंसण चरितु से सूफियों के प्रेम प्रधान काव्यों को प्रेरणाएँ मिली हैं। हिन्दी के वीरगाथाका के हमीररासो, खुम्माण रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराज रासो आदि अपभ्रंश के रासक काव्यों की परम्परा में लिखे गए हैं; किन्तु उनमें राजाओं के चरित्र वर्णित होने के कारण वे भी चरित-काव्य की कोटि में ही रखे जा सकते हैं। अन्तर है तो इतना ही है कि जैन-चरितों में शान्त रस का प्रस्फुटन है और क्रमिक विकास में वे आध्यात्मिक हैं जब कि इन रासो ग्रन्थों में वीरत्व और नायक नायिका के संयोग-वियोग शृंगार के विविध चित्रण हैं। इससे इनमें अपभ्रंश की वीर और शृंगार परम्परा का पालन मानना ही उचित है। बज्रयानी सम्प्रदाय की विराग प्रधान भावनाएँ नाथ सम्प्रदाय और अनन्तर कबीर की ज्ञानाश्रयी शाखा में प्रस्फुटित हो उठी हैं। यद्यपि 'नाथ' और 'ज्ञानाश्रयी' सम्प्रदायों की मूल भावनाएं सिद्ध सम्प्रदाय के समान वैराग्य प्रधान ही हैं; किन्तु गोरखनाथ ने उसे योग परक और कबीर ने सामयिक हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समिश्रण को ध्यान में रख कर उसे भक्ति समन्वित अद्वैत परक बनाया।

अप्रभ्रंश का अब्दुर्रहमान विरचित 'सन्देश रासक' एक विरह प्रधान लोक-गाथा है इसकी परम्परा में ही हिन्दी में 'वीसलदेव रासो' और 'ढोला मारू रा दूहा' विरह-काव्य उपलब्ध हैं।

संस्कृत काव्यों की परम्पराओं के अनुकरण में अपभ्रंश काव्यों में मंगलाचरण

सरस्वती वन्दना, सज्जन प्रशंसा, असज्जनता निन्दा, कवि का आत्म निवेदन आदि मिलते हैं। संस्कृत के प्रबन्ध काव्यों के समान इनमें भी ऊषा, सूर्योदय, सन्ध्या, चन्द्रोदय, ऋतु, रात्रि, पवन, उद्यान, नदी, पर्वत युद्ध, सागर आदि के वर्णन चित्रित किए गए हैं। इन सभी में संस्कृत काव्यों के विधान का ही अनुकरण है ; किन्तु फिर भी कवि की अपनी भावनाओं के समावेश में मौलिकता प्रस्तुत हो गई है। ये परम्पराएँ आगे चलकर हिन्दी-महाकाव्यों में रूढ़ि हो गई हैं और पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका आदि सभी में उनका सम्यक् पालन हुआ है।

संस्कृत की 'रत्नावली नाटिका' एवं प्राकृत की 'लीलावती कथा' दोनों की नायिकाएँ सिंहल की थीं। 'भविसयत्त कहा', 'करकण्डचरिउ', 'जिवदत्तचरिउ' आदि के अपभ्रंश काव्यों में समुद्र यात्राओं का वर्णन है, जिनमें नायकों ने सिंहलद्वीप की सुन्दरियाँ प्राप्त की हैं। 'करकण्ड चरिउ' में चित्रदर्शन और गुण-श्रवण से प्रेम जागृत होता है। सुएवाली कथानक रूढ़ि सुवन्धु की वासवदत्ता और वाण की कादम्बरी में ग्रहीत है। उपर्युक्त सम्पूर्ण परम्पराएँ जायसो के पद्मावत में ग्रहीत हुई हैं।

जैन साहित्य में स्वयम्भू के 'पडमचरिउ' एवं 'हरिवंश पुराण' हिन्दी की राम और कृष्ण काव्य-धाराओं को कथा-वृत्त की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इनमें भक्ति-भावना की वह प्रवृत्ति अवश्य नहीं है, जो भक्ति-काल में 'सूरसागर' और 'रामचरित मानस' में उपलब्ध है ; किन्तु कथा का एक विशिष्ट स्वरूप तो उनमें समाहित है ही।

जैनियों के 'पडमचरिउ' 'भविसयत्त कहा' अदि प्रबन्ध-काव्य सन्धियों एवं 'करकण्ड चरिउ' परिच्छेदों में विभक्त हैं। सन्धियाँ संस्कृत के प्रबन्ध-काव्यों की सर्ग-पद्धति का अनुकरण है। ये सन्धियाँ कडवकों में विभक्त हैं। जिसमें एक छन्द का निर्वाह होता है और धत्ता रखने की परिपाटी है। अपभ्रंश काव्य की कडवक और धत्ता की परम्परा हिन्दी में पूर्ण रूप से अपनाई गई है। सूफी कवि कुतुबन, मंझन, जायसी, शेखनवी आदि और राम-काव्य में तुलसी ने चौपाई और दोहा के धत्ता को स्वीकार किया है। जायसी के कडवक में सात अर्धालियों और तुलसी ने आठ अर्धालियों के उपरान्त दोहा का धत्ता दिया है। नूरमुहम्मद ने अपनी 'अनुराग बाँसुरी' में दोहा के स्थान पर सोरठा का धत्ता दिया है।

सिद्ध-साहित्य में सिद्ध सन्तों ने अपने धार्मिक धर्मापदों में विभिन्न राग-रागनियों को प्रतिष्ठित किया है। यह गीत-शैली 'नाथ' और 'ज्ञानाश्रयी' सम्प्रदायों में भी ग्रहण की गई। इससे मैथिली, बंगला और हिन्दी की पद-परम्पराएँ अभिप्रेरित रही हैं। इस प्रकार मध्यकाल का सम्पूर्ण गेय काव्य सिद्धों की गीति-शैली का ही आभारी है।

'गीतगोविन्द' में जयदेव ने कृष्ण-लीलाओं के साथ राधा के परकीया स्वरूप की प्रतिष्ठा कर 'माधुर्य भाव का सर्व प्रथम बीज-वपन किया है। जिससे विद्यापति और चण्डीदास समान रूप से अभिप्रेरित हुए हैं। आगे चलकर सभी कृष्णावत सम्प्रदायों

में इसी माधुर्यभाव की मान्यता हुई है। यहाँ तक तुलसीदास के अनन्तर रामोपासना में भी उसकी प्रतिष्ठा हो उठी है।

अपभ्रंश काव्यों में पादाकुलक, अडिल्ल, पज्झटिका हरिगीत, भुजंग प्रपात, ताटंक, छप्पय, रोला, दोहा, सोरठा आदि छन्दों का प्रयोग मिलता है। हिन्दी के आदि काल (वीरगाथाकाल) और मध्यकाल में इन सभी छन्दों का ग्रहण हुआ है। घनाक्षरी और सवैया अपभ्रंश में अवश्य उपलब्ध नहीं हैं। ये हिन्दी की अपनी उदभावनाएँ हैं।

उपर्युक्त विवेचन में हमने यह देखा है कि अपभ्रंश काल में काव्य वस्तु, भाव, काव्य रूप एवं शैली के सम्बन्ध में विविभ प्रयोग किए गए थे, जो हिन्दी की वीरगाथा-काल और मध्य काल के लिए परम्परा प्रस्तुत करने में समर्थ हुए। यहीं से अभिप्रेरित हो पद-शैली की अविच्छिन्न परम्परा चल उठी है, जो 'नाथ सम्प्रदाय' 'ज्ञानाश्रयी शाखा' एवं 'कृष्णावत सम्प्रदायों' में पल्लवित और पुष्ट हुई, इसी को तुलसी ने श्री कृष्णगीतावली, गीतावली और विनयपत्रिका गेय काव्यों के लिए चुना था। उनका वस्तुतः यह बहुत बड़ा काम था कि विविध शैलियों को उन्होंने काव्यों के लिए ग्रहण कर राष्ट्र, समाज, परिवार और व्यक्ति को समन्वय का अमर सन्देश प्रदान किया। उनसे पूर्व कबीर ने दोहा और पद शैली को अपने काव्यों के लिए चुना था. जिस परम्परा का पालन ज्ञानाश्रयी शाखा के समग्र कवियों ने किया है। कृष्णावत सम्प्रदायों में तो माधुर्य भाव के पोषण के लिए केवल पद-शैली का ही ग्रहण हुआ है। इस प्रकार हम यह देखते है कि मध्यकाल के कवियों ने एक या दो काव्य-शैलियाँ ही ग्रहण की हैं जब कि तुलसी ने दोहा, चौपाई, घनाक्षरी, छय्यय, बरवै, सोहर और पद आदि विविध शैलियों को चुना और सफल रचनाएँ प्रस्तुत कीं यह तुलसी जैसें प्रतिभा सम्पन्न महाकवि से ही सम्भव था अन्य से नहीं।

अब तुलसी के गेय काव्यों की वस्तु, भाव, गेयता आदि के सम्बन्ध में विचार कर यह देखना है कि मध्यकाल के काव्यों में उनकी क्या स्थिति है। इससे तुलसी के कवि-हृदय की उपलब्धि को समझने में सुविधा होगी।

तुलसी-पद-साहित्य की वस्तु

श्री कृष्णगीतावली—तुलसी आस्तिक भावना के सन्त थे। इसी से राम के अनन्य भक्त होते हुए भी देवताओं और अवतारों के प्रति उनकी हृदय की निष्ठा और पूज्य भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। राम के समान कृष्ण में भी उनकी अनुरक्ति थी, इसका प्रतीक ही उनकी 'श्री कृष्णगीतावली' है।

तुलसी से पूर्व कृष्ण परक पद-साहित्य पर्याप्त मात्रा में निर्मित हो चुका था, जिसका विविध कृष्णावत सम्प्रदाय अपने प्यारे माधव के कीर्तन-गान में उपयोग करते थे—साथ ही कृष्ण भक्त-कवि कृष्ण की लीलाओं का गान कर उस परम्परा

को चिरंजीव भी बनाए हुए थे, तुलसी को यह सब ज्ञात रहा होगा। उनके जीवन-वृत्त से यह अवगत है कि उन्होंने 'भक्तमाल' के रचियता नाभादास से भेंट करने के लिये ब्रज-यात्रा की थी, जिसमें उन्हें कृष्ण के प्रेम-माधुरी से सिक्त ब्रज-भूमि देखने को मिली। उनका मानस कृष्ण की लीला-माधुरी का गान करने के लिए ललक उठा, फलस्वरूप उन्होंने उनके सम्बन्ध के स्फुट पद रच डाले और उनका संग्रह ही श्री कृष्णगीतावली की संज्ञा प्राप्त कर गया।

तुलसी ने अपने इस काव्य में कृष्ण काव्य की परम्परा का अनुसरण किया है, यह सत्य है; किन्तु उसके साथ यह कहा जाता है कि इस काव्य पर सूर काव्य का प्रभाव है, यह पूर्ण असत्य है। इसमें तुलसी की प्रतिभा और कवित्व पर स्पष्ट आक्षेप है। उपर्युक्त तथ्य के समर्थन में 'सूरसागर' के वे पद जो ज्यों-के-त्यों 'श्री कृष्णगीतावली' में उपलब्ध हैं प्रस्तुत किए जाते हैं। इससे सरलता से कोई भी उपर्युक्त का विश्वास करने लगता है, जो असत्य और अविश्वस्त है।

यदि यह मान भी लिया जाए कि तुलसी ने 'सूरसागर' का अनुकरण किया है तो यह प्रश्न उठता है कि वे कतिपय स्थल ही एक से क्यों हैं ? श्री कृष्णगीतावली के सम्पूर्ण पद अथवा अधिकाँश पद एक से क्यों नहीं है ? क्या उन्हीं स्थलों के लिए तुलसी की प्रतिभा सुषुप्त और कवि हृदय निष्क्रिय हो गया था, जिसके लिए चौरकर्म करने को उन्हें प्रवृत्त होना पड़ा। फिर तुलसी के 'गीतावली' और 'विनयपत्रिका' अन्य भी दो गीत-काव्य हैं, वे तो उनकी प्रतिभा प्रमाणित करते हैं। गीतावली में भी ऐसे कुछ स्थल हैं जो सूरसागर से उद्धृत हैं, इससे यदि उसे भी सन्दिग्ध मान लिया जाए तो 'विनयपत्रिका' ही उनके गेय काव्य के वैशिष्ट्य को प्रमाणित करने में पर्याप्त है, उससे तुलसी की प्रतिभा का पूर्ण परिचय परिलक्षित होता है। फिर जिस महाकवि के मानस से 'रामचरित मानस' की अमर वाणी निसृत हुई हो वह भला दूसरे काव्य को अपनाकर अपना ओछापन क्यों दिखलाने लगा। इससे 'श्री कृष्णगीतावली' 'गीतावली' के वे स्थल क्षेपककारों द्वारा समाविष्ट किए हुए क्षेपक हैं। उपर्युक्त विवेचन के समर्थन में यह तथ्य और रखा जा सकता है कि यदि तुलसी ने सूरदास का अनुकरण किया होता तो वह राधा को छोड़ नहीं पाते। सूरसागर में राधा कृष्ण की अभिन्न होकर वर्णित हुई हैं, फलतः उसका कोई तो रूप श्री कृष्णगीतावली में होता। सच तो यह है कि तत्कालीन कृष्ण-काव्य से अभिप्रेरित होकर उन्होंने इस काव्य के लिए 'भागवत' को अपना उपजीव्य बनाया, सूरसागर या कृष्णावत सम्प्रदाय के किसी अन्य काव्य को नहीं।

'श्री कृष्णगीतावली' में जो वृत्त हैं वे सब भागवत के अनुकरण में हैं। तुलसी ने उनको वहीं से लिया और अपने स्फुट पद रच डाले। सूर के 'सूरसागर' के समान उन्हें इस काव्य के द्वारा किसी कृष्णावत सम्प्रदाय का पोषण तो करना ही नहीं था, फलतः भागवत के वृत्तों में वह उलटफेर क्यों करते ? वस्तुतः तुलसी की यह स्वच्छन्द

और स्वतन्त्र रचना है। हिन्दी के किसी कृष्ण-काव्य का अनुकरण और अनुसरण नहीं।

कृष्ण के प्रति यशोदा के वात्सल्य और गोपियों के प्रेम से भागवत में प्रसारित माधुर्य तत्त्व को तुलसी ने ज्यों-का-त्यों अपने काव्य में उतार दिया है। स्थल स्थल पर उनकी लीला गान के साथ वह उनके भगवान रूप के प्रति अपनी भक्ति और श्रद्धा अर्पित करते चले हैं। राम के प्रति प्रयुक्त उनकी वृत्ति यहाँ भी चरितार्थ हो उठी है। यह तुलसी हृदय की व्यापकता और समन्वय की सबल भावना है।

गीतावली—तुलसी से पूर्व रामचरित-काव्य की कोई भी परम्परा हिन्दी में विद्यमान नहीं है। विशिष्टाद्वैती सम्प्रदाय में परम्परागत श्री और नारायण की उपासना के स्थान पर जब रामानन्द द्वारा सीता-राम की प्रतिष्ठा कर दी गई तब सर्वप्रथम तुलसी ने ही रामचरित गान कर उस भावना को व्यावहारिकता प्रदान की। इस कारण मध्यकाल में राम काव्य की परम्परा के श्रीगणेश का श्रेय उन्हीं को है।

रामचरित की प्रबन्धात्मकता की योजना उन्होंने सर्वप्रथय कवितावली में फिर गीतावली में और अन्त में 'रामचरित मानस' में की है। सच तो यह है कि प्रथम दोनों काव्यों में उस सम्बन्ध के अपने प्रयोगों को वह तौल रहे थे अनन्तर उसके उत्कृष्ट स्वरूप को ही वह मानस में समाहित करने में सफल हुए। भारतीय जीवन के विविध क्षेत्रों में निहित वैषम्यों को वह मानस में जितना समन्वित कर दिखला सके हैं उतना उक्त दोनों रामचरित काव्यों में नहीं। उसमें राम-कथा और उसके साथ महाकाव्य की परम्पराओं का सफल पालन जिस रूप में है, वह अपूर्ण है। सच तो यह है कि मानस जिस रूप से अपने चरितनायक को प्रस्तुत करता है वैसा रूप न तो अनन्तर के राम-काव्यों में है और न हिन्दी के अन्य किसी काव्य में।

गीतावली स्फुट-काव्य रहा है। इसका संग्रह सं० १६२८ वि० में[1] और मानस का निर्माण सं० १६३१ वि० में हुआ है।[2] दोनों काव्यों के निर्माण में ३ वर्ष का अन्तर अवश्य है; किन्तु इससे यह नहीं सोचा जा सकता है कि दोनों की विचार-भूमि अलग-अलग रही होगी। गीतावली में कैकेयी का वर माँगना, राम रावण युद्ध आदि प्रमुख वृत्तों के इंगित-मात्र हैं और इसके साथ राम का बाल-वर्णन, कौशल्या का वात्सल्य, उत्तरकाण्ड में राम का अयोध्यापुरी के फाग और वसन्त के समारोहों में सहयोग देना आदि विशेष वर्णन हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त गीतावली

---

१. अध्याय ५ में रचनाकाल का विवरण देखिए।

२. संवत सोरह सै इकतीसा, करउँ कथा हरि पद धरि सीसा।
नौमी भौमबार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा।।
—(रामचरितमानस बालकाण्ड ४५-२-३)

और मानस की मूल कथा एक सी है। मानस की तुलना में गीतावली में जो परिवर्तन और परिवर्द्धन हैं वह बहुत कुछ उसके गेय काव्य होने के कारण हैं। यह सब कहने का मेरा आशय यह है कि भले ही गीतावली के वृत्तों में कुछ विशिष्टताएँ हों किन्तु उनकी विचार-भूमि एक ही रही है। इसके समर्थन में यह भी सोचने की बात है कि मानस की रचना के लिए उन्होंने वर्षों पूर्व उसकी रूपरेखा सोची होगी यदि यह भी सत्य न हो तो यह मानना पड़ेगा कि उसकी रचना के लिए उन्हें अपने पिछले अध्यन का सहयोग अवश्य लेना पड़ा है, जो दोनों काव्यों के लिए उपयोगी रहा है। 'मानस' का वस्तु के लिए तुलसी ने बालकाण्ड में कहा है—

> नानापुराणनिगमागम सम्मतं यद्—
> रामायणे निगदितं क्वचिदयतोऽपि।
> स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
> भाषानिबन्धमति मंजुलमातनोति॥

इस कथन से यह सिद्ध है कि मानस की रचना के लिए वह विविध पुराण, निगम और आगम का सम्मत रूप जो बाल्मीकि रामायण में वर्णित है उसके तथा अन्य स्थलों के आभारी हैं। यह तथ्य जो मानस के साथ सत्य है वही कवितावली और गीतावली के साथ भी। इस प्रकार गीतावली और मानस की काव्य वस्तु की परम्परा एक ही रही है।

'गीतावली' और 'मानस' दोनों की काव्य वस्तु देखने से यह स्पष्ट है कि मानस के समान गीतावली में दर्शन तथा विविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं है। उसमें सीधी सादी कथा है जिसको तुलसी ने अपने भावुक हृदय की मधुरिमा से सिक्त करके रख दिया है। इस प्रकार गीतावली की वस्तु स्थूल रूप से बाल्मीकि रामायण की आभारी है। मानस भी बाल्मीकि रामायण का ऋणी है; किंतु अपने दर्शन तथा अन्य समन्वयवादी विचारों के लिए वह अध्यात्म रामायण, महारामायण, शिवपुराण, भगवद्गीता, भागवत, हनुमन्नाटक, चाणक्य नीति आदि के आभारी हैं।

तुलसी ने सूरदास के 'सूरसागर' से अभिप्रेरणा भले ही ली हो; किन्तु उसका अनुकरण कहीं भी नहीं किया है। गीतावली में सूरसागर के सम स्थलों को देखकर यदि काई सहृदय इस प्रकार की धारणा बनाता है तो वह अविवेक है। राम के बाल-वर्णन, कौशल्या के वात्सल्य में तुलसी के कवि-हृदय के सिद्धान्त पिरोए हुए मिलेंगे। फलतः उन्हें अभिप्रेरणा ही माना जा सकेगा अनुकरण नहीं। गीतावली के उत्तरकाण्ड के वसन्त और फाग के वर्णन, जिनमें राम-सीता और अनुज-सखा आदि सम्मिलित हैं, सूरसागर के अनुकरण में हैं। यह कहा जाता है; किन्तु इनके सम्बन्ध में यह समझ रखना चाहिए कि कृष्ण की माधुर्योपासना के समान राम की माधुर्योपासना भी प्रगति पर थी। फलतः ऐसे स्थल उन्होंने उसी परम्परा के प्रतिपादक श्री हनुमत्सहिता, श्री शिवसंहिता, श्री लोमशसंहिता, श्री शुकसंहिता आदि से

अभिप्रेरित हो लिखे हैं।

गीतावली की काव्य वस्तु के विवेचन के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि उसका ग्रहण बालमीकि रामायण से हुआ है, सूरसागर तथा अन्य कृष्ण-काव्य के अनुकरण पर नहीं। वस्तुतः यही तुलसी की प्रवृत्ति के अनुकूल सिद्ध है। यों संस्कृत के अतिरिक्त अपभ्रंश में भी जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित राम-काव्य है; किन्तु उनकी कथा की संगति गीतावली की कथा के साथ नहीं बैठती है।[1] फलतः तुलसी पर उनका आभार नहीं माना जा सकता।

विनयपत्रिका—'श्री कृष्णगीतावली' और 'गीतावली' चरित और गीत की मिश्रित शैलियों में लिखे हुए गेय काव्य हैं। इनकी अविच्छिन्न परम्पराएँ अपभ्रंश-काल से अलग-अलग अग्रसर होती हुई चली आ रही थीं। 'मध्य काल' में इन दोनों शैलियों का मिश्रण हो गया और इसी में कृष्णावत सम्प्रदायों के भक्तों ने प्रभूत मात्रा में साहित्य रच डाला, इसी परम्परा का प्रयोग गो० तुलसीदास ने उपर्युक्त दोनों गेय काव्यों में किया था। अब रही उनकी 'विनयपत्रिका' इसमें गेयता तो है; किन्तु चरित नहीं। यह आराध्य राम के लिए लिखी हुई उनकी विनीत पत्रिका है। जिसमें राम को आलम्बनत्व प्रदान कर उन्होंने पग-पग पर उनके प्रभुत्व, शक्ति-शील-सौन्दर्य से युक्त उनके वरिष्ठ भगवत रूप, दीन-बन्धु, पतित-पावन आदि सम्बन्ध के गान के साथ अपने जीवन से सम्बोधित संसार के प्रलोभन, माया का प्राबल्य, आत्मोपदेश आदि के गान की भी व्यवस्था की है। भगवान के लिए भक्त के आत्म-निवेदन और आत्मोल्लेख का जैसा उत्कर्ष इस काव्य में है वैसा अन्यत्र नहीं।

'विनयपत्रिका' जिस परम्परा में रचित काव्य है उसकी परम्परा भी अपभ्रंश काल में विद्यमान थी। अनीश्वरवादी जैनाचार्यों और बौद्ध सिद्धों ने बाह्याडम्बरों और प्रदर्शनों का उच्छेदन कर विराम और आत्मा के विशुद्ध स्वरूप के मानव-मात्र के लिए उपयोगी बतलाया है। 'सहजमार्ग' के प्रतिपादन में बौद्ध सिद्ध जैन-सिद्धान्तों से कहीं आगे निकल गए हैं।

धर्म के नाम के आडम्बरों को जैनाचार्य व्यर्थ समझ कर आत्म-तत्त्व को समझने के लिए अभिप्रेरित करते हैं—

कासु समाहि करउं को अंचउं।
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउ॥[2]
आइण अन्त ण मज्झ णउ णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह णउ पर णउ अप्पाण॥

—(संत सुधा सार-सिद्ध सरह, ७)

---

१. डा० हरिवंश कोछड़—'अपभ्रंश साहित्य' पृष्ठ ५३।
२. वियोगी हरि—संत-सुधा-सार—मुनि रामसिंह—२४

हल सहि कलह केण अप्पाणउं।
जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउं ॥

सहज शून्य अवस्था की बौद्ध सिद्धों में बड़ी महत्ता है। इसी में वह जीवन के महासुख का अनुभव करते हैं।

सहज मार्ग का न आदि है न मध्य है और न अन्त। न वहाँ जन्म है और न निर्वाण। यह अलौकिक महासुख है। इसमें न अपना और न पराए का ज्ञान रहता है।

इनके अनन्तर ही गोरखनाथ 'योग मार्ग' को प्रधानता देने के लिए नाथ सम्प्रदाय का प्रवर्तन करते हैं। भारतीय योग के तत्त्वों के साथ ब्रह्मचर्य और सात्विक भावनाओं पर उन्होंने विशेष बल दिया था।

कैसैं बोलौं पंडिता, देव कौनै ठांईं,
निज तत निहारतां अम्हें तुम्हें नाहीं।
पषांणची देवली पषांण चा देव पषांण पूजिला कैसे फीटीला सनेह।
सरजीव तोडिला निरजीव पूजिला पाप ची करणीं कैसैं दूतर तिरीला॥
तीरथि तीरथि सनांन करीला, बाहर धोये कैसै भीतरि भेदीला।
आदिनाथ नाती मछीन्द्रनाथ पूता, निज तात निहारै गोरख अवधूता॥
—(वही—गोरखनाथ, ४)

इन पंक्तियों में गोरखनाथ देव-प्रतिमा को पूजने और तीर्थ-स्थान को व्यर्थ समझते हैं तथा आतमतत्त्व से अवगत होने के लिए ही वह मानव को अभिप्रेरणा देते हैं।

हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत वर्णाश्रमी व्यवस्था की मान्यता के कारण जाति-पाँति, ऊँच-नीच आदि की भावनाएं थीं, जिनको व्यापक दृष्टि वाले पसन्द न करते थे। इसी से इन सम्प्रदायों का जीवन बना रहा। यद्यपि गुरु गोरखनाथ एक बौद्ध सिद्ध थे, क्योंकि उनकी गणना सिद्धों के अन्तर्गत होती है, फिर भी उन सम्प्रदायों की परम्परागत शील-सदाचार की भावना के साथ उन्होंने योग की भावनाओं का मिश्रण कर दिया। इस प्रकार उन्होंने नाथ सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया।

अपभ्रंश काव्य की ये रचनाएँ राजपूत काल में पड़ती हैं। वे हिन्दू-धर्म के अनुयायी और पोषक थे; किन्तु व्यक्तिगत विद्वेषों और वीरता की प्रतियोगिताओं के कारण वे एकता के सूत्र में कभी गुंथ न सके। फलतः उनके सामाजिक जीवन में बड़ी अस्त-व्यस्तता और राजनीतिक क्षेत्र में बड़े असन्तोष थे। इसी समय देश के दुर्भाग्य से मुसलमानों के आक्रमण हुए और राजपूतों की इन दयनीय स्थितियों के कारण उन्होंने एक-एक कर सबको हराया। देश उनके राजकीय बन्धन में जा पड़ा। इससे मुसलमानों को देश में बसने में सुविधा हो गई। उनके देश में बसने से दो संस्कृतियों का संघर्ष हुआ और भारत की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक आदि

सभी परिस्थितियों पर प्रभाव पड़ा। धार्मिक कट्टरता और भारतीयों के प्रति काफ़िर-कुफ़ की भावनाओं के कारण सबल और उदार भारतीय संस्कृति के समक्ष वे अडिग रहे। इसी से देश में उनका अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहा।

ऐसी ही स्थिति में हमारे साहित्य का 'मध्यकाल' अथवा 'भक्तिकाल' का सूत्रपात हो उठा। हिन्दू और इस्लामी दो संस्कृतियों के मिश्रण से निर्गुणोपासना का प्राबल्य हुआ, जिसके अन्तर्गत कबीर की समन्वयवादी ज्ञानश्रयी और सूफियों की प्रेमाश्रयी शाखाएँ पल्लवित हुईं। कबीर के सन्त-सम्प्रदाय में अवश्य भारतीय अद्वैत-वादी सिद्धान्त थे; किन्तु सूफी धर्म में तो सभी विदेशी आदर्श और सिद्धान्त थे। निर्गुणोपासना के विपरीत भारतीय संस्कृति के पोषकों ने सगुणोपासना का प्रचार किया, जिसमें राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति शाखाएँ प्रस्फुटित हो उठीं। दोनों में ही अवतारवादी भावना की प्रतिष्ठा थी। इससे देश में इन सम्प्रदायों के विकास में कोई व्यवधान प्रस्तुत नहीं हुआ।

जैन, बौद्ध और नाथ सम्प्रदायों की आत्म-निष्कृति का भाव इन नवीन सम्प्र-दायों में भी प्रतिष्ठित हुआ। कबीर के सिद्धान्तों की आधार-शिला उन्हीं पर स्थिर है। उनमें रामानन्दी भक्ति और सूफियों के प्रेम-तत्त्व का भी सन्निवेश था, इससे यदि उन्होंने ब्रह्म विषयक अद्वैतवादी भावनाएँ व्यक्त की हैं तो उनके साथ, भक्ति और प्रेम के भाव भी पर्याप्त मात्रा में प्रतिष्ठित हैं। उनके सम्प्रदाय में जीवन, माया, ब्रह्म आदि को लेकर बहुत कुछ कहा गया है। इसी प्रकार कृष्ण की सगुणोपासना के अन्तर्गत भी आत्म-निवेदन की प्रतिष्ठा है। रामानन्द ने भी रामावत सम्प्रदाय में इस प्रकार की भावनाएँ व्यक्त की हैं; किन्तु वे न्यून हैं। इस प्रकार अपभ्रंश काव्य के अनन्तर 'मध्यकाल' के काव्य में 'आत्म-निवेदन' की परम्पराएँ अक्षुण्ण बनी हुई हैं, जिनके मेल में ही 'विनयपत्रिका' का काव्य प्रस्तुत हुआ। अब विनयपत्रिका से पूर्व मध्यकाल की इस परम्परा पर दृष्टिपात कर लेना भी उचित है।

नामदेव सगुण और निर्गुणोपासक महाराष्ट्री सन्त थे; किन्तु उनमें 'आत्म-बोध' आत्मनिवेदन की परम्परा थी, जिसकी उन्होंने अपनी पदावली में प्रतिष्ठा की है—

> **काहे रे मन, बिषया बन जाइ।**
> **भूलौ रे ठग मूरी खाइ॥**
> **जैसे मीन पानी मँहि रहै।**
> **काल-जाल की सुधि नँहि लहै॥**
> **जिहवा-स्वादी लीलति लोह।**
> **ऐसे कनक कामिनी बाँध्यो मोह॥** —(संत सुधासार नामदेव ३)

इन पंक्तियों में मन को सम्बोधन कर उसकी स्थिति का उल्लेख है तो निम्न गीत में 'रमैया' से आत्म-निवेदन भी करते हैं—

मोको तूं न बिसारि, तूं न बिसारि, तूं न बिसारि रमैया।
तेरे जनकी लाज जाहिगी, मुझ ऊपर सब कोपिला ॥ —(वही नामदेव ५)

कबीर की वाणियों में भी उपर्युक्त परम्परा विद्यमान है—

डगमग छाड़ि दे मन बौरा।
अब तौ जरे बरें बनि आवै, लीन्हो हाथ सिंधौरा ॥—(वही—कबीर, २६)

मैं जन भूला तूं समझाइ।
चित चंचल रहै न अटकयौ विषै-बन कूं जाइ ॥
संसार सागर माँहि भूल्यो थक्यौ करत उपाइ।
मोहिनी माया बाधिनी थैं, राखिलै रामराइ ॥
गोपाल सुनि एक बीनति सुमति तव ठहराइ।
कहै कबीर यह काम रिपु है मारै सब कूं ढाइ ॥
—(वही—कबीर, ३६)

सन्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत कबीर के अतिरिक्त अन्य सन्त भक्तों में भी यह भावना विद्यमान है—

ऐसी लाल तुझ बिनु कौन करै।
गरीब निवाजु गुसैयाँ, मेरे माथे छत्र धरै ॥
जाकी छोति जगत कौं लागै तापर तुही ढरै।
नीचहि ऊँच करै मेरा गोविंदु काहू ते न डरै ॥
—(सन्तसुधासार, रैदास, ४)

भाई रे मीत करहु प्रभु सोइ।
माया मोह परीति ध्रिगु सुखी न दीसै कोइ ॥
दाता दाता सीलवंत निरमलु रूप अपारु।
सखा सहाई अति बड़ा ऊँचा बड़ा अपारु ॥
बालक बिरधि न जाणीए निहचलु तिसु दरबारु।
जो मंगीऐ सोइ पाइए निरधारा आधारु ॥
—(वही—गुरु अर्जुनदेव—१३)

कुछ चेति रे कहि क्या आया।
इनमैं बैठा फूलिकर तै देखी माया ॥
तूं जिनि जानै तन धन मेरा, मूरिख देखि भुलाया।
आजि कालि चलि जावै देही, ऐसी सुन्दर काया ॥
राम नाम निज लीजिये मैं कहि समझाया।
दादू हरि की सेवा कीजै सुन्दर साज मिलाया ॥
—(वही—स्वामी दादूदयाल, ३०)

सन्त सम्प्रदाय में निर्गुणोपासना के कारण आराध्य के चरित की कोई प्रतष्ठिा

नहीं होती है। फलतः ब्रह्म, जीव, माया, संसार आदि विषयों पर सन्त भक्त अधिकाधिक कहने के लिए अवकाश प्राप्त कर लेता है, वस्तुतः यह तुलसी की विनयपत्रिका की सबल परम्परा है, जिसका पोषण इस सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने किया है। संत सम्प्रदाय के अतिरिक्त सूफियों में उपर्युक्त विषयों के विवरण तो हैं; किन्तु वे कथा-तत्त्व के अन्तर्गत उपलब्ध हैं। उनमें कथन और शैली का यह स्वरूप नहीं है। इससे उन्हें विनयपत्रिका में स्वीकृत परम्परा का पोषक नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त के अतिरिक्त सगुणोपासना के अन्तर्गत रामावत और कृष्णावत सम्प्रदायों में भी इस परम्परा का पोषण उपलब्ध है। इनमें 'चरित' की प्रतिष्ठा होने के कारण उस प्रकार की भावनाओं को वह मुक्तक शैली में ही व्यक्त करते हैं।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व सूरदास ने विनय के पद लिखे थे जो उनके सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में संग्रहीत हैं। माधुर्य भाव के उपासक होने पर भी विनय की इस पदावली में उनकी दास्यासक्ति ही प्रतिष्ठित है।

बिनती करत मरत हौं लाज।
नख-सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज।

× × ×

अब कैं राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यो द्रुम-डरिया पारधि साधे बान॥

× × ×

हृदय की कबहुँ जरनि घटी।
बिनु गोपाल बिथा या तन की कैसैं जाति कटी॥

सूर जीवन की विविध परिस्थितियों का उल्लेख अपने आराध्य के समक्ष प्रस्तुत करते हैं; किन्तु जब उनसे उन्हें किसी प्रकार की कृपा उपलब्ध नहीं होती है, तब निम्न भावनाओं द्वारा अपनी विवशता भी प्रकट कर देते हैं।

जौ जग और बियौ कोउ पाऊँ।
तौ हौं बिनती बार-बार करि प्रभु तुमहि सुनाऊँ॥
सिव-बिरंचि सुर-असुर नाग-मुनि, सु तो जाँचि जन आयौ।
भ्रूल्यो, भ्रम्यौ तृषातुर मृग लौं, काहू स्रम न गँवायौ॥
पौरुष-रहित, अजित इन्द्रिनि बस, ज्यौं गज पंक पर्यौ।
विषयासक्त, नदी के कपि ज्यौं, जोइ-जोइ कह्यौ कर्यौ॥

अष्टछाप के अन्य कवियों में भी उपर्युक्त परम्परा का पालन उपलब्ध है। अन्य कृष्ण-भक्त भी आत्म-निवेदन के रूप में अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं।

जो मन स्याम-सरोवरि न्हाहि॥
बहुत दिनन को जर्यौ बर्यौ तू तबही भले सिराहि॥

—(ब्रजमाधुरीसार, गदाधर पद, ७)

स्वामी हरिदास जीवन की असारता विविध प्रकार के मद और लोभ को व्यर्थ समझते हुए अपने मन को हरि-भजन का सन्देश प्रदान करते हैं।

जौलौं जीवै तौलौं हरि भजु रे मन, और बात सब बादि।
दिवसि चारि कौ हला-भला तूं कहाँ लेइगो लादि।।
माया मद गुन-मद जोवन-मद, भूल्यौ नगर-बिवादि।
कहि हरिदास लोभ चरपट भयो, काहे की लागि फिरादि।।

—(ब्रजमाधुरीसार, स्वामी हरिदास, ९)

कृष्णावत सम्प्रदायों के अन्तर्गत भी आलोच्य परम्परा समाहित है। इस परम्परा का स्वरूप रामावत सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानन्द की पदावली में भी विद्यमान है—

हरि बिन जनम वृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान बड़ाई, धन मद अंध मति सोयो रे।।
सुमिरन भजन साध की संगति, अंतरि मन मैल न धोयो रे।
रामानन्द रतन जम त्रासैं, श्रीपति पद काहे जोयौ रे।।

—(रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ पद, १)

इस प्रकार अपभ्रंशकाल से लेकर भक्ति-काल तक सम्प्रदायों के सन्त भक्तों ने अपने आराध्य से माया की प्रबलता, संसार के प्रलोभन, विविध प्रकार के मद आदि का कथन किया है। आराध्य के प्रभु रूप के कारण उनकी प्रशस्ति-गान के साथ भक्त कवियों ने अपने सांसारिक कष्टों के निवारणार्थ उनसे निरन्तर अनुनय-विनय भी की है। भक्त को आराध्य का ही बड़ा विश्वास होता है, इसी से वह उक्त तथ्यों को विविध प्रकार से उनके समक्ष रखता जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने आतम-निवेदन की उपर्युक्त अविच्छेद्य परम्परा को ही अपनी विनयपत्रिका की काव्य-वस्तु के लिए चुना है। विषय साम्य होते हुए भी वह अपने इस काव्य में मौलिक हैं। आदि से लेकर अन्त तक सभी आत्मनिवेदन एक पत्रिका के रूप में अंकित है और अन्त में वह बड़ी विनम्रता के साथ आराध्य राम के समक्ष प्रस्तुत कर दी गई है। उन्होंने अपने पार्षदों के अभिमत पर विनयपत्रिका पर 'सही' कर दी है। तुलसी उनसे यही तो चाहते थे—उन्हें उनकी गति-विधि अवगत हो गई, यही उनके लिए पर्याप्त है। सच तो यह है कि भक्ति-भावना का ऐसा सटीक और व्यापक स्वरूप न तो तुलसी के अवशिष्ट साहित्य में है और न शेष हिंदी काव्य में। 'मानस' में भक्ति है अवश्य; किंतु वह राम-कथा के प्रवाह में डूबती-उतराती प्रतीत होती है। भक्त के लिए जैसा सम्यक् समर्पण आवश्यक है वह तो इसी काव्य में है।

विनयपत्रिका के मुक्तक-काव्य होने से कुछ सहृदय इसे स्फुट पदों का संग्रह-मात्र मानते हैं। काव्य के अन्तर्गत पदों के मध्य में असम्बद्धता के कारण इस प्रकार

का उनका निर्णय स्वाभाविक है ; किन्तु कवि के उद्देश्य के अनुकूल भावनाओं के प्रवाह पर मनन करने से उक्त आक्षेप निर्मूल सिद्ध होता है। रचना भले ही स्फुट क्यों न रही हो ; किंतु उन्होंने इसके निर्माण में पूर्व निर्णीत काव्य की रूपरेखा में किसी प्रकार का विच्छेद नहीं प्रस्तुत होने दिया। फलस्वरूप काव्य के सभी पद रामोन्मुख हैं। वह चाहे गणेश की स्तुति कर रहे हों, चाहे सूर्य की, चाहे शिव की, चाहे जानकी की, चाहे हनुमान की—सभी से अपनी बात को श्रीराम के चरणों तक पहुँचा देने के लिए प्रार्थना करते हैं।

कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ॥
जानकी जग जननि जन किए बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तब नाथ गुन-गन गाइ॥

—(विनयपत्रिका, सीता स्तुति, ४१)

विनयपत्रिका के प्रारम्भिक ६२ पदों में संस्कृत की स्तोत्र-पद्धति का अनुकरण है। भाषा स्वभावतः दुरूह और क्लिष्ट हो गई है। अनन्तर काव्य में अनुभाव स्वरूप आलम्बन राम के महत्वों और अपने दैन्य तथा अभावों के उल्लेख समाहित होते चले हैं, जिससे काव्य निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होता हुआ रघुनाथ के हाथ से सही हो जाने पर समाप्त हो गया है।

तुलसी एक स्मार्त वैष्णव थे, इससे विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य, गणेश आदि में उनकी आस्था स्वाभाविक थी। अपनी पूज्य-भावना के कारण उन्होंने उन सभी को प्रतिष्ठित किया है। इन सभी का इस प्रकार का सन्निवेश उनके अवशिष्ट काव्यों में नहीं हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि तुलसी की भक्ति-भावना यहाँ एक निश्चित स्वरूप प्राप्त करती है। इससे इनके सन्निवेश का 'विनयपत्रिका' में ही समुचित अवकाश था अन्यत्र नहीं।

रस परम्परा—मध्यकाल का सम्पूर्ण साहित्य विविध सम्प्रदायों के सन्तों द्वारा विरचित है। ये लोग गृह-त्यागी संसार से विरक्त थे। फलस्वरूप परमार्थ-साधन ही इनका प्रमुख लक्ष्य था। इससे इनके काव्यों में शान्त रस का ही प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त अन्य रसों का समावेश प्रसङ्ग विशेष के कारण हो गया है।

निर्गुणोपासना के अन्तर्गत कबीर और उनकी शिष्य परम्परा सिख गुरु, दादू-दयाल आदि सभी की वाणियों में स्थायी भाव निर्वेद भी संसार-विरक्ति है। संसार की असारता अथवा परमातमा का स्वरूप आलम्बन विभाव है। ऋषि आदि के पवित्र आश्रम, साधु सङ्गति, उपदेश आदि उद्दीपन विभाव हैं, रोमांच, हर्ष आदि अनुभाव है, निर्वेद, हर्ष, स्मरण, प्राणियों पर दया आदि संचारी भाव हैं। कृष्णावत सम्प्रदायों के सम्पूर्ण भक्तों में कृष्ण की चरित सम्बन्धी पदावलियों के अतिरिक्त शेष पदावलियों में इसी रस की निष्पत्ति हुई है। कबीर में रामानन्दी भक्ति और सूफियों की प्रेम-

माधुरी के भी तत्त्व थे। इससे यत्र तत्र उनके काव्य से भक्ति और शृंगार के तत्त्व भी झलक उठे हैं।

सगुणोपासना के अन्तर्गत कृष्णावत सम्प्रदायों में अवतारी कृष्ण की ही आराधना है। इनमें शुद्धाद्वैती सम्प्रदाय में कृष्ण की लीलाओं की भी मान्यता है, इससे आनुषङ्गिक रूप से अन्य रस भी प्रतिष्ठित हो उठे। शुद्धाद्वैती सम्प्रदाय के अतिरिक्त राधावल्लभीय, गौड़ीय, हरिदासी आदि सम्प्रदायों में माधुर्य तत्त्व की प्रधानता के कारण शृंगार रस की ही उपलब्धि है। अन्य रस उपेक्षित हैं। शुद्धाद्वैती सम्प्रदाय के अन्तर्गत सूरदास उसके प्रतिनिधि कवि हैं। उनके काव्य में वात्सल्य और शृंगार का बाहुल्य है, उनकी विविध परिस्थितियों का उनके काव्य में समावेश है। हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत आदि रसों की उनके सूरसागर में निष्पत्ति है; किन्तु बहुत सूक्ष्म रूप से। अन्य कृष्णावत सम्प्रदाय केवल शृंगार तक ही सीमित होकर रह गए हैं।

रस की उपर्युक्त सभी परम्पराएँ तुलसी से पूर्व अपना सिद्ध रूप प्रस्तुत कर चुकी थीं। विनयपत्रिका में भक्ति रस का प्राधान्य है। इसका स्थायी भाव राम के प्रति अनन्य प्रेम है, राम इसके आलम्बन हैं। राम-सभा के पार्षद और देवता, इसके उद्दीपन हैं। इस प्रकार शान्त समन्वित भक्ति रस 'विनयपत्रिका' में उपलब्ध हैं। 'श्री कृष्णगीतावली' और गीतावली दोनों चरित काव्य हैं। कृष्ण और राम दोनों अवतारी चरित्र दुष्टों का हनन कर संसार में सुख-शान्ति की व्यवस्था करने वाले हैं। किन्तु दोनों गेय काव्य रहे हैं इससे इनमें माधुर्य भाव का ही विशिष्ट समावेश उपलब्ध है। दोनों काव्यों में शृंगार और वात्सल्य के संयोग और वियोग परक पर्याप्त स्थल हैं। हास्य, करुण, वीर आदि अन्य रसों के भी कतिपय स्थल हैं किन्तु उनका बाहुल्य नहीं है। रौद्र, भयानक, वीभत्स और अद्‌भुत रसों का इन काव्यों में पूर्ण अभाव है।

गीति-परम्परा—गीति-तत्त्व, गेय काव्य की परम्परा आदि के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से पिछले अध्यायों में विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है। संगीतात्मकता, आत्माभिव्यंजन, संक्षिप्तता और भावों की एकता ही गेय काव्य के तत्त्व हैं, जिनका इस शैली के काव्य में ग्रहण होता रहा है। इस शैली के ग्राहकों में आत्माभिव्यंजन की भावना प्रमुख रहती है, जिसको वह किसी राग-रागिनी के प्रश्रय से प्रस्फुटित कर उठते हैं। फलतः इस शैली में भावोर्मियों को सरलता से सजीवता और सरसता उपलब्ध हो जाती है। मुक्तक-काव्य की शैलियों में सच तो यह है कि गीत-शैली सबसे अधिक मधुर और सुग्राह्य है।

गीति-परम्परा भारतीय काव्य में वेद-काल से ही अक्षुण्ण है, आगे चलकर संस्कृत और पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि लोक-भाषाओं के काव्यों में भी इसका ग्रहण हुआ है। अपभ्रंश काव्य की परम्पराओं से हिन्दी-भाषा और काव्य प्रभावित है। इससे उसकी भाव-धारा और विविध काव्य शैलियाँ हिन्दी में प्रयुक्त हो उठी हैं,

इस सम्बन्ध में इस अध्याय के प्रारम्भ में उल्लेख किया जा चुका है। इस समय बौद्ध धर्म के सहजयानी सिद्ध सन्तों ने चर्यापदों और जैन कवियों ने फाग, चाचरि, रासक आदि काव्यों के द्वारा गीत शैली को एक सुनिश्चित रूप रेखा प्रदान की है। यह गीत-शैली नाथ सम्प्रदाय में भी स्वीकृत है। अनन्तर वीर-गाथा काल में वीसलदेवरासो, परमालरासो या आल्हखण्ड, ढोला मारू रा दूहा के कारण सप्राण बनी हुई मध्यकाल में जाकर प्रस्फुटित हो उठी है। ज्ञानाश्रयी शाखा और कृष्णावत सम्प्रदायों में इसका मुक्त प्रयोग हुआ है। कृष्णावत सम्प्रदायों में माधुर्य तत्त्व के प्राधान्य के कारण यह शैली ही विशेष रूपेग प्रतिष्ठित हुई है अन्य शैलियाँ उपेक्षित ही रही हैं।

तुलसी को अपने से पूर्व गीति-शैली की अविच्छेद्य परम्परा मिली है। स्वयं रामानन्द के द्वारा भी इस शैली में रचना प्रस्तुत की जा चुकी थी। फलत: उन्होंने भी इसे ग्रहण कर श्री कृष्णगीतावली, गीतावली और विनयपत्रिका तीन गेय काव्य रच डाले। इन रचनाओं में शास्त्रीय संगीत की ध्रुपद शैली का ग्रहण है और उसी पद्धति के अन्तर्गत विविध राग-रागनियों का प्रयोग किया गया है।

संगीत का साफल्य माधुर्य और कारुण्य पर ही आधारित है, परुष और कटु-तत्त्व इसमें उपेक्षित ही रहते हैं। इस तथ्य को लेकर जब हम तुलसी के गेय काव्य पर विचार करते हैं तब उसमें भी वह तत्त्व खरे सिद्ध होते हैं। 'श्री कृष्णगीतावली' और 'गीतावली' दोनों काव्यों में वात्सल्य और शृंगार के संयोग और वियोग दोनों की विविध परिस्थितियाँ समाहित मिलेंगी। अपनी शैली की पुष्टि के लिए उन्होंने गीतावली में कैकेयी का वर माँगना, राम-रावण युद्ध आदि जैसी कटु और परुष घटनाएँ, जो राम-चरित में मुख्य हैं, परित्यक्त कर दी हैं। अन्य भावनाओं का इन काव्यों में ग्रहण हुआ भी है तो बहुत कम। विनयपत्रिका में तो आदि से अन्त तक भक्ति समन्वित शान्त रस ही विद्यमान है। भक्ति-भावना का काव्य होने के कारण उसमें अन्य रसों की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है। इस प्रकार उन्होंने अपने गेय काव्यों में काव्य वस्तु संगीत के अनुकूल ही रखी है।

गेय काव्य के विविध तत्त्वों को ध्यान में रख कर जब हम तुलसी के गेय काव्यों की गेयता पर विचार करते हैं तो वह उसमें भी सफल सिद्ध होते हैं। उनमें भारतीय संगीत की ध्रुपद शैली, संगीत के शास्त्र रीति-ग्रन्थों में प्रतिपादित सूर और तुलसी की तुलनात्मक गेयता के सम्बन्ध में—श्री शिखरचन्द्र जैन 'सूर एक अध्ययन' में निम्न विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

जहाँ तुलसी की संस्कृत पदावली संगीत के माधुर्य को किन्हीं अंशों में कम कर देती है, वहाँ सूर की प्रकृति रूप से प्रसवित होने वाली शब्द लहरी, स्वाभाविकता, सांदगी, अल्हड़पन और प्रसाद को समान रूप से लिए हुए आगे बढ़ती है। तुलसी के अनावश्यक रूप से प्रयुक्त बड़े-बड़े रूपक भी संगीत-लहरी में अवरोध

प्रस्तुत करते हैं, पर सूर के रूपक छोटे, आवश्यक, फबते हुए, सरल, आकर्षक और संगीत के लिए उपयुक्त हैं। इसीलिए तुलसी संगीत का वह माधुर्य न ला सके जो उसका शृंगार है। ऐसा करने में सूर समर्थ हो सके हैं। उन्होंने संगीत की स्वर-लहरी को सरलता, भावुकता, प्रवणता और दक्षता के साथ प्रवाहित किया है।

सूर की गेयता के सम्बन्ध में डा० हरवंशलाल शर्मा के 'सूर और उसका साहित्य' में निम्न विचार है— × × × 'आकार की दृष्टि से कहीं-कहीं सूर के पद गीत-काव्य की मर्यादा का उल्लंघन कर गए हैं, परन्तु ऐसा उन्हीं स्थलों पर हुआ है, जहाँ कवि कथा के तारतम्य को अक्षुण्ण रखने के लिए घटनाओं का वर्णन करता है। ऐसे पद अधिक संख्या में हैं भी नहीं। दूसरी बात जो सूर के पदों में खटकती है वह पौराणिक प्रसंगों के संकेतों की भरमार तथा वर्ण्य विषय भाषा आदि की पुनरवृत्ति है। कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक अलंकारों के भार से दबी हुई उनकी भारती अपनी वीणा के तारों को झंकृत करने में भी अपने को असमर्थ-सी पाती है। परन्तु उनके उस गतिरोध में भी चित्रोपम सौन्दर्य है, जिसमें मूक जीवन का संचार स्पष्ट दीख पड़ता है।'

उपर्युक्त उद्धृत अंशों की भावनाओं पर जब हम विचार करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है राग-रागनियों के लक्षणों के अनुसार निर्मित गीत, संगीत के अनुकूल भावनाएँ, व्रजभाषा आदि का ग्रहण है। यही सब बातें तुलसी के पूर्व के गीत-काव्य में भी निहित हुई हैं। इससे उनके गेय काव्य में गेयता की सन्दिग्धता रह ही नहीं जाती है।

यह अवश्य सत्य है कि तुलसी विशिष्टाद्वैती सम्प्रदाय की मर्यादा परक दास्य भावना के भक्त कवि थे। जिसका प्रभाव उसके अन्य काव्यों के समान इन गेय काव्यों पर भी है। इसके अतिरिक्त आचार और कर्त्तव्य निष्ठा, भाव-गाम्भीर्य, भाषा में परिनिष्ठित तत्त्व आदि सभी बातें उनके समग्र काव्यों में उपलब्ध हैं। इन तथ्यों के कारण यदि उनके गीत काव्यों में भी गम्भीरता और गुरुता समाहित हो उठी हो तो इसमें सन्देह ही क्या? कुछ सहृदय विवेचक तुलसी-गीति-काव्य में गेयता का अभाव सिद्ध करते हैं, जो अनुचित है और उनका निर्णय पक्षपात पूर्ण है। मैं उक्त विवेचकों से यह पूछता हूँ कि जब उनके गेय काव्य में उसके सब तत्त्व विद्यमान हैं फिर उनकी गेयता कहाँ विलुप्त हो गई है? विनयपत्रिका के प्रारम्भ में ६१ पद संस्कृत की स्तोत्र पद्धति पर रचित हैं, उनका क्लिष्ट होना स्वाभाविक है; किन्तु वे अगेय नहीं हैं, यह सत्य है। काव्य में अन्यत्र भी लम्बे-लम्बे गीत हैं, जो सहृदयों को थका देते हैं—इन तथ्यों के कारण ही यदि तुलसी पर हम आक्षेप कर बैठे तो वह पूर्ण विवेक नहीं है। जब उनके गीति-काव्यों में सभी गीति-तत्त्व हैं तब तो मैं उन्हें गेयता से पूर्ण ही कहूँगा। सच तो यह है कि उनसे रंजन प्राप्त करने के लिए हमें अपने को उस स्तर तक ले जाने की आवश्यकता है। यदि हम यह नहीं कर पाते हैं

तो हमारा यह भ्रम है और वैसा आक्षेप करने का हमें कोई अधिकार नहीं है।

श्री शिखरचन्द्र जैन अपने कथन में जिन तथ्यों को लेकर तुलसी पर आक्षेप करते हैं वे तथ्य डा० हरवंशलाल शर्मा के विचारानुसार सूर-काव्य में भी निहित हैं। इस प्रकार श्री जैन का तुलसी के सम्बन्ध में निर्णय पक्षपात पूर्ण ही कहा जावेगा।

सच तो यह है कि तुलसी के सम्पूर्ण गेय काव्यों में गेयता है। यह अवश्य सत्य है कि उनके छोटे-छोटे पद जिनमें स्वच्छन्द आत्माभिव्यंजन है वे उनके लम्बे गीतों से अधिक मधुर और सजीव हैं। उनके वे गीत भी निष्प्राण नहीं हैं उनमें भा जीवन के लिए 'शिवं' तत्त्व समाहित है। इस प्रकार उनके गेय काव्यों में गेयता है और पूर्ण रूप से है।

तुलसी गायक नहीं थे, क्योंकि इस सम्बन्ध का कोई भी अन्तः या वहिः साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। कवीर, सूर आदि के गान करते हुए जिस प्रकार चित्र मिलते हैं वैसा तुलसी से सम्बन्धित अभी तक कोई चित्र भी नहीं मिला है। फलतः यह स्पष्ट है कि अपने गेय काव्य के निर्माण के लिए उन्होंने संगीत का अध्ययन किया और जब वह उसके निर्माण में प्रवृत्त हुए तब वह अपने महाकवि के हृदय को ओझल न कर सके। एक ही शैली में रचना करने चले निष्णात सूर भले ही किसी को तुलसी से आगे जाते हुए अवगत हों, किन्तु जिसने विविध शैलियों के साथ सफल गीत शैली में भी राष्ट्र और व्यक्ति को अमर सन्देश सुनाया हो उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करना ही पड़ेगी। दृष्टि-विभेद के कारण यदि यह तथ्य किसी को स्पष्ट न हो तो यह तथ्य का दोष नहीं है व्यक्ति का है।

: ११ :

तुलसी के अनन्तर राम-पद-काव्य-परम्परा

विषय प्रवेश

रामानन्द द्वारा रामोपासना के प्रवर्तन कर दिए जाने पर रामावत सम्प्रदाय में गोस्वामी तुलसीदास को ही श्रेय है कि उन्होंने भक्ति-समन्वित अपनी वाणी से राम-नाम को व्यापक किया, जिसके फलस्वरूप उनका पुरुषोत्तम रूप समादृत हुआ, उनके लोक-रक्षक और लोक-रंजक जीवन की लीलाओं के प्रति लोगों की आस्था बढ़ी और उनके चरित की हिन्दू-मात्र के घर में प्रतिष्ठा हुई। उनकी लीलाओं में तुलसी ने सामान्य लोक-धर्म का सौन्दर्य देखा, जिसके द्वारा भारतीय लोक-जीवन में वह कर्त्तव्य और मर्यादा की निष्ठा जागृत कर सके।

तलसी का उद्देश्य महान् था, जिसकी पूर्ति में उनका सम्पूर्ण काव्य निमग्न है। अपने आराध्य के व्यक्तित्व और कृति व को उन्होंने कहीं एकांगी नहीं होने दिया, जैसा मध्यकाल के कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने आराध्य के साथ किया। राम के समान कृष्ण भी लोकादर्शों से पूर्ण लोक-रक्षक और लोक-रंजक रहे हैं; किंतु उनके उपासकों ने महाभारत में उनके उस स्वरूप के स्थान पर भागवत में प्रतिपादित उनके मधुर स्वरूप को ही प्रधानता दी, जिससे उनका पूर्व रूप प्रचार में न आ सका। यदि उन्होंने शक्ति-शील-सौंदर्य से युक्त अपने आराध्य के पूर्व रूप को चित्रण किया होता तो वह भी तुलसी के राम के समान समग्र जीवन का प्रतिनिधित्व करता; किंतु साम्प्रदायिक सीमाओं के बाहर आना उनके लिए सम्भव न हो सका। इस तथ्य से तुलसी के कृतित्व की व्यापकता और उपादेयता स्वतः ही स्पष्ट हो जातो है।

राम की अर्चना, धार्मिक सिद्धान्त और भक्ति-भावना के तत्त्व रामानन्द द्वारा अवश्य प्रतिपादित थे; किंतु उनके चित्रण की समन्वयवादी आदर्श भूमियों का व्यावहारिक निर्देशन तुलसी की ही प्रतिभा का काम था। उनके समक्ष वैदिक, बौद्ध, जैन, साहित्य के ऐतिहासिक तथा बाल्मीकि, कालिदास और भवभूति आदि के साहित्यिक राम का रूप विद्यमान था। उन्हीं में से उनके सामान्य स्वरूप और चरित को लेकर 'नानापुराणनिगमागम' की भावनाओं को उन्होंने उसमें सगुम्फित किया था, जिससे देश और समाज को अभूतपूर्व बल और चेतना मिली, तथा धर्म और साहित्य दोनों आभारी हुए, वस्तुतः यह तुलसी की बहुत बड़ी देन थी।

तुलसी ने राम-भक्ति की परम्परागत मर्यादा और प्रपत्ति को अपनी कृतियों

में प्रधानता दी है, जिसके आधार पर आराध्य राम के अनुकूल बने रहने, संरक्षण करने, अनन्य आस्था रखने, अहैतुकी कृपा प्राप्त करने आदि की अभिव्यक्ति में उनकी वाणी संलग्न रही है। इन्हीं के साथ अपनी दैन्य और अपात्रता सिद्ध करने और आराध्य के प्रतिकूल भावनाओं का परित्याग रखने का भी वह प्रतिपादन करते चले हैं। इन्ही से निर्मित काव्य-पथ पर चलते हुए उन्होंने भारतीय जीवन की सात्विक और तात्त्विक आवश्यकताओं को समेटा है, जिससे समन्वयवादी तथ्य स्वत: ही उनके काव्यों में केन्द्रित होते चले हैं।

तुलसी की उपर्युक्त स्थापनाओं और प्रयोगों की परम्परा का कोई भी रूप हिन्दू-धर्म और हिन्दी-काव्य में न उनमें पूर्व उपलब्ध है और न उनके अनन्तर ही अक्षुण्ण रह सका है। कृष्ण-भक्ति-काव्य में उसके माधुर्य तत्त्व तक ही सीमित रह जाने के कारण उसमें उसको प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता, स्वयं रामावत सम्प्रदाय के कवि भी उनके प्रतिपादित आदर्श को सुरक्षित न रख सके। फलत: तुलसी अपने पथ के अकेले ही पथिक रहे हैं और आज भी उनका काव्य प्रकाश-स्तम्भ के समान साहित्य, समाज और धर्म के पथ पर अपनी आभा विकीर्ण करता हुआ उन्हें अग्रसर रहने के लिए अभिप्रेरित करता है।

गो० तुलसीदास के अनन्तर राम-गीति काव्य की परम्परा आज तक उपलब्ध है। हम सरलता से उसके दो विभेद कर सकते हैं—

१. शिष्ट साहित्य में राम परक गीत-काव्य।

(अं) रामावत सम्प्रदाय में भक्त कवियों का गीत-काव्य।

(आ) काव्य-क्षेत्र की साहित्यिक रचनाओं में गीत-काव्य।

२ लोक-साहित्य में राम परक गीत काव्य।

मेरा आलोच्य-विषय केवल राम-पद परम्परा को प्रस्तुत कर रहा है, इससे यहाँ उसी के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है। अन्य का संकेत ही मिलेगा विवेचन नहीं।

१. शिष्ट साहित्य में राम परक गीत काव्य

(अ) रामावत सम्प्रदाय में भक्त कवियों का गीत-काव्य—रामावत सम्प्रदाय की प्रगति के सम्बन्ध में यह संकेत किया जा चुका है कि तुलसीदास के अनन्तर उसमें एक नवीन मोड़ समाविष्ट हो उठा है। उन तक दास्य भाव मर्यादा-तत्त्व, कर्त्तव्य, निष्ठा आदि सम्प्रदाय के आवश्यक अंग थे; किन्तु अनन्तर वे अनावश्यक हो उठे और उनके स्थान पर माधुर्य की सरसता और प्रेम की मादकता ही पर्याप्त समझी जाने लगी। इससे सम्प्रदाय यदि नवीन पथ पर अग्रसर हो उठा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

आलवार सन्तों, अग्रदास और तुलसी में भी यत्र-तत्र माधुर्य भाव आनुषङ्गिक

रूप से आ गये हैं ; किन्तु उन लोगों ने सम्प्रदाय की मूल चेतना को कहीं भी अवरुद्ध और धूमिल नहीं होने दिया। अनन्तर उसके अनुयायियों ने इसे नहीं समझा और उसकी परम्परागत दृढ़ता और मार्मिकता की पूर्ण उपेक्षा कर दी। वे भागवत के प्रभाव से संचरित कृष्ण के स्वरूप की ओर ललक उठे और उसी को उन्होंने अपने आराध्य के लिए उचित समझा। फलतः राम-भक्ति में भी रसिक-भाव का प्राबल्य हो उठा। सम्प्रदाय की इस नवीन पद्धति के पोषण में रसिक भक्तों को कुलशेखर, शठकोप आदि आलवारों के भगवान और भक्त के पति और पत्नी के रूपकों ने बड़ी अभिप्रेरणा दी। कृष्ण-काव्य में भागवत के प्रभाव के समान राम के रसिक भाव के सम्बन्ध में शिव-सहिता, और हनुमत्सहिता आदि ने भी प्रेरणाएँ दीं और सम्प्रदाय तुलसी जैसे आदर्श महाकवि के अभाव में अपनी दिशा को बदलने के लिए वाध्य हो उठा। सच तो यह है कि सम्प्रदाय के परम्परागत राम के लोकादर्शों के उपयोग का अवकाश न रह गया। उनके शक्ति-शील सौन्दर्य इन तीन तत्त्वों के स्थान पर शक्ति और शील तिरोहित हो गए और सौन्दर्य का उपयोग पक्ष ही अवशिष्ट रह गया। फलतः व्यावहारिक आदर्श के अभाव में सम्प्रदाय एकांकी और संकीर्ण हो गया।

रसिक भाव की उपासना के लिए सम्प्रदाय में पद या गीत शैली का ही अधिकाधिक प्रयोग हुआ है। अभी तक इस परम्परा के पोषक भक्त कवियों के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात न होने से उनकी रचनाएँ भी अज्ञात ही रहीं किन्तु श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' के राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना और डा० भगवतीसिंह के राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय शोध-ग्रन्थों के प्रकाशनों से उनके साहित्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है जिससे सम्प्रदाय में अविच्छिन्न गीति-परम्परा उपलब्ध हुई है।

रसिक भक्तों के माधुर्य परक गीतों से सम्प्रदाय की यह भावना अधिकाधिक पुष्ट होती गई। नाभादास के रामाष्टयाम से अन्तःपुर और राम के भोजन के समय नृत्य, सङ्गीत आदि के सरस वर्णन प्रस्तुत किए गए। बालकृष्ण, श्री कृपा निवास आदि के विविध काव्यों से यह उपासना पुष्ट होती गई। अनन्तर जब राम चरणदास करुणासिन्धु ने दाम्पत्य भाव से प्रेरित हो 'स्वसुखी' और सखी भाव के आधार पर जब जीवाराम ने 'तत्सुखी' नाम की शाखाएँ प्रवर्तित कीं तब तो राम-भक्ति का यह रसिक सम्प्रदाय एक सुदृढ़ पथ पर आकर आरूढ़ हो गया।[1]

देखो झूलत राघो डोल।
जनक सुता लीने संग सोभित यौर स्याम तन लोल॥
हीरा पन्ना लाल पिरोजा रतन खचित बेमोल।
क्रीड़त राम-जानकी दोऊ बजै दुन्दभी ढोल॥
हँसत परस्पर प्रीतम प्यारी आनन्द बढ़्यो सचोल।

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास।

श्री अग्रअली सुनि-सुनि पार्बति बोलहि मीठे बोल ॥

तुलसीदास ने अपनी गीतावली के उत्तरकाण्ड में राम सीता की वसन्त और फाग की क्रीड़ाओं में इसी प्रकार के आनन्द-विलास की व्यवस्था की है। वह स्थल तुलसी-काव्य में अपूर्व और विचित्र लगता है अग्रदास का यह पद भी राम की मर्यादा के भाव के विरुद्ध निम्न स्तर पर उतरा हुआ है। राम-सीता की परस्पर की हँसी भले ही सभी को आनन्दित करती हो ; किन्तु वह मर्यादा पुरुषोत्तम राम की हँसी नहीं है। उसमें चिर-परिचित गाम्भीर्य नहीं है।

रामचरणदास द्वारा 'स्वसुखी' शाखा के स्थापित हो जाने पर उपासना के माधुर्य भाव को बड़ा बल मिला। उसके अनुयायियों ने अपने आराध्य के प्रति अपने अन्तस्तल के पत्नी-भाव को व्यक्त करने में विशेष सुख की अनुभूति की। रामचरण-दास रचित 'रसमालिका' में उन्होंने रसिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का सन्निवेश किया है उसमें उसका पत्नी भाव देखिए—

राम-नाम बन्दौं यदपि मुख ते कहा न जाय।
ज्यों तिय निज पति नाम कों कहत बहुत सकुचाय ॥

इस प्रवृत्ति और भाव के कारण उनके पद बड़े ही मधुर और रसपूर्ण हो गए हैं।

साज-सज्जा से युक्त राम-सीता शृंगार-विपिन से रास-स्थल पर पधार रहे हैं। सखियाँ उनके समक्ष विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ प्रस्तुत करती चलती हैं।

आवत राम बिहारी देखो सखि।
सरयू तीर शृंगार विपिन ते अति अनूप छवि न्यारी ॥
सीताराम मनोहर जोरी चितवन की बलिहारी।
कुंडल अलक हलक बुलाक की दलकत हृदय हमारी ॥
संग सखी सोहैं अलबेली बनी ठनी छविकारी।
सुमन सिंगार किए नख-शिख लौं निजकर श्याम सँवारी ॥
प्रभु आगे सखि खेलत आवें फूलन गेंद उछारी।
झुकि झुकि लेत परस्पर फेंकहि लखि अनन्द पिय प्यारी ॥
आए दम्पति रामचरण सखि सुमन सिंगारी उतारी।
नख-शिख मणिभुषण सिंगार करि सिंहासन बैठारी ॥[१]

इन पक्तियों में राम के स्वरूप का केवल उपभोग-पक्ष ही वर्णित है। शक्ति-शील-सौंदर्य से युक्त उनके लोक-विहारी स्वरूप के स्थान पर रास-विहारी का रूप ही अवशिष्ट रह गया है। दुर्जन के स्थान पर सज्जन, साधु, विप्र आदि, पाप के स्थान पर पुण्य, तप के स्थान पर सत्, सामाजिक अनाचार और कदाचार के स्थान

१. श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृष्ठ २५२

पर सदाचार की प्रतिष्ठा का कोई भी आचरण राम के इस वृत्त में नहीं है। यह चरित्र के प्रयत्न पक्ष से शून्य एकांगी है। राम का यह रूप लौकिक शृंगारिक भावनाओं को भले ही अंकुरित कर सके सात्विक चिराह्लाद को नहीं प्रदान कर सकता।

रामचरणदास की शिष्य-परम्परा में जीवाराम 'युगल द्विया' जनकराज किशोरीशरण 'रसिक अली', हरिदास आदि ने इस उपासना के शास्त्रीय पक्ष को सभो प्रकार पुष्ट किया है।[1] 'युगलद्विया' ने इसी में 'तत्सुखी' शाखा स्थापना की थी, जिसके द्वारा इसे रसिकोपासना में 'परकीयाभाव' की उपासना का सूत्रपात हुआ।

जादू भरी राम तुमरी नजरिया।
जेहि चितवत तेहि बस करि राखत सुन्दर श्याम राम धनु-धरिया॥
जुलफन युत मुख चन्द प्रकाशत नासामणि लटकन मनहरिया।
युगलप्रिया मिथिला पुर बासिन फँसो जाल बिच मानो मछरिया॥[2]

राम के सौंदर्य का यह प्रस्फुटन बहुत निम्न कोटि का है। उसकी पृष्ठभूमि में लोक-धर्म की किसी भी प्रकार की प्रतिष्ठा न होने के कारण यह निराधार है। राम में सौंदर्य था; किन्तु उनकी शक्ति और सीता के प्रभाव के कारण उनके सौंदर्य में जो निखार आना चाहिए था वह यहाँ नहीं है। राम का अवतारी स्वरूप इस स्थल पर विलुप्त हो उठा है। सच तो यह है कि राम के इस रूप में लोक-रंजन का तत्त्व ही नहीं है।

राम ने धर्म के विपक्षियों के संहार के स्थान पर रास लीला तक ही अपने को सीमित कर लिया है। फलतः बानर और भालुओं की सेना के स्थान पर सखियाँ, धनुषबाण की टंकार के स्थान पर वीणा, मृदंग आदि की ध्वनि तथा देवताओं की जय जयकार के स्थान पर चन्द्रकला का गान श्रुतिगोचर होता है—

आज चल देखो री आली श्रीराम रसिक पिय रास रच्यो सुखदाई।
रास भूषन बसन श्याम सलोने अंग लो नील ली संग लोनी अली समुदाई॥
वीना मृदंग मुचंग कठतार चंग बाजत ईमन राग परम सोहाई।
युगलप्रिया गान करहिं चन्द्रकला लाल प्यारी उमंगि तन छाई।[3]

जब त्रेता के राम के समक्ष मुसलमानी काल का यमन राम ध्वनित करने की व्यवस्था कर दी गई है तब राम का ऐतिहासिक अथवा तुलसी द्वारा प्रतिपादित पुरषोत्तम स्वरूप कैसे सुरक्षित रह सकता था।

रसीले लाला लागि गई तोसों प्रीति।
जिय जानत पहिचानत प्रियतम विरहिन रति रुचि रीति॥

---

१. डा० भगवतीसिंह—'राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय' पृष्ठ ४२०
२. श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र—'राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना'—(पृष्ठ २५५)
३. वही वही — —(पृष्ठ २५८)

चाह अथाह हमेश बढ़त चित सचत न गज विपरीत ।
काहू संग रंग निकसे नहि छोड़्यो नीति अनीति ।
युगले अनन्द शरन मिलि हौं प्रिय बढ़ी प्रबल परतीति ।।[१]

स्वामी युगलानन्यशरण 'हेमलता' की उपर्युक्त पंक्तियों में विरह का परकीया भाव ही सुरक्षित है। सीता-रामशरण 'रामरसरंगमणि' ने अपनी 'प्रेम पदावली' के अन्तर्गत राम-सीता के झूलने के मनोहर दृश्य का निम्न पद में सरस वर्णन किया है—

झुकि झुकि सीताराम सु झूलैं ।
सावन सरयू तट प्रमोद वन घन बरसत अनुकूलैं ।।
कल कामिनी कछोटा कसि कसि दोउ दिशि हँसि हँसि हूलैं ।
मिलि मलार गावत सिय पिय सखि सुनि सुरतिय तन भूलैं ।।
अंचल माल सुधारि सनेही लखि चचंल दृग फूलैं ।
प्यारिहुँ अलग सम्हरि लहै रस रंग मणी मुद भूलैं ।।[२]

राम का यह रूप बहुत एकांगी और एक पक्षीय है। उनकी माधुर्योपासना के भूखे भक्त-कवियों के समक्ष ऐतिहासिक और साहित्यिक राम के विविध रूप विद्यमान थे, स्वयं तुलसी का काव्य अनुकरण के लिए विद्यमान था; किन्तु इन सहृदय भक्त-कवियों को उनसे मल्हार गवाना था, भला फिर वे उनके लोक-धर्मों की ओर कैसे दृष्टि फेर पाते। फलतः राम के व्यापक लोकादर्शों का स्खलन हो जाना स्वाभाविक था।

राम की इस रसिकोपासना-परम्परा में इसी प्रकार की पदावलियाँ प्रस्तुत की जाती रही हैं। उनमें उपासना की रसिकता के सम्बन्ध में भले ही सब कुछ हो; किन्तु राम के जीवन का लोक-पक्ष पूर्ण रूप से विनष्ट हो गया, यह पूर्ण सत्य है।

माधुर्य के कारण इस प्रकार के काव्य के आलम्बन राम में 'रति' स्थायी भाव की ही प्रायः प्रतिष्ठा हो सकी और आदि से अन्त तक श्रृंगार के ही विभाव अनुभाव और संचारी भाव उसे पुष्ट करते रहे। फलतः इन पदावलियों में श्रृंगार रस की ही प्रधानता है। वात्सल्य हास्य आदि अन्य रसों का भी यत्र-तत्र समावेश है; किन्तु इनकी प्रमुखता नहीं है।

आ—काव्य क्षेत्र की साहित्यिक रचनाओं में गीत काव्य

तुलसीदास के अनन्तर राम-काव्य की परम्परा अक्षुण्ण रही है। उसके धर्म-

२. श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र—'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना' —(पृष्ठ २७०)

१. वही वही — —(पृष्ठ २६७)

प्रधान एक अंग का विवेचन विगत पृष्ठों में किया जा चुका है, अब रहा अन्य अंग, जिसमें काव्य तत्त्वों की प्रमुखता है उसे भी प्रस्तुत कर उसकी गीत परम्परा का अनुशीलन करना आवश्यक है।

तुलसीदास के अनन्तर केशवदास की 'रामचन्द्रिका' सेनापति के 'कवित्त रत्नाकर' अन्तर्गत 'राम रसायन', अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'वैदेही वनवास', रामचरित उपाध्याय का 'रामचरित चिन्तामणि' रामनाथ ज्योतिषी का 'रामचन्द्रोदय,' मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत', बलदेव प्रसाद मिश्र का 'साकेत सन्त' आदि राम परक प्रमुख रचनाएँ हैं। गीत तत्त्वों के सम्बन्ध में इन सम्पूर्ण कृतियों में केवल 'साकेत' और 'साकेत सन्त' ही हमारी विचार-सीमा के भीतर आते हैं। शेष रचनाओं में अन्य शैलियों का ही ग्रहण हुआ है। इससे उनको विवेचन का विषय नहीं बनाया गया है। फिर भी इस स्थल पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इन रचनाओं द्वारा रामचरित के अधिकाधिक तथ्यों और तत्त्वों का प्रस्फुटन होता रहा है और इनमें राम-चरित एकांगी और एक पक्षीय नहीं हो गया है जैसा धार्मिक परम्परा के अन्तर्गत उपलब्ध हुआ है। यह अवश्य सच है कि गोस्वामी तुलसीदास के समान इन कवियों ने समन्वयवादी भावनाओं और लोकादर्शों को अपने काव्य-उपादान के रूप में नहीं चुन पाया है। इसी से तुलसी-काव्य के समान वे जन-जीवन का चिरंतन रंजन और तुष्टि करवाने में असमर्थ रहे हैं।

भगवान् राम और पुरुषोत्तम राम इन दोनों स्वरूपों को एकाकार करने में तुलसी ने स्तुत्य प्रयास किया है। उन्हें सामान्य भूमि पर उतार कर भी उन्होंने उनके भगवान् रूप को कहीं भी धूमिल और स्खलित नहीं होने दिया। यह असन्दिग्ध रूप से तुलसी की बहुत बड़ी प्रतिभा का काम था। उनके अनन्तर आज तक कोई भी कवि उक्त महदुद्देश्य तक नहीं पहुँच सका है, यह आश्चर्य की बात है।

काव्य वस्तु और भाव का वैशिष्ट्य तो तुलसी में था ही; किन्तु उन्हीं के अनुकूल विविध काव्य रूपों और भाषा-शैली का ग्रहण भी उन्होंने किया है। इसी से उनका गान किया हुआ राम-चरित राजा से रंक तक को समेटे है। सब उसे पढ़ते और सुनते हैं तथा अपने स्तर के अनुसार ही उनसे रंजन और आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार की सर्व-सुलभता तुलसी के अनन्तर के राम-चरित-काव्य में समाहित नहीं हैं। 'रामचन्द्रिका' और रामचन्द्रोदय में पाण्डित्य है। 'राम रसायन' में रीतिकालीन कवि का वाणी-विलास है, 'रामचरित चिन्तामणि' में वचन-विदग्धता और 'वैदेही बनवास', 'साकेत' तथा 'साकेत सन्त' की काव्य वस्तु एकांगी है। ये सब अपने काव्य तत्त्वों को लेकर तुलसी जैसी सफलता नहीं प्राप्त कर सके हैं।

उपर्युक्त काव्यों में 'साकेत' और 'साकेत संत' दोनों महाकाव्य 'उर्मिला' और भरत को क्रमशः प्रधानता देने के लिए लिखे गए हैं, जिनके माध्यम से व्यक्तिवादी भावनाओं के प्रस्फुटन का अवसर इन काव्यों में प्रतिष्ठित हुआ है। बाल्मीकि और

तुलसी की उपेक्षित उर्मिला जब गुप्त जी की प्रतिभा के बल पर बोल उठी लोगों को उसकी वाणी सुनकर बड़ा कौतूहल हुआ। रघुकुल की वधू का इतना मुखरित होना भले ही मर्यादा की सीमाओं को तोड़ता प्रतीत हो; किन्तु जीवन के दारुण आघातों को सहन करती हुई वह मूक ही रही हो, ऐसा भी तो सम्भव नहीं है। इसी से गुप्त जी ने अन्तस्तल की बात कहने की उसे पूर्ण स्वच्छन्दता दे दी है। इस अधिकार को प्राप्त कर उसने अपने मानस के सदन को मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है; किन्तु कहीं-कहीं उसके कथन में आधुनिकता भी समाहित हो उठी है, यही कुछ अखरता है।

साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला की विरह-व्यथा प्रस्फुटित हो उठी है। उसके लिए कवि ने ऊहात्मक उक्तियों का आश्रय न लेकर परिवार और संसार को उसके कथन का विषय बनाया है, जिनमें स्वाभाविकता की अनुभूति होती है। गुप्त जी उसके प्रति विशेष सहृदय हुए हैं, इससे उन्होंने विप्रलम्भ के इस करुण स्थल को यों ही नहीं छोड़ दिया है।

उर्मिला के इस आत्माभिव्यंजन के लिए कवि गुप्त ने गीत शैली को ही उचित समझा है, इसमें उसकी भावनाएँ अधिक मनोरम और मार्मिक हो उठी हैं। प्रियतम के विरह से उसके मानस पर अवधि-शिला का बोझ था, जिसको अपनी अश्रु-धारा के प्रभाव से वह काट रही थी। उसके विरह की यह व्यथा अन्तिम सर्ग तक जहाँ लक्ष्मण से उर्मिला की भेंट हुई है, वहाँ तक प्रवाहित रही है। 'प्रिय, जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती वेला' में जीवन की विरह-घटना का उसे दुःख है। यह विरह-जनित दुःख वर्णनातीत होने के कारण महाकवियों द्वारा काव्य का विषय नहीं बनाया गया; वस्तुतः उसी में उसकी गरिमा थी। साकेत में उसे सम्यक् स्थान मिलने और उसकी अश्रुधारा के प्रवाहित करने पर भी गुप्त जी का मानस अतृप्त ही रहा है।

विरह-वेदना को उर्मिला प्रिय समझ रही है। प्रियतम के प्रवास के कारण वह अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं की उसी में पूर्ति देखती है। माता के समान वेदना भी उसे अपने वक्षस्थल से लगाए है इस प्रकार वेदना में निमग्न उसका समय कटता चला जाता है—

वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
नई किरण छोड़ी है तूने तू वह 'हीर-कनी'।
सजग रहूँ मैं साल हृदय में, ओ प्रिय विशिख-अनी।।
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे हगम्बु, सनी।
तू ही उसे उष्ण रखेगी मेरी तपन-मनी।।
आ, अभाव की एक आत्मज, और अदृष्टि-जनी,

तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी।
अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी,
अपने को, प्रिय को जगती को देखूं खिची-तनी।
मन सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपल-खनी,
तुझे तभी छोड़ूं जब सजनी पाऊँ प्राण-धनी।

विरह के साथ वह जीवन की प्रतिक्रियाओं का भी अनुभव करती है। उसके अन्तर्तम में ही मिलन का भाव अन्तर्निहित है। विरह की कठोरता भले हो पीड़ित करे; किन्तु जीवन के संयोग की मधुर स्थितियाँ सदैव स्मृति में आती रहती हैं। परिस्थितियाँ मानव जीवन को भावना देती हैं, इसी से उसके लिए मृत्यु भी प्रिय हो जाती है। उर्मिला के निम्न गीत में विरोधाभास की सुन्दर व्यवस्था है—

विरह संग अभिसार भी,
भार जहाँ आभार भी।
मैं पिंजड़े में पड़ी हुई हूँ किन्तु खुला है द्वार भी,
काल कठिन से क्यों न हो किन्तु है मेरे लिए उदार भी।
जहाँ विरह ने गार दिया है किया वहाँ उपकार भी,
सुध बुध हरली, किन्तु दिया है काल-ज्ञान विचार भी।
जना दिया है उसने मुझको जन-जीवन है भार भी,
और मरण ? वह बन जाता है कभी हिये का हार भी।
जाना मैंने इस डर में थीं, ज्वाला भी जलधार भी,
प्रिय ही नहीं यहाँ मैं भी थी और एक संसार भी।

सखि रात्रि के आगमन पर दीपक जलाकर प्रकाश की व्यवस्था करना चाहती है; किन्तु निराशाओं के अन्धकार में वह प्रकाश को नहीं चाहती। प्रियतम को स्वप्न में ही देख सके इससे वह 'गूंगी निंदिया' का आह्वान कर उठती है; किन्तु रात बीत गई, स्वप्न भी नहीं आया। अनन्तर प्रातः और दिन की परिस्थितियों से जूझने के लिए सन्नद्ध हो उठी है।

दिन जो मुझको देंगे, आलि, उसे मैं अवश्य ही लूंगी,
सुख भोगे हैं मैंने, दुःख भला क्यों न भोगूंगी ?

दिन और रात के इस आवागमन में उर्मिला का विरह बढ़ता ही गया है। उसने षट-ऋतु के कष्टों और व्यथाओं को भी विरहिणी नायिकाओं के समान उसकी वाणी भी ध्वनित हो उठी है।

जा मलयानिल, लौट जा यहाँ अवधि का शाप।
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप।

शीतल, मन्द, सुगन्ध मलय पवन उसके समीप आकर उसकी विरह ज्वाला से दग्ध न हो उठे इससे उसने, उससे वहाँ से लौट जाने के लिए निवेदन किया है।

वसन्त ऋतु में कामदेव फलों के वाण से संसार पर आक्रमण कर देता है, अपनी वियोगिनी-स्थिति में वह उससे सहृदय रहने के लिए प्रार्थना करती है। अच्छा रहे कि वह अपना जाल संयोगनियों के लिए ही फैलाए, क्योंकि उस विरह-दशा में उसके प्रयत्न पूर्ण विफल होंगे।

मुझे फूल मन मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन, पटु तुम कटु गरल न गारो।
भुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो।
बल हो तो सिन्दूर-बिन्दू यह-यह हर-नेत्र निहारो।

विरह में उसकी अभिलाषाएँ प्रियतय के सम्मिलन के लिए आतुर और आकुल होती रही हैं। अपने को मिटाकर भी वह उनको लाने के लिए सदाशापूर्ण है—

अब जो प्रियतम को पाऊँ।
तो अच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ।
आप अवधि बन सकूं कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ।

विरह के कारण उसका मानस निरन्तर रुदन करता है; किन्तु उसको दुःख है तो यही कि उसकी वाणी उसके प्रियतम तक नहीं पहुँच पाती है। इस विवशता के कारण वह उस बन में जाकर रहना चाहती है जहाँ उसके प्रियतम अपने पवित्र कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ हैं। वहाँ आकर भी वह उनके व्रत में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं डालना चाहती है, किन्तु अपनी व्यथा का समाधान चाहती है—

प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूं रहूँ निकट भी दूर।
कथा रहे, पर साथ-साथ ही समाधान भरपूर॥

उर्मिला निम्न गीत में यौवन का शिशु के साथ सांगरूपक प्रस्तुत कर उससे शान्त रहने के लिए निवेदन करती है। उससे उसका कथन है कि वह डरे नहीं क्योंकि इस दुकाल बीतने पर सुकाल होगा और उसको आनन्द मिल सकेगा। मन रूपी पुजारी द्वारा तन रूपी थाल में यौवन रूपी लाल को प्रिय को भेंट देने के लिए वह सहेज रही है—

मेरे चपल यौवन-बाल।
अचल अंचल में पड़ा सो, मंचल कर मत साल।
बीतने दे रात, होगा सुप्रभात विशाल।
खेलना फिर खेल मन के पहन के मणि माल।
पक रहे हैं भाग्य-फल तेरे सुरम्य-रसाल।
डर न अवसर आ रहा है, जा रहा है काल।

मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल।
मेरे प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल।

उर्मिला के विरह में वैयक्तिकता है, इसी से साकेत के ये सभी गीत उसी की व्यथा को समाहित किए हैं। उसके विरह-विलाप में समष्टि का तत्व उपेक्षित ही रहा है। इसी से भारतीय साहित्य की समन्वयवादी भावनाओं के समक्ष वैयक्तिकता से परिपूर्ण उसका चरित्र विशिष्ट और कौतूहलपूर्ण प्रतीत होता है।

यह सत्य है कि गुप्त जी ने राम के वृत्त को मानवतावादी नवीन दिशा प्रदान की है, जिससे उर्मिला के प्रति हमारी कोमल और सहृदय पूर्ण भावनाओं का उद्रेक स्वाभाविक है; किन्तु तुलसी गीति-काव्य के समान उसमें गम्भीरता, मनोराज्य, विचारों की कोमलता आदि के अभाव की अनुभूति ही होती है।

साकेत की उर्मिला के समान बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'साकेत सन्त' में भरत के चरित्र को प्रमुखता देने का प्रयत्न किया है। इस काव्य में कैकेयी की बुद्धि फेरे जाने के दैवी विधान का उल्लेख होकर कैकेयी और दशरथ के विवाह के समय की उस शर्त का आधार बनाया गया है कि कैकेयी का औरस पुत्र ही अयोध्या की राजगद्दी का अधिकारी घोषित हो; किन्तु राम के प्रति अनन्य वात्सल्य के कारण वह वैसा न कर सके तब उस शर्त को कार्यान्वित करने के लिए भरत के मामा युधाजित् ने विविध युक्तियाँ अपनाईं और वह भरत की विरोधी चेष्टाओं पर भी सफल हुए। इस प्रकार मिश्र जी ने कैकेयी को निष्कलंक रखने का प्रयत्न किया है। भरत जब मातृ-गृह से लौटकर अयोध्या आए तब तक राम का बनवास और दशरथ का निधन आदि सभी घटित हो चुका था। अग्रज के प्रति अनन्य निष्ठा और अयोध्या के राजवंश के उत्तराधिकार के विधान के कारण वह राज्य स्वीकृत न कर सके। वह चित्रकूट गए; किंतु वहाँ से निराश लौट आने पर उन्होंने सन्त-जीवन स्वीकार कर लिया। प्रजा-पोषण में वह निरन्तर प्रवृत्त रहे अनन्तर साकेत में ही हनुमान और वशिष्ठ की दिव्य दृष्टि द्वारा उन्हें राम विषयक सभी वृत्त मिलते रहे।

भरत के आदर्श में मानवीय आदर्शों की ही परिणति है। उन्होंने राम की थाती को ब्याज सहित लौटा दिया और स्वयं जीवन को शान्ति में निमग्न कर दिया।

प्रभु चरणों में अर्पित कर दी ब्याज सहित सारी थाती,
आज भरत की पराशान्ति में शान्ति स्वयं सिमटी जाती।

यह काव्य बहुत कुछ साकेत वृत्तों पर ही अपने अस्तित्व को आधारित किए है। उसमें यदि उर्मिला को प्रधानता है तो इधर भरत को, उर्मिला की वाणी वहाँ यदि ध्वनित है तो यहाँ भरत का। राम के वृत्त जानने के लिए दोनों काव्यों में एक ही साधन अपनाए गए हैं। इस प्रकार 'साकेत सन्त' में साकेत की 'वस्तु' ही साकार हो उठी है। इस काव्य में भी मानवीय विचारधाराओं को ही प्राधान्य मिला है।

साकेत सन्त के १४ वें सर्ग में मिश्र जी ने कुछ गीतों की योजना प्रस्तुत की

है। इनमें भरत की वाणी अभिव्यंजित न होकर कवि द्वारा भरत, माण्डवी, हनुमान, वशिष्ठ तथा भरत के आदर्शों का गान किया गया है।

काव्य में भरत के नायक होने के कारण माण्डवी को चर्चा का विषय बनाया गया है। 'तन पर दो खादी के टुकड़े, चार चूड़ियाँ प्यारी' कहकर मिश्र जी ने उसे आधुनिकता से विभूषित कर दिया है; किन्तु फिर भी उसमें अपूर्व संयम और पति-सेवा की भावना है—

भारत की यह नारी।
कल थी वधू आज माता-सी दिव्य देवियाँ हारी॥
तन पर दो खादी के टुकड़े, चार चूड़ियाँ प्यारी।
एक छत्र शासक की यह थी आधी देह दुलारी॥
दोनों एक, परन्तु बीच थी असिधारा वह भारी।
चौदह वर्षों तक न भावना जिसने अन्य निहारी॥

उर्मिला का प्रिय व्रत में निमग्न उससे कोसों दूर था, इससे उसकी विरह-वेदना का निसृत हो उठना स्वाभाविक था, फिर भी पत्नी की कामना लेकर वह उसके समीप नहीं पहुँच सकती थी, इस भावना को लेकर कवि ने उसके चरित्र को उठाने का प्रयत्न किया है—

दूर उर्मिला का सागर था।
देह महल में रुद्ध हुई थी, पर न निसद्ध विरह-निर्झर था॥
भरी दृगों ने जल-धाराएँ, शब्द-शब्द करुण-कातर था।
किन्तु माण्डवी को तो आहों का भरना भी वर्जिततर था॥
सम्मुख है राकेश चकोरी पर न उधर निज नयन उठाये।
विकसी प्रभा प्रभाकर की है, पर न कमलिनि मोद मनाये॥
था बसंत आँखों के आगे पर कीलित ही पिक का स्वर था।
अहह! माण्डवि को तो आहों का भरना वर्जिततर था॥
जो है दूर उसि कि आशा रख कर मन समझाया जावे।
समझ सराहूँ में उस मन कि पास रहे पर पास न आये॥
सलिल-विरह कि बात न जिसमें, स्वतः प्यास उठता दुर्भर था।
अहह! माण्डवि को तो आहों का भरना भि वर्जिततर था॥

माण्डवी के समक्ष भरत के साधु-जीवन की गति-विधि के प्रस्तुत रहने पर भी उसकी आहों पर निग्रह उसकी वासना-मूलक निवृत्ति का ही द्योतक है। अन्यथा उसके लिए यही क्या कम सौभाग्य था कि उसके पति उसके समक्ष राज्य-संचालन और लोक-कल्याण में प्रवृत्त थे। वैयक्तिक वासना को वर्ण्य विषय बनाकर इस प्रकार चित्र प्रस्तुत करने में आज के युग के मानव की सहृदयता भले ही उधर आकर्षित हो उठे; किन्तु रघु-वंश की गम्भीर और आदर्श मर्यादा के विलोप में वह

अवश्य है, यह ध्रुव सत्य है। इसको ध्यान में रखकर ही बाल्मीकि और तुलसी इन चरित्रों के सम्बन्ध में पूर्ण मूक रहे थे।

हनुमान से लक्ष्मण-शक्ति और राम की विह्वलता का समाचार प्राप्त कर भरत लंका जाने के लिए सन्नद्ध हो उठे और वह अपनी मानस-शक्ति के बल पर उड़ने के लिए आकाश में जा पहुँचे; किन्तु तभी गुरु वशिष्ठ ने उन्हें आसन्न भविष्य देखने के लिए दिव्य दृष्टि प्रदान कर दी। भरत ने लंका-विजय के सुन्दर चित्र देखे और उन्होंने जीवन भर के सेवा-व्रत लिए और दृढ़-व्रती रहने का संकल्प कर लिया—

गुरु वशिष्ठ उस ही क्षण आए।
मानस विद्युत के लाधव से, जबकि भरत नभ पर मंडराये॥
रोका उन्हें और गुरु बोले, "दिव्य दृष्टि देता हूँ देखो।
प्रभु की आज्ञा को मत टालो, लो आसन्न भविष्य सरेखो।"
चल-चित्रों-से सन्मुख आए लंका-जय के चित्र सुहाए॥

तुलसी द्वारा राम-चरित का एक स्वरूप 'मानस' 'कवितावली' और 'गीतावली' द्वारा प्रस्तुत कर दिया गया था। उसी को तुलसी के उत्तरकालीन कवियों ने परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ अपने काव्य का विषय बनाया। 'रामचन्द्रिका' 'कवित्त रत्नाकर' 'रामचन्द्रोदय' 'रामचरित चिन्तामणि' आदि काव्यों में अधिक प्रावतन तत्त्व है जबकि 'वैदेही बनवास' 'साकेत' और 'साकेत-सन्त' में प्राचीन वृत्त के होने पर भी कवि की भावनाओं ने नूतन दिशा को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। इनमें 'साकेत' और 'साकेत संत' तो नूतनतम तत्त्वों पर अपना शिलान्यास कर सके हैं। इसी से उनकी वस्तु हमारे कौतूहल को जागृत करती हैं। उनकी प्रियता का कारण यही वे तथ्य हैं।

उपर्युक्त दोनों काव्यों में गीति-तत्त्वों का भी पोषण हुआ है; किन्तु तुलसी के समान लोक-रंजक और समन्वयवादी गीत ये काव्य प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। इनसे हमारी वैयक्तिक और मनोवैज्ञानिक भूमि की भावनाओं की तृप्ति भले ही हो सके; किन्तु सार्वभौम भावनाओं का उनमें अभाव है। फलतः इन काव्यों के गीत तुलसी के गीतों की समता में स्थिर नहीं हो सकते हैं।

इन काव्यों के गीत छायावादी काल के गीतों के अनुकरण पर निर्मित हुए हैं। इन गीतों में राग-रागनियों के नाम कवियों द्वारा अवश्य परित्यक्त कर दिए गए हैं; किन्तु इनमें गेयता के सभी तत्त्व उपलब्ध हैं। गाने से ही उनके माधुर्य और आकर्षण छलक उठते हैं। इस दृष्टि से छायावादी काल का सम्पूर्ण गीत साहित्य मध्यकालीन गीत साहित्य से वैविध्य रखता है। 'साकेत' और 'साकेत सन्त' के गीत तुलसी से तो अवश्य नहीं आगे जा सके हैं; किन्तु उन्होंने तुलसी के राम-चरित की गीति-परम्परा को अवश्य अग्रसर किया है, यह सत्य है।

२. लोक-साहित्य में राम परक गीत काव्य

राम और कृष्ण दोनों अवतारों के चरित्र अन्य अवतारों की अपेक्षा हमारे जन-जीवन के अधिक समीप रहे हैं। अवतार लेकर उन्होंने मानव के समान ही आचरण किया है। इससे उनके वृत्तों और आदर्शों का भारतीय जीवन में सरलता से ग्रहण होता रहा है और उनकी परम्पराएँ उसकी अभिन्न अंग बन गई हैं।

सम्प्रदायों और शिष्ट काव्यों में उनके चरित्रों को लेकर विविध स्थापनाओं, आदर्शों और मान्यताओं का समावेश होता रहा है। राम के पुरुषोत्तमत्व के साथ भगवान् रूप मिश्रण इसी प्रकार की नवीन अभिवृद्धि रही है। साधारण जीवन में विविध संस्कारों और समारोहों के अवसर पर उनके वृत्तों के गान से उनकी अविच्छिन्न परम्परा जुड़ती चली आ रही है। इसी से सोहरों, वैवाहिक समारोहों तथा सामाजिक उत्सवों आदि के अवसरों पर गान में उनकी जीवन-लीलाओं का उपयोग किया जाता है।

लोक-जीवन की इस प्रवृत्ति से राम और कृष्ण दोनों की लीलाएँ अक्षुण्ण रह सकी हैं। विवेच्य विषय के अनुसार हमारा सम्बन्ध केवल राम के जीवन से ही है। इससे राम परक लोक-गीतों पर विचार करना ही इस स्थल पर उचित है।

पुत्र के अभाव में राजा दशरथ ने तीन विवाह किए; किन्तु फिर भी उनमें से किसी के भी पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ। अन्त में कौशल्या ने शुभ स्वप्न देखे, रानियाँ गर्भवती हुईं और उनके पुत्र-रत्न उत्पन्न हुए। राजा ने पुत्रों के उत्पन्न होने पर हीरा-मोती बाँटे और आनन्द मनाया।

सोने के खड़उवाँ राजा दसरथ खुटुर खुटुर चलैं।
रानी होइगै अजुधिया में सोर कौसिल्या रानी बाँफिन्हि॥
राजा कइलेउ दूसरा विअहवा तउ हमरी बहिनि सँउ।
दूसरा विअहवा राजा किह्यनि छठि माँसा लागनि॥
रानी होइवै अजुधिया में भोर दुनउँ रानी बाँझिनि।
राजा कइलेहु विअहवा जहाँ मोर केउ नाँहि।
तिसरा विअहवा किह्ययनि राजा छठि मासा लागेनि।
रानी होइगै अजुधिया में भोर तिनिउँ रानि बाँझिनि।
सोवत रहलेउँ अटरिया सपन एक देखेउँ।
राजा सपनेक करहु बिचार सपन बड़ सुन्दर।
गंगा मैं देखेउँ चमकत जमुना हलोरत।
राजा लहर लहर देखेउँ सरजू, सपन बड़ सुन्दर।
राजा पाँचइ आम क घवधिया वमन मोहिं दीह्यानि।
चुप रह चुप रह ए रानी दूतिनि न सूनइं।

रानी करिहै अजुधिया न सोर कौसिल्य रानी गरभ सनि ।
होत विहान पह फाटत राम जनम लिहें ।
वहिनी बाजै लागें बरहौ बजनवाँ उठन लागे सोहर ।
कौसिल्या के जनमे हैं राम, सुमित्रा के लछिमन ।
रानी केकई के भरत भुवाल तीनिउँ घर सोहर ।
हँसि हुलसि राजा दशरथ हिरा-मोती बाँटै ।
जब जच्चा क देइ असीस अवधपुर मंगल ।
जो यह मंगल गावै गाइ सुनावइ ।
तो सो तुलसी जगत तरिजाइ अमर पद पावै ।

राम विषयक लोक-गीतों के सम्बन्ध में यह विचारणीय अवश्य है कि उनकी भनिता में अधिकाँशतः 'तुलसी' का नाम ही मिलता है । क्या इन लोक-गीतों के निर्माता 'मानस'-कार तुलसी ही हैं ? इस सम्बन्ध में इतना ही कहना उचित है कि इनके रचियता गोस्वामी तुलसीदास न होकर अन्य लोक-कवि ही रहे हैं । तुलसा की प्रसिद्धि से इन्होंने स्वयं लोक-गीत रचकर उनके नाम से प्रचलित कर दिए हैं ।

राजा के सौभाग्य से पुत्रों के जन्म लेने पर वंश की अप्रत्याशित अभिवृद्धि हुई । परिजन और पुरजन के लिए आनन्दोल्लास का इससे बढ़कर अन्य कौन अवसर हो सकता था । इस अवसर पर राजा के आनन्द समारोह में सम्मिलित होने के लिए पुर-नारियाँ दौड़ पड़ीं । निम्नाङ्कित गीतों में पुत्र-अभाव में रानियों का अनशन, गोदान, पुत्र-जन्म, आनन्द-समारोह आदि के मार्मिक चित्रण प्रस्तुत हैं—

१. अन्ना तो तजइँ कौसिल्या रानी पनियाँ न घोंटै,
राजा तोहिं पर तजवै परान तो एक सन्तति बिन ।
माडेउँ लागति गैया डेवढ़िया प खड़ी करौ,
रानी लइल्य पिताम्बर धोतिया बमन कहँ सौंपैं ।।
लीन्ही है लागति गैया डेवढ़िया प ठाढ़ि किहीं,
रानी लीहीं पिताम्बर धोतिया बमन कहँ सौंपैं ।
होत विहान यह फाटत राम जनम लिहें,
बहिनी बाजै लागीं आनन बधैया, उठन लागे सोहर ।।
मिलहुन सखिया सहेलरि मिलि जुलि चलितिउ,
जहाँ राजा के जनमे हैं राम, कीरति नेवछावरि ।
केउ सखि लिहीं हैं बाजूबन्द केउ कजरोटा,
वहिनी केउ रे दखिनवाँक चीर करै नेवछावरि ।।
भितरा से निकसी कौसिल्या रानी अगँनवाँ में ठाड़ी भईं,
रानी धइ धइ हिरदैया लगावैं करै नेवछावरि ।
रामा के मथवा चननवाँ बहुत निक लागै ।।

रचि दिहे हैं गुरु जी वसिष्ठ देखत निक लागैं ।।
राम के मथवा लुटुरिया बहुत निक लागै,
जैसे फूलहिं के बिच कलिया देखत छवि लागै ।
रामा के नयन रतनोरे कजर भल सोहै,
रचि दीही हैं फूआ सुभद्रा जू पतरिय अगुरिया ।।
रामा के गोड़वा घुघुरवा बहुत निक लागै,
नान्हें गोडवइँ चलइँ देखइँ राजा दसरथ ।
जो यह मंगल गावै गाइ सुनावैं,
तो सों तुलसी जगत हरि जाइ अमर पद पावै ।।

२. चैत के महिवा रामा अवध नगरिया हो,
राम जी लिहेन अवतार हो न ननदिया मोरी ।
राजा के दुअरवा रामा नौबत बाजे हो,
घर घर मंगलचार हो, ननदिया मोरी । —(रामजी लिहेन०)
के तो लुटावे रामा अन धन सोनवा हो,
के तो लुटावे मुतियन थार हो ननदिया मोरी । —(रामजी लिहेन०)
राजा जी लुटावे अन धन सोनवा हो,
रानी लुटावे मुतियन थार हो, ननदिया मोरी । —(रामजी लिहेन०)
सुर नर मुनि मिलि गावत वधैया रामा,
हरखित भूले सब लोक हो, ननदिया मोरी । —(रामजी लिहेन०)

विश्वामित्र जी के साथ राम-लक्ष्मण जनकपुरी पहुँचे और अपने सौन्दर्य के कारण चर्चा के विषय बन गए । उनके अप्रतिम सौंदर्य को देखकर स्त्रियों को विशेष कौतूहल हुआ और वे उनका परिचय प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु हो उठीं—

मुनि संग बालक काके सखी रतनार नैना जाके,
राम लखन कौसिल्या के जाए दशरथ नाम पिता के । —(रतनार०)
क्रीट मुकुट मकराकृत कुण्डल धनुष बाण लिहे कर से । —(रतनार०)
सरयू के तीर अवधपुरी नगरी श्याम गोर संग लेत । —(रतनार०)
सिया जी के साथ सभै सखि आईं पूजा करैं उमा के । —(रतनार०)
तुलसीदास कहैं करजोरे अंक लिखा विधनाके । —(रतनार०)

विवाह-समारोह में 'दीपक की बत्ती' मिलाने का एक संस्कार होता है । भाँवर के अनन्तर वर घर के भीतर, जहाँ ताई मूंदी जाती है और देवी-देवता की स्थापना कर दी जाती है, ले जाया जाता है । वहाँ दीपक में जलती हुई दो बत्तियाँ वर सोने की सींक से मिलाता है । इस समय पर वर के साथ कन्या पक्ष की स्त्रियों को हास-परिहास करने की सुविधा रहती है । राम बत्ती मिलाने के लिए ले जाए गए हैं ; किन्तु आधी रात हो जाने पर जब वह बत्ती नहीं मिला पाते हैं तो जनकपुर की

स्त्रियाँ परिहास मूलक वाणी में राम से कहती हैं—

बीत गई आधी रात राम तुम कस न मिलावहु बाती।
की धर माँ भगिनी सिखलायेसि की बाती लागें ताती।
यह लै जैहहु नगर अजुध्या मातु कौसिल्या साखी।
हँसि मुसुकाई, कह्यो रघुनन्दन हमरे कुल न रीती।
सब मिलि सखियाँ सुमत होइके बोली सब हमरे संग जाती।
जो कुछ माँगे सो देहु ललन क गज मुक्ता बहु भाँती।
मोतिन की रथ झालरि लादहु चढ़ि के अजुध्या को जाती।

विवाह के उपरान्त राम अयोध्या में मोतियों की झालरि से सुशोभित चौकी पर स्नान कर रहे हैं। सीता जी मुस्करा रही हैं। सखियाँ इस समय सीता जी से पूछ ही बैठीं कि वे कौन व्रत-नियम हैं जिनसे राम जैसा वर उन्हें प्राप्त हुआ। सीता एकादशी व्रत, भूखे ब्राह्मणों को भोजन, कार्तिक स्नान, तुलसी का दीपक जलाना, माघ-मास का स्नान, रविवार का उपवास आदि व्रत-नियम के सम्बन्ध में कथन करती हैं। ये वे व्रत-नियम हैं, जिनको हिन्दू-परिवारों की स्त्रियाँ और कुमारियाँ अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए आज भी सम्पन्न करती हैं—

चन्दन केरि चडकिया मोतिन लागि झालरि,
बहिनी तेही चढ़ि राम नहाँइ सीता रानी विहँसहि।
मचियन बैठी सीता जो सखिन सब पूछहि,
सखी कवन किहिउ व्रत नेम जो राम वर पायउँ॥
भूखी रहेउँ एकादसिया दुआदसि पारन,
सखि भूखल बाह्मन खियायउँ रामवर पायँउँ।
कातिक मास नहाँयँउँ अगिन नहिं ताप्यँउँ,
सखि तुलसी क दियना जलायउँ रामवर पायउँ॥
माघै मास नहानेउँ अगिन न ताप्यउँ,
सखि विधि से रहेउँ इतवार राम वर पायउँ।
जो यह मंगल गावै गाइ सुनावै,
तों सो तुलसी जगत तरि जाई अमर पद पावै॥

राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न तथा उनके अन्य मित्र फाग खेलने के लिए जनकपुर में पधारे हैं। एक पक्ष में वे स्वयं हैं और दूसरे पक्ष में सीता जी की अन्य सखियाँ हैं। सबके हाथ में रंग की पिचकारियाँ हैं, कुम-कुम भरे हुए हैं। गुलाल उड़ रहा है, इससे आकाश और पृथ्वी सभी लाल वर्ण के हो रहे हैं—

खेलन फाग आज आये कुमार दसरथ के जाये।
राम लखन अरु भरत सत्रुहन जनक भूप बुलवाये।

अवधपुरी के राम रसिया संग सखा सब लाये।
फिरत चारों इतराये ।।
सबके हाथन रंग पिचकारी कुम कुम भरि भरि लाये।
सीता जी की कोई सहेली घर से न निकसन पाये।
खड़े सब ताक लगाये ।।
मिथिलापुरी की रानी सुनयना रंग कुसुम्भी घुराये ।।
अवधपुरी को कोई बचेना, विन पिचकारी खाये।
गुलाल गालन मलवाये ।।
उड़त गुलाल लाल भये बादर रंगभूमि पर छाये।
शंकरचाप राम जी ने तोर्‌यो मुनि जन मंगल गाये ।।
जनकपुर बजत वधाये ।।

कृष्ण की फाग-क्रीड़ा जन-जीवन में घुसी हुई है। उसी के अनुकरण पर लोक-कवि ने रामचरित के साथ भी उक्त क्रीड़ा का सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न किया है।

कैकेयी के द्वारा राम-बनवास का वर मांग लिए जाने पर वह बन के लिए चल दिए। साथ में उनके लक्ष्मण और सीता थी। वह अयोध्या में माताओं, पिता दशरथ, भरत को रोता-विलपता छोड़कर चल दिए। मार्ग में उन्हें विविध प्रकार के कष्ट सहन करने पड़े।

बन को निकल गये रघुराई।
आगे आगे राम चलत हे पाछे लछिमन भाई ।।
दोनों बीचे मातु जानकी शोभा बरनि न जाई।
घर में रोवै मातु कौसिल्या द्वारे भारत भाई ।।
राज दसरथ प्रान तजत हैं कैकेई मन पछताई।
रिमझिम रिमझिम मेहँ बरासै पवन वहै पुरवाई ।।
कौनहु विरिछ तर भीजत होइहै राम लखन दोउ भाई।
भूख लगे भोजन कहँ पइहैं प्यास लगे कहँ पानी ।।
नींद लगे डासन कहँ पइहैं कुशा काँट गड़िजाई।
लछिमन लावें कन्द मूल फल सीता ने जेवन बनाई ।।
राम लक्ष्मण जेवन बैठे शोभा बरनि न जाई।
तुलसिदास बलि आस चरन की हरि चरनन चित लाई ।।
जे यह पद का गाय सुनावै तरि वैकुण्ठहिं जाई ।।

मर्यादा-पालन की दृष्टि से सीता को बनवास दे देने पर भी अश्वमेध यज्ञ की वेला पर राम को उसकी आवश्यकता पड़ी। उन्होंने उनको बुला लाने के लिए गुरु बशिष्ठ को भेजा। सीता ने उनकी यथोचित अभ्यर्थना की; किन्तु वह लौटने के

लिए सहमत न हुईं—

चैतइ की तिथि नवमी कि रामा जगि रोपइँ।
वहिनि विनुरे सीतहिं जग सूनी त के जग देखै ॥
गुरु तोहरे मनाये सीता मनिहै मनाइ लयावहु।
अगवाँ चले हैं सुभ नउवा तो पिछवाँ वसिष्ठ मुनि ॥
वहिनी तेहि पीछे चले है—लछिमन देवरा सीता क मनावै।
गुरु हेरै लागें विधि कै मड़ैया जहाँ सीता तप करैं ॥
नहाई खोरी सीता ठढ़ि भई, झरोखवा नजर गई।
सखि य त बड़ि भागि हमारी गुरु हमरे आवैं ॥
सोने की थारी में आरति साजिनि साजि उतारिनि।
सीता धोइति गुरु जी के पाँव तो माथ चढ़ाइनि ॥
इतनी जु बुधि सिता तोहरे तु बुधिया में आगरि।
सीता रामक छोड़ेउ अजुधिया तुहूँ वन सेवहु ॥
हमरा कहा सीता करितिउ परग भुंइयाँ चलतिउ।
सीता उजरी अजुधिया वसउतिउ घुमरि वन अउतिउ ॥
तोहरा कहा गुरु करवै परग भुइँ चलवै।
गुरु नाहीं अब अजुधिया सँसत अब सहबै ॥
एक बेरि अगियाम, नायन, फिरि धँवकायनि।
गुरु बड़ि बड़ि सँसति कराइ तो वन क निसारेनि ॥
गुरु इतनौ म जाउँ अजुधिया तो तुलसी अधम बनौ ॥

राम-चरित के उपर्युक्त कुछ स्थलों को लेकर हमने यह देखा है कि उनकी अविच्छिन्न परम्परा जन-जीवन में प्रचलित है। अवसर के अनुकूल गीतों को गाकर पुरुष-स्त्रियाँ अपने समारोहों को सानन्द सम्पन्न करती हैं और इसमें वे विशेष पुण्य का अनुभव भी करती हैं।

तुलसी के अनन्तर के राम परक गीत काव्य का पर्यवेक्षण करके हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि राम गीत-काव्य की परम्परा आज तक प्रवाहित है। राम नर होकर नारायण भी रहे हैं, इससे उनका समन्वित स्वरूप भक्त, साहित्यिक और ग्रामीण सभी को एक समान प्रिय रहा है। उनकी इस सर्व-प्रियता के कारण कवि राम को अपनी काव्य वस्तु का विषय बनाता रहा है।

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है ॥

राम-चरित को लेकर धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्रों में विविध कवियों के गीत काव्यों को हमने विवेचन का विषय बनाया है, उनके साथ तुलसी को रखकर हमने यह निष्पक्ष भाव से विचार किया है कि वे तुलसी के आदर्श तक नहीं पहुँच

सके हैं। यह अवश्य सत्य है कि तुलसी और अनन्तर के कवियों की काल-गत परिस्थितियों में महान् अन्तर है; किन्तु उनके अध्ययन, प्रतिभा, पाण्डित्य, भारतीय जीवन की परख, समन्वयवादिता आदि-आदि ऐसे तत्त्व हैं, जिनको समाहित कर कोई कवि नहीं चल सका है। सच तो यह है कि तुलसी अपने स्थान पर अद्वितीय और अतुलनीय हैं।

गीत शैली के अतिरिक्त अन्य शैलियों में रचित उनके राम-काव्य की तुलना में भी हमको हिन्दी-साहित्य में किसी कवि का काव्य नहीं मिलता है। 'मानस' अपने प्रभाव और स्वरूप में हिन्दी की सभी रचनाओं में शीर्ष पर प्रतिष्ठित है।

तुलसी के स्थान पर हम किसी कवि को प्रतिष्ठित नहीं कर सकते हैं, यह ध्रुव सत्य है। उनकी वाणी प्रत्येक स्तर के मानव के लिये आप्त वाक्य है, इसी से हम तुलसी और उनके काव्य की किसी क्षण उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। इसी से उनकी भावनाओं और विचारों का अनुकरण होता है और सहृदय उसमें अपनी तृप्ति का आनन्द-लाभ करते हैं।

●

: १२ :

तुलसी के पद-साहित्य का वैशिष्ट्य

तुलसी ने अपने समय के अस्त-व्यस्त भारतीय जीवन को सुस्थिर और समन्वित करने के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम रामचरित का आदर्श श्रेयस्कर समझा था, जिसके माध्यम से उन्होंने हमारे पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन के लिए चिरन्तन आदर्श प्रस्तुत किये। वे आदर्श तीन से अधिक शताब्दियों के उपरान्त आज भी हमारे लिए उपयोगी और पूर्ण अनुकरणीय हैं। इस सम्बन्ध में उनके महाकवि की प्रतिभा ही प्रतिफलित हो उठी है जो राम के उदात्त चरित्र के भाव में भारतीय जीवन के सामान्य स्वरूप को वे विस्मृत नहीं कर पाये। इसी से प्रत्येक स्थिति और श्रेणी के व्यक्ति की जीवन विषयक किसी भी परिस्थिति का सम्यक् समाधान और तुष्टि तथा उनकी व्यापक विचारणाएँ और स्थापनाएँ उनके काव्यों में विद्यमान हैं। इससे उन्हें भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि होने की प्रतिष्ठा सरलता से मिल गई है।

वर्णाश्रम एवं नारी आदि की व्यवस्था के सम्बन्ध में उनके कतिपय स्थल आज के सहृदय और विवेकी को संकीर्ण और पक्षपात पूर्ण लगते हैं। इसका कारण एकमात्र उनका दृष्टि-विभेद है। ऐसे स्थलों को आधुनिक युग की गति-विधि, व्यवहार और आचरण की दृष्टि में न रख कर कवि-काल की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों और वर्णाश्रमी परम्पराओं को ध्यान में रखकर विचार करना होगा। उस स्थिति में तुलसी के वे स्थल भी सही और खरे उतरते प्रतीत होंगे, अन्यथा उनके साथ अविचार और अन्याय हो जाने की सम्भावना है।

नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में

निम्न छप्पय प्रस्तुत किया है:—

त्रेता काव्य निबन्ध करिव सत कोटि रमायन।
इक अक्षर उद्धरैं ब्रह्म हत्यादि परायन॥
अब भक्तनि सुख दैन बहुरि लीला बिस्तारी।
रामचरन रसमत्त रटत अहनिसि ब्रत धारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नवका लयौ।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित, बालमीकि 'तुलसी' भयौ॥

भारतीय वातावरण में पुनर्जन्म के सिद्धान्त की मान्यता होते हुए भी हम चाहे तुलसीदास को महर्षि बालमीकि का अवतार न मानें, बालमीकि द्वारा 'करिव सत कोटि रसायन' के एक-एक अक्षर से ब्रह्महत्या के पाप से मुक्ति हो सकती है, इसे (चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्—श्री रामरक्षा-स्तोत्र) विशिष्टाद्वैती साम्प्रदायिक आस्था मानकर हम चाहे उस पर विश्वास न करें किन्तु तुलसी के द्वारा निर्मित राम-काव्य लोक-रक्षक राम के लोकादर्शों तथा शक्ति-शील

सौन्दर्य से समाहित उनकी लीलाओं, आराध्य राम में उनकी निष्ठा और अविचल भक्ति को तो मानने के लिये बाध्य होना ही पड़ेगा। वस्तुत: ये तथ्य ही उनको महाकवि की प्रतिष्ठा प्रदान करने और देश का सर्वोच्च कवि प्रमाणित करने के लिए अलं हैं।

तुलसी की भावनाएँ व्यापक, विचार गम्भीर और काव्य-रूप तथा भाषा-शैली सर्व-सुलभ रही हैं। ये विशेषतायें उनके सम्पूर्ण काव्यों में घुली-मिली हैं। इसी से उनके आदर्शों और विशेषताओं का सामान्य समावेश उनमें उपलब्ध है। इस स्थल पर हमें उनके पद-साहित्य के वैशिष्ट्य का विवेचन करना है। फलत: उन्हें प्रस्तुत करने से पूर्व उनके काव्यों की सामान्य विशेषताओं पर दृष्टिपात करना भी समीचीन है।

तुलसी काव्य की सामान्य विशेषताएँ

'श्री कृष्णगीतावली' के अतिरिक्त उन्होंने अपने शेष काव्यों में राम-चरित को ही प्रमुखता दी है। माधुर्य भाव के कारण यदि कृष्ण में सौन्दर्य का प्राधान्य है तो राम में शक्ति-शील-सौन्दर्य सभी का। राम के जीवन के ये तत्व प्रत्येक क्षेत्र के नर-नारी को अपनी ओर आकर्षित किए हैं। इसी से पुरुषोत्तम राम में भगवत रूप की प्रतिष्ठा से उन्हें अपनी भक्ति भावना और जन-मात्र के रंजन के लिए सरलता से अवकाश प्राप्त हो गया है। पक्षी विपक्षी सभी उनकी अनुकूलता की अपेक्षा करते हैं। रावण तक उनके हाथों से मृत्यु का आलिगन कर सद्गति चाहता है। इसी से हनुमान, अङ्गद, मन्दोदरी आदि के समझाने पर भी वह उनसे बैर नहीं छोड़ता। अन्त में उन्हीं के हाथों से उसका निधन होता है और मन्दोदरी कह उठती है—

अहह नाथ रघुनाथ सम, कृपा सिन्धु को आन।
मुनि दुर्लभ जो परमगति, तोहि दीन्ह भगवान॥

राम के समान कृष्ण भी लीलाधारी भगवान् के रूप में ही चित्रित हैं।

तुलसी के राम कर्त्तव्य और मर्यादावादी हैं। उन्होंने जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का स्वागत और उसी के अनुसार आचरण किया है—शिव-धनुष तोड़ देने पर भी न उन्हें आह्लाद है और न अहंकार, परशुराम के क्रुद्ध होने पर भी न उन्हें क्षोभ है और न रोष, राज्याभिषेक के स्थान पर वनवास का आदेश प्राप्त करने पर भी न उन्हें दु:ख है और न खिन्नता। अन्य स्थलों पर भी उनकी समदृष्टि रही है। उन्होंने सदैव गम्भीरता से आचरण किया है। माता, पिता, अनुज, पत्नी, सखा, सेवक आदि सभी के साथ कर्त्तव्य और मर्यादा से परिपूर्ण उन्होंने व्यवहार किये हैं। इस प्रकार उनके व्यापक चरित्र में भारतीय जीवन की सम्भावित कल्पनाएँ आकर भर गई हैं, जिससे मानव को समान परिस्थितियों में वैसा ही आचरण करने का संकेत मिलता है। केवल राम में ही मर्यादा पालन नहीं है,उनसे संबंधित अन्य भी उसी ओर उन्मुख रहे हैं। दशरथ, कौशल्या, भरत, लक्ष्मण, सीता, निषाद, हनुमान आदि भी उसी में प्रवृत्त हैं। इस प्रकार राम तथा अन्य चरित्रों में समयानुकूल कर्त्तव्य के संकेत उपलब्ध होने के कारण प्रत्येक भारतीय अपने जीवन की किसी भी परिस्थिति का समाधान उनके काव्यों से प्राप्त कर

सकता है। सच तो यह है कि भारतीय जीवन की समग्रता उनमें प्रतिष्ठित हो उठी है। तुलसी इस सम्बन्ध में अद्वितीय हैं। कालिदास, भवभूति, कबीर, सूरदास आदि कोई भी इस व्यापक तथ्य की प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सका है।

राम-राज्य की प्रतिष्ठा में राजा-प्रजा दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। बनवास के लिए राम की विदा-वेला पर प्रजा राम का अनुगमन करने को प्रस्तुत है, जो उसके अनुराग का सबल प्रयोग है तो राम भी प्रजा के आक्षेप से सीता का परित्याग करने को प्रस्तुत हैं जो उनकी प्रजावत्सलता का अमिट स्वरूप है।

हिन्दू-धर्मों के परस्पर के वैषम्य को मिटाकर सर्वधर्म-समन्वय कर समाज की क्षीण होती हुई शक्ति को पुनः सबल बना देना, यह तुलसी जैसे महाकवि की अप्रतिम सफलता है। देश का अन्य कोई भी कवि ऐसी व्यापक रचना को लेकर अग्रसर नहीं हुआ।

ज्ञान, कर्म और भक्ति में उन्होंने भक्ति को ही सर्वोपरि माना है। इस कारण उनके सम्पूर्ण काव्यों में भक्ति ही प्रमुखता प्राप्त करती चली है। यों ज्ञान, कर्म से भी ईश्वर प्राप्ति हो सकती है, किन्तु उनका साधन कठिन है, जबकि भक्ति का मार्ग सरल है। उसमें अपने आराध्य के प्रति अनन्य अनुराग ही पर्याप्त है। इस तथ्य के आधार पर ही उन्होंने भक्तों के लिए भक्ति ही श्रेयस्कर ठहराई है। उसका उन्होंने अपने काव्यों में पग-पग पर प्रतिपादन किया है और स्वयं भी राम की अनन्य भक्ति के लिए कामना करते चले हैं।

तुलसीदास के पद-साहित्य की विशेषताएँ—(१) राम और कृष्ण दोनों अवतारों के प्रति उनके हृदय में समान निष्ठा और भक्ति है। 'गीतावली' के पदों की अन्तिम पंक्ति में यदि राम-भक्ति की भावना पिरोई हुई है तो 'श्री कृष्णगीतावली के पदों में कृष्ण-भक्ति की। इस स्थापना से तुलसी का मानस उदार और भावनाएँ व्यापक सिद्ध होती हैं।

(२) 'श्री कृष्णगीतावली' की स्थापना में वे भागवत से ही अभिप्रेरित रहे हैं कृष्ण के साथ गोपियों का तो उल्लेख है किन्तु उसमें राधा को प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी। कृष्ण और राधा की अभिन्नता का प्रतिपादन मध्यकाल में पुष्टिमार्गीय, हरिदासी, गौड़ीय, राधावल्लभीय आदि सम्प्रदायों ने किया था; किन्तु तुलसी उनसे प्रभावित नहीं हुए हैं। राधा के समाविष्ट न होने के सम्बन्ध में यह तर्क रखा जा सकता है कि यह उनका स्फुट काव्य है; किन्तु जब उस काव्य में गोपियाँ हैं और कृष्ण की लीलाएँ हैं तब उन स्थितियों में तो राधा का छूट सकना कठिन था। इससे उपर्युक्त तर्क लचर है। वस्तुतः इस सम्बन्ध में यह कहना ही संगत है कि उन्होंने अपनी इस रचना के लिए भागवत के शास्त्रीय स्वरूप को ही ग्रहण किया था, जिसमें कृष्ण के साथ राधा की मान्यता नहीं है।

(३) 'श्री कृष्णगीतावली' और 'गीतावली' में उनके अन्य काव्यों की अपेक्षा

वात्सल्य का अधिक वर्णन है।

(४) गीतावली का 'उत्तरकाण्ड' अन्य राम-काव्यों की तुलना में परिवर्तित है। इसमें राम के जीवन का माधुर्य पक्ष समाविष्ट है, जो उनके अनन्तर राम की माधुर्योपासना का उपजीव्य बना।

(५) 'श्री कृष्णगीतावली' और 'गीतावली' दोनों काव्यों में कृष्ण और राम लीलाओं के स्थान की ओर ही इनका सदैव ध्यान रहा है। इससे इन दोनों काव्यों में अपने चरित-नायकों की अधिकाधिक घटनाओं को उन्होंने अपना वर्ण्य विषय बनाया है। तुलसी का लोकादर्श सूर तथा अन्य कृष्ण भक्त कवियों के समान आराध्य के माधुर्य भाव पर आश्रित न होकर उनके चरित्रों के आचरण पर टिका है।

(६) विनयपत्रिका के प्रारम्भिक ६१ पदों में संस्कृत की स्तोत्र-पद्धति का अनुकरण विद्यमान है।

(७) 'विनयपत्रिका' में कथा-तत्व के अभाव में भी तुलसी के आत्म निवेदन में भक्त की आत्मकथा का प्रस्फुटन हो उठा है। फलस्वरूप उनका व्यवितत्व भक्तों के जीवन के प्रतीक के रूप में उसमें अभिव्यक्त है।

(८) तुलसी की भक्ति-भावना और अनन्यता का जैसा सटीक रूप और आदर्श 'विनयपत्रिका' में व्यक्त हुआ है वैसा न 'रामचरित मानस' में और न हिन्दी की किसी अन्य रचना में।

उपर्युक्त तुलसी-काव्य की सामान्य और उनके पद-साहित्य की विशेषताओं से आलोच्य विषय पर प्रकाश तो पड़ता है; किन्तु हिन्दी के अवशिष्ट पद-साहित्य के मध्य में रख कर भी उस पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि उसी के आधार पर उसके व्यापकत्व, मार्मिकता और प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकेगा।

तुलसी-पद-साहित्य के निर्माण से पूर्व और पश्चात् उस शैली में पर्याप्त रचनाएँ हुई हैं। ज्ञानाश्रयी शाखा, राम भक्ति-शाखा और कृष्णावत सम्प्रदायों के अन्तर्गत पद साहित्य उपलब्ध है। आधुनिक काल में भारतेन्दु ने भी पद-रचना की है, किन्तु उनके पुष्टिमार्गीय होने के कारण वह उसी में समाहित है। भारतेन्दु-युग के अनन्तर मुक्तक गीतों की रचना प्रारम्भ हुई जो आज तक विद्यमान है। उन्हें पद की संज्ञा तो नहीं दी जा सकती; किन्तु गेय तत्त्वों की प्रमुखता के कारण उनमें पद-स्वरूप सुरक्षित है। इससे एक प्रकार से उन्हें भी पद-परम्परा में लिया जा सकता है। अब इस इङ्गित के साथ तुलसी-पद-साहित्य का विवेचन समीचीन है।

कबीर की ज्ञानाश्रयी शाखा सिद्ध और नाथ सम्प्रदायों की अद्वैत-भावना, रामानन्दी भक्ति और इस्लामी तथा सूफी मत की एकेश्वरवादी विचारणा और प्रेम-तत्व आदि तीन विविध भूमियों के समन्वित रूप पर प्रतिष्ठित हैं। उनमें मानवोचित आचरण और अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन है, जो साम्प्रदायिक सीमाओं में अछूता है। हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों को एक ब्रह्म के अन्तर्गत-संगठित और एकत्र कर देने में उनका

उद्देश्य असन्दिग्ध रूप से महत्तम था; किन्तु उन्हें अपेक्षित सफलता न मिली।

उपर्युक्त तत्वों को लेकर कबीर ने नैतिक और सैद्धान्तिक पदों का सृजन किया है। जिनमें लोकादर्शों और जीवन की विविध परिस्थितियों के अनुकूल व्यवहारों के आदर्शों का पूर्ण अभाव है। उनके नैतिक आचरणों के सन्देशों के अतिरिक्त अवशिष्ट आदर्श केवल सन्तों को ही उपयोगी हैं, सभी को नहीं। इसके विपरीत तुलसी के गीत-काव्य के राम और कृष्ण दोनों ही अवतार अपनी-अपनी लीलाओं के माध्यम से अपनी शक्ति-शील सौन्दर्य की मनोरम झाँकियों से जन-जीवन को आश्वस्त किए हैं। उनके आचरणों से समाज को व्यावहारिकता, कर्तव्यशीलता और मर्यादा का आदर्श मिला है। इस तथ्य से कबीर के ब्रह्म की अपेक्षा तुलसी के राम और कृष्ण जन जीवन के अधिक समीप हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त कबीर की सधुक्कड़ी भाषा शैली और डाँट फटकार की प्रवृत्ति तुलसी की संयत और संस्कृत भाषा शैली तथा शृङ्खलाबद्ध भावनाओं के समक्ष बड़ी लचर और दुर्बल है। ऐसी शैली सामयिक सुधार भले ही करले किन्तु सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। उपर्युक्त तथ्यों से सामाजिक हित-चिन्तन और लोक-रंजन में कबीर के पदों की अपेक्षा तुलसी के पद जन-समाज के अधिक समीप हैं। जीवन में ज्ञान और वैराग्य की जागृति के लिए भले ही कबीर के पदों का समाज में गान हो; किन्तु जीवन की स्थिरता, कर्त्तव्यशीलता, मर्यादा और भक्ति के लिए तुलसी के पदों की ही आवश्यकता है। जीवन में पलायन की अपेक्षा उसकी परिस्थितियों का साक्षात्कार अधिक महत्वपूर्ण है। तुलसी के पद इसी उद्देश्य की पूर्ति में निमग्न हैं। इससे वे समाज को अधिक प्रिय और हितकर हैं।

सन्तमत के अन्तर्गत सिक्ख गुरुओं, शेख फरीद, दादू आदि सन्त भक्तों के पद प्राप्त हैं। जिनमें कोमल, मधुर और सात्विक भावनाएँ भरी हुई हैं। कबीर के पदों के समान उनमें भी अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन है, जिससे उनमें लोकादर्शों का भाव उपलब्ध नहीं है। फलतः समाज के लिए वे अव्यावहारिक हैं। उनमें चिन्तन तो है रंजन नहीं। फलतः कबीर के समान अन्य सन्त कवियों की पदावलियाँ भी तुलसी की पद-प्रतिष्ठा को प्राप्त न कर सकीं।

पुष्टिमार्गीय, राधावल्लभीय, गौड़ीय, हरिदासी आदि सभी कृष्णावत सम्प्रदाय में अवतारी कृष्ण आराध्य हैं। कृष्ण-भक्ति के उपजीव्य भागवत में कृष्ण के साथ राधा के साहचर्य की मान्यता न होने पर भी उपर्युक्त सम्प्रदायों ने उन्हें कृष्ण से अभिन्न कहा और अपने मत के पोषण के लिए उनके आचार्यों ने वैसे सिद्धान्त भी निर्मित कर दिए। फलतः कृष्ण और राधा की माधुर्योपासना का सूत्रपात हो उठा, जो आज भी समग्र देश में प्रतिष्ठित है। पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में भक्त के लिए कृष्ण की लीलाओं के माधुर्य में निमग्न रहने का सिद्धान्त है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में राधाकृष्ण की युगलोपासना की व्यवस्था होने पर भी राधा की प्रमुखता है और सम्प्रदाय में उनकी संयोग की लीलाओं की ही मान्यता है वियोग की नहीं। गौड़ीय सम्प्रदाय में माधुर्य

भाव की प्रतिष्ठा है श्रौर हरिदासी सम्प्रदाय में सखी-भाव की उपासना है। इस प्रकार सभी में माधुर्यभाव की ही प्रधानता है।

माधुर्योपासना की प्रमुखता के कारण इन सम्प्रदायों के अन्तर्गत सहृदय भक्त कवियों ने कृष्ण-राधा की युवावस्था के रंगीले स्थल को ही अपनी पदावलियों का विषय बनाया है। सूरदास ने अवश्य कृष्ण के वात्सल्य को प्रमुखता दी है; किन्तु राधा श्रौर गोपियों के समावेश से प्रेम की नोंक-झोंक को वहाँ वह भी नहीं बचा सके हैं। इस तथ्य से यह स्वतः स्पष्ट है कि भक्त कवियों द्वारा कृष्ण के एकांगी जीवन का ही प्रस्फुटन हो सका है समग्र जीवन का नहीं। इससे इन सम्प्रदायों में आचार्य शुक्ल के अनुसार 'सूरसागर श्रौर कृष्ण भक्त कवियों की पदावली' में 'आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष' ही उपलब्ध है। इसके विपरीत तुलसी-साहित्य में आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष सन्निहित है, जिसमें उनके आराध्य जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का साक्षात्कार कर जन-जीवन के लिए व्यावहारिक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार तुलसी पद-साहित्य में राम के कर्मण्य जीवन के कारण कृष्णावत सम्प्रदायों के कृष्ण पद-साहित्य की अपेक्षा अधिक शिव-तत्व है।

उपर्युक्त सभी सम्प्रदायों में भावनाओं की मार्मिकता श्रौर सङ्गीतात्मकता के दृष्टिकोण से महाकवि सूरदास का कृतित्व ही सर्वोच्च है। इन विशिष्ट गुणों के कारण केवल वही तुलसी के समक्ष स्थिर हो सकते हैं अन्य नहीं। इससे उनकी तुलना कर लेना भी किसी अंश तक आवश्यक है।

सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' में विनय के पद तथा भागवत के आधार पर सभी अवतारों के चरित्र चित्रित हैं। कृष्ण के आराध्य होने के कारण उनकी आत्मा उनका चरित प्रस्तुत करने में विशेषरूपेण निमग्न हुई है। उक्त चरित में भी उनकी दृष्टि उनके बाल श्रौर युवा जीवन पर ही अधिक टिकी है। अन्य स्थलों को उन्होंने यों ही चलता कर दिया है, जो पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय का स्पष्ट प्रभाव है। जहाँ तक माधुर्य भाव के प्रतिपादन श्रौर बाल तथा युवा जीवन के मनोरम चित्रणों का प्रश्न है हिन्दी का कोई भी काव्य सूरसागर के समक्ष स्थिर नहीं हो सकता। सूरसागर इस सम्बन्ध में बेजोड़ है। तुलसी की गीतावली श्रौर श्री कृष्णगीतावली में वात्सल्य श्रौर माधुर्यभाव के पद सन्निविष्ट हैं; किन्तु उनमें सूरसागर के तत्सम्बन्धी स्थलों के समान सजीवता, गेयता श्रौर माधुर्य नहीं है। अब रहा सूरसागर के विनय सम्बन्धी पदों का प्रश्न। उनको लेकर सूर तुलसी की 'विनयपात्रिका' के समक्ष अवश्य स्थिर नहीं हो सकते सूर ही क्या हिन्दी का कोई भी कवि विनय की भावना में तुलसी से आगे नहीं जा सका है। यह सत्य है कि सूर भी अपने विनय के पदों में दास्यासक्ति को लेकर चले हैं; किन्तु उनमें तुलसी जैसा आत्म-समर्पण नहीं है। आराध्य के महत्व के साथ तुलसी का दैन्य जिस रूप से चित्रित है, सूर के पदों में उसका अभाव है।

तुलसी के सम्पूर्ण साहित्य के समक्ष सूर के 'सूरसागर' को न रखकर यदि गीता-

वली के सामने ही रखकर—विचार करें तो राम के जावन की समग्रता के समक्ष सूर के कृष्ण पृष्ठभूमि में जा पड़ेंगे; शक्ति-शील-सौन्दर्य से युक्त गीतावली के राम का लोक-रक्षण मर्यादा-पालन, जीवन की विविध परिस्थितियों में ग्रादर्श ग्राचरण के समक्ष कृष्ण का माधुर्य भाव फीका ग्रौर ग्रनुपयोगी लगेगा, तुलसी के लोकादर्श के समक्ष सूर काव्य का ग्रादर्श गौण लगेगा। इन विशेषताग्रों में तुलसी सूर से कहीं ग्रागे हैं; किन्तु जहाँ गेयता ग्रौर मार्मिक भाव-व्यंजना की बात है, सूर का पद तुलसी से कहीं उच्च है। सूर के पदों का सा सरस प्रवाह ग्रौर मर्मस्पर्शिता तुलसी के पदों में नहीं है। वे प्रायः उनकी गम्भीर भाव-व्यंजना ग्रौर परितिष्ठित भाषा-शैली के कारण बोझिल हो गए हैं।

तुलसी के ग्रनन्तर भी रामावत सम्प्रदाय में पद-साहित्य की रचना हुई है; किन्तु उसमें सम्प्रदायगत दास्य भाव, मर्यादा-तत्व, कर्त्तव्यनिष्ठा ग्रादि न होकर उसके पोषकों की दृष्टि कृष्णावत सम्प्रदायों के समान केवल माधुर्यभाव तक ही समिति रह गई है। फलत ग्राराध्य के समग्र जीवन का समावेश न हो सकने के कारण राम-सीता के जीवन से विलास ग्रौर ग्रानन्द के तत्व ही प्रस्फुटित हो सके हैं व्यावहारिक ग्रादर्श नहीं। जब से रामचरणदास ने दाम्पत्य भाव में प्रेरित हो 'स्वसुखी' ग्रौर सखी भाव प्रेरित हो जीवाराम ने 'तत्सुखी' नाम की शाखाएँ प्रवर्तित की हैं तब से तो सम्प्रदाय में जीवन-व्यापिनि भावनाग्रों के लिए कोई ग्रवकाश ही नहीं रह गया। तुलसी के ग्रनन्तर सम्प्रदाय की भावनाग्रों का यह ग्रामूल परिवर्तन ग्राश्चर्य में डाल देता है। उनकी परम्पराग्रों को ग्रग्रसर करने में कोई भी भक्त समर्थ न हो सका। फलतः सम्प्रदाय के इस नवीन उन्मेष के ग्रन्तर्गत रची हुई पदावलियाँ तुलसी के पद-गाम्भीर्य के समक्ष स्थिर नहीं हो पाती हैं।

ग्राधुनिक युग की परिस्थितियाँ 'मध्यकाल' की गतिविधियों से पर्याप्त भिन्न हैं। इसे पाश्चात्य ने काफी प्रभावित किया है, जिससे पश्चिमीय ग्राचार-विचार हमारे समाज ग्रौर साहित्य में सन्निविष्ट हो उठे हैं। इस सम्बन्ध की स्पष्ट प्रतिक्रिया 'भारतेन्दु युग' से साहित्य क्षेत्र में प्रतिफलित हुई, 'द्विवेदी युग' में पुष्ट हुई ग्रौर 'छायावादी युग' में तो साकार ही होगई। वैयक्तिकता इसकी विशिष्ट प्रवृत्ति थी, जिससे इस युग का गीतिकार मूर्त्त के स्थान पर ग्रमूर्त्त का, समष्टि के स्थान पर व्यष्टि का ग्रौर प्रस्तुत के स्थान पर ग्रप्रस्तुत का उपासक बन गया। इससे इस युग के काव्य में धर्म, समाज ग्रादि संस्थाग्रों के लिए शिव-तत्व के प्रस्फुटन का ग्रवकाश ही नहीं रह गया, जिससे कवि की ग्रात्म-लिप्सा इन सभी को पृष्ठभूमि में कर ग्रपने प्रदर्शन के लिए ग्रग्रसर हो उठी है।

छायावादी युग में मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, प्रसाद, पन्त, निराला महादेवी ग्रादि के प्रगीत मुक्तक ग्रधिकाधिक संख्या में प्रकाश में ग्राए हैं। वैयक्तिक तत्वों के प्रकाश के कारण इनमें व्यक्त ग्रात्माभिव्यंजन बहुत ही एकांगी ग्रौर एकदेशीय है। इसके प्रभाव से 'साकेत' ग्रौर 'कामायनी' भी उन्मुक्त नहीं है। उनमें उर्मिला ग्रौर

मनु अपनी-अपनी समस्याओं में ही डूबते-उतराते हैं। फलतः तुलसी के काव्य जैसा जीवन का उच्च और व्यापक आदर्श उनमें नहीं है।

छायावादी काव्य की प्रतिक्रिया दो विभागों में प्रस्फुटित हुई—प्रथम में साम्यवादी जीवन-दर्शन का बाहुल्य रहा, जो अपने उद्देश्य में पूर्णतः सामाजिक और राजनीतिक है। ऐसे काव्य को 'प्रगतिवादी' कहा गया। द्वितीय में साहित्यिक स्वरूप की मान्यता रही, जो काव्य की परम्परागत वस्तु और शैली के स्थान पर नवीन प्रयोग करने के उद्देश्य से अग्रसर हुई। उसे 'प्रयोगवादी' कहा गया। समष्टिवादी तत्वों के कारण ये काव्य जन-जीवन के अधिक समीप अवश्य आगए; किन्तु उनके मूल में प्रचार और विज्ञापन की विदेशी भावनाएँ ही रही हैं, फलतः भारतीय जीवन को सुस्थिर रखने की पुष्ट नींव उनमें नहीं है।

प्रगतिवादी काव्य का निश्चित स्वरूप है; किन्तु प्रयोगवादी काव्य की सीमाएँ और क्षेत्र तो आज तक अनिश्चित हैं। वह क्षणिक आवेश और वैचित्र्य की अनुभूति प्रदान करके रह जाता है। परम्परागत रूढियों के विरोधी होने के कारण उनमें मुक्तक छन्द का अधिकाधिक ग्रहण हो उठा है। फलतः छायावादी काव्य की अपेक्षा इनमें प्रगीत मुक्तक का प्रयोग बहुत न्यून रह गया है। उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि ये दोनों काव्य पद्धतियाँ हमारे जीवन के मेल में नहीं हैं, फलतः इन काव्यों में जीवन के लिये कोई व्यापक सन्देश नहीं है। इससे तुलसी के चिरन्तन आदर्शों के समक्ष उनकी भावधारा बहुत गौण और निम्न है।

सामान्यतः हिन्दी के सम्पूर्ण गीति-काव्य को तुलसी-गीति-काव्य के समक्ष रख कर हमने विचार किया है। उसके विशेष आदर्शों और काव्यात्मक विशेषताओं के कारण हिन्दी में किसी भी कवि का गेय काव्य उसकी तुलना में नहीं आता है। आदर्श और उद्देश्य के सम्बन्ध में सूर भी तुलसी से पिछड़े हैं, किन्तु उनके गीति काव्य की मार्मिक भावनाएँ और गेयता आदि ही कुछ ऐसे तत्व है, जिनमें वह तुलसी से आगे हैं। फलतः इस तथ्य के बल पर ही सूर का पद तुलसी के समक्ष अक्षुण्ण है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि बड़ी पैनी और सक्रिय रही है। तत्कालीन लड़खड़ाते हुए भारतीय समाज को उन्होंने अन्य शैलियों के काव्यों के समान अपनी पद-शैली के काव्यों से भी आश्वस्त किया है, जिससे हमारी संस्कृति और लोकादर्श आज भी अभिप्रेरित हैं। राम की रूपरेखा उन्हें अवश्य विशिष्टाद्वैती सम्प्रदाय से मिली थी; किन्तु कवि सुलभ भावनाओं के रंगों का भरना उनकी अपनी प्रतिभा, विद्वता और अध्ययन की मौलिकता थी। सच तो यह है कि उन्होंने हमारे धर्म, समाज और साहित्य को इतना दिया है कि जीवन की किसी स्थिति में हम उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को विस्मृत नहीं कर सकते। हम कृतार्थ हैं, जो गोस्वामी तुलसीदास जैसे महाकवि और महाभक्त ने हमारे देश में जन्म लेकर हमें आभारी बनाया।

परिशिष्ट--१

सहायक ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ

१. अपभ्रंश साहित्य—डा० हरवंश कोछड़
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त
३. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी
४. कबीर की विचारधारा—डा० गोविन्द त्रिगुणायत
५. कबीर : एक विवेचन—डा० सरनामसिंह शर्मा
६. कबीर ग्रन्थावली—डा० श्यामसुन्दरदास
७. काव्यादर्श—दण्डी (चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी)
८. कृष्णगीतावली—तुलसीदास
९. कवितावली—तुलसीदास
१०. कविप्रिया—केशवदास
११. गाथा सप्तशती—निर्णयसागर प्रेस बम्बई
१२. गोरखबानी—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
१३. गीतगोविन्द—जयदेव
१४. गीतावली—तुलसीदास
१५. गोस्वामी तुलसीदास—डा० श्यामसुन्दरदास
१६. ढोला मारु राह दूहा—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
१७. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त
१८. तुलसी-दर्शन-मीमांसा—डा० उदयभानुसिंह
१९. तुलसी दर्शन—डा० बलदेवप्रसाद मिश्र
२०. तुलसीदास—रामचन्द्र शुक्ल
२१. तुलसी और उसका साहित्य—डा० विमलकुमार जैन
२२. तुलसी और उसका युग—डा० राजपति दीक्षित
२३. थेर गाथा
२४. थेरी गाथा
२५. धरती गाती है—देवेन्द्र सत्यार्थी

२६. पालि-साहित्य का इतिहास—भरतसिंह उपाध्याय
२७. पालि-साहित्य और समीक्षा – डा० सरनामसिंह शर्मा
२८. नाथ-सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२९. बीसलदेव रासो – नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
३०. बंगला और उसका साहित्य—हंसकुमार तिवारी
३१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी – डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
३२. भारतीय संगीत का इतिहास—उमेश जोशी
३३. भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास—डा० देवराज
३४. मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृत और तुलसीदास—डा० रामरतन भटनागर
३५. मध्यकालीन प्रेम साधना—परशुराम चतुर्वेदी
३६. मीरा वृहद् पद-संग्रह—पद्मावती शबनम
३७. राग तरंगिणी—मैथिल कवि लोचन (दरभंग राज प्रेस)
३८. रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना—भुवनेश्वर मिश्र
३९. रामचरितमानस—तुलसीदास
४०. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डा० भगवतीसिंह
४१. विनयपत्रिका—तुलसीदास
४२. विनयपत्रिका-समीक्षा—दानबहादुर पाठक
४३. विद्यापति गीत-संग्रह—डा० सुभद्र झा
४४. वेदार्थ संग्रह—रामानुजाचार्य
४५. साहित्य दर्पण—विश्वनाथ
४६. सान्ध्य गीत—महादेवी वर्मा
४७. साहित्य शास्त्र—डा० रामकुमार वर्मा
४८. सन्देश रासक—सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४९. सन्त सुधासार—वियोगी हरि
५०. संगीत रत्नाकर— शार्ङ्गदेव (The Adyar Library Series)
५१. संगीत दर्पणम्—दामोदर
५२. संगीत शास्त्र—वासुदेव शास्त्री
५३. सूरसागर—सं० नन्ददुलारे बाजपेयी
५४. संगीताञ्जलि भाग ३—ओम्कारनाथ ठाकुर
५५. हिन्दी भाषा—डा० श्यामसुन्दरदास
५६. हिन्दी भाषा का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा
५७. हिन्दी साहित्य कोष—डा० धीरेन्द्र वर्मा
५८. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा
९. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल

६०. हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृतायन

६१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा

६२. हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

पत्र-पत्रिकाएँ

१. नागरी प्रचारणी पत्रिका—वाराणसी।

२. सरस्वती-संवाद—आगरा।

३. समालोचक—आगरा।

४. आलोचना—दिल्ली।

५. हरिदास अंक—संगीत कार्यालय, हाथरस।

६. सम्मेलन पत्रिका—प्रयाग।

७. साहित्य सन्देश—आगरा।

८. कल्याण—गोरखपुर।

अंग्रेजी

1. Encyclopaedia Britannica Eleventh Edition Vol. VII
2. The New Popular Encyclopaedia Vol. VIII
3. Golden Treasury—F. T. Palgrave.
4. A Sanskrit English Dictionery—Monier Williams.
5. Ballads—M. J. C. Hodgart.
6. The Origin & Development of the Bengali Lang uage – Dr. S. K. Chatterjee.
7. Indian Theatre—Dr. Chander Bhan Gupta.
8. A short Historical Survey of the Music of upper India – Bhatkhande.
9. Ragas and Raginis – G. C. Gangoly.
10. Treatise of Hindustan—Captain Willard.
11. Andecdotes of Indian Music—Sir W. Csle.
12. The Music of India—H. A. Popley.
13. Northern Indian Music – Alain Danielou.
14. Theory of Indian Music—R. B. BishanSwroop.

परिशिष्ट—२

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
४	१३	परितिष्ठित	परिनिष्ठित
५	२१	आथर्ववेद	अथर्ववेद
७	३	प्राकृति	प्राकृत
७	१४	मगधी	मागधी
८	८	लोट	लोक
८	२६	छेवसूत्त	छेयसूत्त
८	२७	मूलसूत्र	मूलसूत्त
९	३	कथकोश	कथाकोश
९	६	शाणा	शाखा
९	८	शात्तिनाथस्तवन	शान्तिनाथ स्तवन
९	१७	गडडवहां	गौडवहो
९	२८	मात्रा	गाथा
१०	७	ब्राचड	ब्राचड़
१०	२०	लुईया	लुईपा
१०	२१	डोम्बिया	डोम्बिपा
११	२८	तक्ष्यो	तथ्यों
१२	६	जिसका	जिसकी
१२	२३	गनसिजाविशिखपयादिव	मनसिजविशिखमयादिव
१२	२७	सुखाव	सुखाय
१३	६	कालन्त	कृतान्त
१३	८	का	की
१५	४	झमखण्सदिसा	भमखण्णसदिसा
१५	१५	थी	थीं
१६	२	उद्यानी	उद्योगी
१६	८	पदि	पहि
१६	१४	अगारस्यो	अगारस्मा
१६	१६	नेवेमं	नेंव मं
१६	२६	पलेहिनि	पलेहिति
१६	३४	वाले	काले
१७	१	मानते	भागते
१८	ः	लय	नाम
१८	१७	दुर्ल्लंघनीय	दुर्ल्लंघनीय
१९	३०	ससूग्रा	सरूग्रा
२०	१	तुमाए	सामोए
२०	७	संजमिज्जत्ति	संजमिज्जन्ति
२०	२४	गड्डवहो	गौडवहो
२९	१८	पुत्रिहि	पुन्निहि
२९	२८	भान	गान

३०	१७	अरधोई	अइधोई
३४	२८	मान	गान
३५	३	मौलिट	मौखिक
३५	१६	कवि	श्री
३६	२४	अक्षुण्य	अक्षुण्ण
३६	९	लाना	लगा
३९	२	भरथरी गाथाएँ	भरथरी की गाथाएँ
३९	२६	पर्वताय	पर्वतीय
४१	२९	thay	They
४३	१४	ऐयन	ऐपन
४४	५	बघाव	बधावा
४४	२३	बारीक	बरीवा
४५	१४	कन्हहि	कन्हाई
४५	१९	डाढ़ी	ठाड़ी
४६	११	पैंजरियाँ	पैंजनियाँ
४६	२२	चोर मिनरुखा	भोरभिनसरवा
४७	२७	भइया	मइया
४९	१५	तियरओ	तिरयओ
५२	२९	itiverent	Itinerent
५४	१८	गेयकुरूमार रास	गयसुकुमार रास
५६	११	weaving	Meaning
५७	४	एतिहासिक	ऐतिहासिक
५७	१६	देवी	दैवी
५८	२१	विमरयेन	विभागेन
५८	२३	विमुक्तिदम्	विभुक्तिकम्
५८	३०	तद्द्वयानुगतं	तद्द्वयानुगतं
५९	११	दुख	मुख
५९	१६	नदिन	नादेन
५९	२१	दवाणनलं	दकारमनलं
५९	२३	विंवक्षमाणेऽयं	विवक्षमाणोऽयं
६०	१५	षहज	षडज
६१	९	ओउव	ओडव
६१	१०	षाउअ	षाडव
६२	८	कौशिका	कौशिकी
६२	१३	वेलावती	वेलावली
६२	१७	पंचयो	पंचमो
६२	१८	ईशानाख्यान्पेद्यरागो	ईशानाख्यान्मेधरागो
६२	२७	पंचमंगना	पंचमागना
६३	१५	सम्मेलन	समझ लेना
६४	१३	सहजभावी	सहजयानी
६५	२०	मान	गान
६६	२४	स्वर ही कथा	एक ही कथन
७०	४	तेत्तरीय	तेत्तिरीय
७०	११	निष्यात	निष्णात

७०	२८	भरतखण्डे	भातखण्डे
७२	५	समुम्दवा:	समुद्भवा:
७२	२१	उपांकानि	उपांगानि
७२	२२	ऋकीर्य	प्रकीर्ण
७२	२७	धातबाऽङ्कानि	धातवोऽङ्गानि
७३	६३	वरास्त्रीपः	वरस्त्रियः
७३	३२	रागिया	रागिनी
७६	३४	स्वरसता	सस्वरता
७८	२७	भी	जी
७९	१४	साई	माई
७९	१७	वैंम	वैंस
८०	४	रमिक	रसिक
८०	१६	साधना	साधन
८३	३३	संगीत	इङ्गित
८६	६	प्रमुखतः	प्रमुखता
८६	१०	मल	मूल
१	२०	अविधमाद्वैत	अविभागाद्वैत
९२	१	मोह्यत्यसौ	मोहयत्यसौ
९२	२४	परवर्ती	भटकती
९३	२२	जय	जम
९४	१४	भावना	मानव
९५	१४	असम्बद्ध	सम्बद्ध
९६	३३	को	की
९९	५	सम	सभ
९९	१८	मानी	सानी
९९	२९	विमुक्त	वियुक्त
१०६	२५	दवाव	रबाव
१०८	३	हररिस	हरि रस
१०८	१८	अंकों	अंगो
१११	१७	राम	राग
१११	२०	महात्म्य	माहात्म्य
१११	२३	अमया	अगमा
१११	२४	समि	सभि
११२	६	परिआ	भरिआ
११२	२०	का	की
११२	ः०	और विषय बड़ा	और विरह का विषय बड़ी
११४	३०	चिदचिद्वस्तुतो	चिदचिद्वस्तुनो
११५	२०	लय	नाम
११५	२२	तदश	तदंश
११६	२०	आध्यात्मक	आध्यात्मिक
११६	२१	विधचिर	विधचिद
११९	५	प्रकार हैं	प्रकार के हैं
११९	६	अभियान	अभिमान
१२०	१	चरण	चरम

१२०	१७	की	ही
१२०	३०	विष्णु रूपजगत्पत्र प्रपावित्र धीशाः	विष्णुरूपा जगत्पवित्र प्रपवित्रधीशाः
१२१	१६	तातैं कछू	तातैं ना कछू
१२२	७	रामानन्द	रामानन्दी
१२४	१५	सम्मोहित	सम्पोषित
१२५	७	आश्चर्य	आदर्श
१२५	१३	प्रमुर	प्रभुर
१२५	३०	रचनैराचार्य्यवर्धन	रचनैराचार्य्यगोवर्धन
१२६	२४	जहते	जयते
१२६	३२	जयदेव पंडितक्वेः	जयदेव पंडित कवेः
१२८	१०	माघवि	माधवि
१२८	१४	जयवेव	जयदेव
१२८	२३	श्रवणमपिधाति	श्रवणमपिदधाति
१३०	१३ एवं १४	मेल	भेल
१३२	१२	उत्पेक्षा	उत्प्रक्षा
१३२	३२	कर	भर
१३४	९	मय	भय
१३४	२९.	मंहि	माहिं
१३५	१०	हाँ	हौं
१३७	५	उसि	डसि
१४०	१०	को	के
१४१	९	जिप	जिय
१४१	३१	कल्पना	कल्याण
१४२	२०	क्रिया होने में	किए
१४३	३१	पटक्यो	ठठक्यो
१४८	६	सलय	सलभ
१४९	२७	उरात	डरात
१४९	३१	मेरी	मेरे
१५४	२२	बूढां	बूठां
१५८	११	संख्या	संवत्
१६३	१३	मान्यौ	भान्यौ
१६४	१७	धरीन	धुरीन
१६७	१२	दूसरी विधि	दूसरी न विधि
१६७	२८	अब	अंब
१७३	६	संब	संग
१७५	३२	उपयुक्तं	उपयुक्त
१७७	१७	नई	मई
१८०	४	कहलाती	कहती
१८१	१९	राथी	राजी
१८१	२०	भी	या
१८२	२	जावन्त	जीवन्त
१८३	१५	तसरुह	तनरुह
१८३	३४	अनन्द	आनन्द

१८४	२१	आतृप्त	अतृप्त
१८५	२५	सदस	सदन
१८५	३१	पति	मति
१८५	३२	पहिराह	पहिराइ
१८६	६	धाए	छाए
१८६	१७	अनहरति	अनुहरति
१८६	२८	अंक	अंग
१८७	६	सन्दर	सुन्दर
१८८	२५	तारिका	लरिका
१९१	२९	पद	पर
१९३	७	मान	गान
१९३	३३	घोलिन्ह	झोलिन्ह
१९४	३२	परिहेर	परिहरे
१९५	१४	पुरुष	परुष
१९५	२९	कारण	करुण
१९६	१९	भात	जात
१९७	९	आधार	आभार
१९७	१८	को	के
१९८	७	के	वे
१९८	२५	भी	या
१.९	१३	उपेक्षा	अपेक्षा
१९९	१६	सका	सकी
१९९	२१	संकोच	संकेत
२००	४	घटनाएं	घटनाओं के
२००	५	हुई हैं	हुए हैं
२००	५	गई हैं	गए हैं
२०१	३	भ्रम	श्रम
२०१	२७	अभिय	अमिय
२०३	३	चाराई	चोराई
२०३	८	त्रिभुणित	द्विगुणित
२०३	१४	सार	सर
२०३	२०	मुनिवर करि	मुनिपट कटि
२०३	२२	फरे	फर
२०३	३४	प्रवाश	प्रवास
२०४	११	भक्त	मख
२०४	१९	टगौरी	ठगौरी
२०६	३०	कीन	कौन
२०७	९	होउँ प्यारे	होउँ मेरे प्यारे
२१०	१८	लाल	लता
२१२	२	पछ	पछु
२१२	३१	सीताविधि	सीलाविधि
२१६	८	उठा बड़ा	उठी बड़ी
२१७	२	विनोद	विभेद
२१८	२३	खीझ	खीझे

२१९	१३	आसका	आसकी
२१९	२२	रामानुजी	रागानुगा
२२२	१४	लगैं	लरौं
२२२	१५	निदशै	निदरौं
२२३	२७	औरे	और
२२६	२१	जलदादतनु	जलदाभतनु
२३१	१०	विशिष्टाद्वैती	विशिष्टाद्वैत
२३१	३०	मारे	मोरे
२३३	११	सिद्ध	सिक्त
२३४	२९	सहचारियों	सहचरियों
२३८	३१	भखतो	भावतो
२४०	१७	सीखना	सीतारवन
२४४	९	हास्स	हास्य
२४४	२१	छवत	छुवत
२४६	२७	भरान्यो	परान्यो
२४९	८	लग	ताग
२४९	११	वख	चरन
२५१	२१	जान	जन
२५१	२५	धाइ	अघाई
२५५	१७	ali	all
२५६	१०	शुभपुन्तुवरालो	शुभपन्तुवराली
२५६	२०	घाट	थाट
२५६	२५	सम्मिश्रण	समिश्रण
२५८	१	संगीग	संगीत
२५९	२	उपर्युक्त	उपयुक्त
२६०	४	व्रव	व्रज
२६०	८	उहकत	डहकत
२६४	२	पोल्लास	पोसात
२६४	५	रूण	रूख
२६४	८	कलाई	कलई
२६५	२९	भक्ति	पंक्ति
२६६	२६	बिछरू	विछुरन
२६८	९	अंभोसूह	अभोरुह
२६९	८	उरनि	डरनि
२७०	१६	समस्थ	समरथ
२७०	२९	सिहारे	सिहोरे
२७४	४	इसा	इसी
२७५	२३	भरर्ताण्व	भरतार्णव
२७५	३१	ग्यध्यायौ	ग्मध्यायो
२७६	६	का	की
२७६	३३	vaga	Raga
२७७	२८	पदकलियों	पदावलियों
२८२	२९	कुण्डिल	कुण्डल
२८७	२१	प्रकति	प्रकृति

२८८	२२	यात्रछर्गा	यावछुर्गा
२८८	२४	प्रातगयस्तु	प्रातर्गेयस्तु
२८५	२४	पटसंजरी	पटमंजरी
२८९	४	हरिशय की सन्देश	हरिशयनी
		आषाढ़ दुहत तक का	एकादशी तक
२९०	१३	राम काल	राग काल
२९०	१४	In bia	Indian
२९१	२३	राम	राग
२९२	४	सहार	सप्तक
२९२	१४	स्वरांश्चैव	स्वरांश्चैव
२९२	२९	वीरेद्भुते	वीरेद्भुते
२९३	२१	वृषभधिरूढ़	वृषभाधिरूढ़
२९४	२३	iu	in
२९४	२३	Rasag	Rasas
२९४	२६	Anudhaves	Anbhavas
२९४	२६	Btaua,	Bhava
,,	२६	Santiment	Sentiment
२९४	२८	Aurblaves	Anubhavas
२९४	२९	Henee	Hence
२९४	२९	VecaSssitn	necessity
२९५	२२	आधार	आभार
१९७	१४,१९	पडमचरिउ	पउमचरिउ
२९७	२८	धर्मापदो	चर्यापदों
२९८	३	भुजंगप्रपात	भुजंगप्रयात
२९८	९	विविभ	विविध
३०१	६	अध्यन	अध्ययन
३०१	१०	क्वचिदयतो	क्वचिदन्यतो
३०२	१७	सम्वोधित	सम्बन्धित
३०५	९	बधिनी	वधिनी
३०६	१७	कबहुँ	कवहुँ
३१२	१३	चले	वाले
३१४	९	उनमें	उनसे
३१५	१३	उपयीग	उपभोग
३१५	१४	एकांकी	एकांगी
३१५	२२	रामाष्टयाप	रामाष्टयाम
३१५	२९	यौर	गौर
३१६	१९	राम	रास
३१७	४,६	द्विया	प्रिया

३१७	२६	राम	राग
३१७	२७	पुरषोत्तम	पुरुषोत्तम
३१८	१	सचत	रूचत
३१८	३	युगले	युगल
३२०	६	सदन	रुदन
३२०	३२	हगम्बु	दृगम्बु
३२०	३४	आत्मज	आत्मजे
३२१	२९	को भी···को भी	सहन किया है।
३२२	१	फलों	फूलों
३२३	२	भेरे	भेंट
३२३	३१	का	की
३२४	१८	निसद्ध	निरुद्ध
३२४	२५	उसि	उसी
३२४	२६,२७	कि	की
२२४	२८	उठता	उठना
३२४	२९	भि	भी
३२४	३५	विलोप	विलोम
२२६	१	आर	और
३२६	२१	बाँफिन्हि	बाँभिन्हि
३२६	२४,२७	भोर	सोर
३२७	१	न	म
३२७	१	कौसिल्य	कौसिल्या
३२७	२६	यह	पह
३२९	१६	चडकिया	चउकिया
३३३	२९	रसायन	रमायन
३३९	८	परितिष्ठित	परिनिष्ठित
,,	१४	भाव में	भाव से
,,	१६	जीवन व्यापि	जीवन-व्यापिनी

परिशिष्ट—१

१	१६	ढोलामारू राह दूहा	ढोला मारू रा दूहा
२	३७	दरभंग	दरभंगा
३	६	प्रषाग	प्रयाग
४	११	Csle	Osle

हमारे साहित्यिक प्रकाशन